भूमिका

संवत् १९८१ में जिस उद्देश्य को सामने रख
गया था वही उद्देश्य 'भाषा-रहस्य' का भी है। भाषा-रहस्य उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है। यह ग्रंथ उस विशाल शास्त्र की भूमिका है। इसमें भाषा-शास्त्र के प्रधान प्रधान सभी सामान्य प्रकरणों का इस प्रकार विवेचन किया गया है जिसमें विद्यार्थी शास्त्र में दीक्षित होकर अन्य आकर-ग्रंथों को पढ़ सके। इसमें इस बात पर भी ध्यान रखा गया है कि विषय भारतीय विद्यार्थी की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। अँगरेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं में अनेक प्रामाणिक सुंदर ग्रंथ हैं पर उनमें ग्रीक, लैटिन, अँगरेजी, फ्रेंच आदि योरोपीय भाषाओं के ही अधिक उदाहरण रहने से वे भारतीय भाषाओं के विद्यार्थी के लिए बड़े कठिन और नीरस हो जाते हैं। इस बात का अनुभव करके उदाहरण यथासंभव संस्कृत, प्राकृत, हिंदी आदि से ही लिये गये हैं। इस प्रकार यह ग्रंथ विशेषकर संस्कृत और हिंदी के विद्यार्थी के लिए, और सामान्यतः भारतीय आर्य-भाषाओं के किसी भी विद्यार्थी के लिए, लिखा गया है।

विद्यार्थी ही हमारी दृष्टि में रहे हैं अतः पहले हम उन्हीं से कुछ कहेंगे। यह शास्त्रीय विषय है अतः प्रत्येक विद्यार्थी को शुद्धि-पत्र और परिशिष्टों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। 'न' के समान एक अक्षर अथवा शब्द के भी घट-बढ़ जाने से पूरे वाक्य का अर्थ उलट जाता है। कहीं कहीं एक मात्रा अथवा स्वर की अशुद्धि से भी अर्थ का अनर्थ हो जाता है अतः अशुद्धियों को पहले ठीक करके तब ग्रंथ पढ़ना प्रारंभ करना चाहिए। शुद्धि-पत्र के अतिरिक्त भी अशुद्धियाँ अवश्य रह गई होंगी। उनसे भी बचने का यत्न करना चाहिए। यह तीन प्रकार से हो सकता है—शंका होने पर गुरुमुख से पूछकर, जिन उपजीव्य ग्रंथों का पाद-टिप्पणियों में निर्देश किया गया है उनसे मिलाकर और प्रसंगानुसार पूर्वापर-संबंध देखकर। तीसरी विधि विशेष ध्यान देने योग्य है। इसी ग्रंथ में पृ० २३७ पर चित्र सं० ५ में ओं के स्थान में आँ छप गया है। वही ओं चित्र सं० ४ में और पृ० २५१ के वर्णन में ठीक छपा है, अतः इन दोनों प्रसंगों को देखने से तुरंत ही यह अशुद्धि ध्यान में आ सकती है। यद्यपि ऐसी अशुद्धियों को दूर करने का बड़ा यत्न किया गया है तथापि उनका रह जाना भी कोई असंभव बात नहीं है। अतः विद्यार्थियों से शास्त्रीय ग्रंथों के पढ़ने में पूर्ण सतर्कता सर्वदा अपेक्षित होती है

शुद्धि-पत्र के अनंतर परिशिष्टों पर ध्यान देना चाहिए। पारिभाषिक शब्द-संग्रह पर ध्यान न रखने से बड़ा भ्रम हो सकता है। एक ही शब्द का कई अर्थों में व्यवहार होता है; अतः उसका जो अर्थ इस ग्रंथ में प्रसंगानुसार गृहीत हुआ है वही अर्थ यहाँ मान्य होना चाहिए। इसी संबंध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अँगरेजी, जर्मन आदि में भी एक ही शब्द का भिन्न भिन्न लेखक भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं; अतः इस ग्रंथ में दी हुई शब्दावली से विभेद देखने पर चौंकना न चाहिए। पारिभाषिक शब्दों का भी अर्थ बदला करता है। ऐसे संदेह के स्थलों में इस ग्रंथ में दिये हुए विवेचन तथा पाद-टिप्पणियों के निर्देशों को देखकर संगत अर्थ समझ लेना चाहिए। इस ग्रंथ में सामान्यतया ब्रुगमान की "कं० ग्रा० आफ दी इंडो-जर्मेनिक लैंग्वेजेज" तथा पॉल के आधार पर लिखी हुई एडमंड्स की "कंपेरेटिव फाइलॉलोजी" के शब्दों को ही प्रधानता दी गई है। विशेष ग्रंथों के नाम पाद-टिप्पणी में दे दिये गये हैं।

कुछ उदाहरण देकर इस बात को और स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। संस्कृत व्याकरण में 'लौकिक व्युत्पत्ति' शब्द का व्यवहार अर्थानुसारी व्युत्पत्ति के अर्थ में होता है, पर इस ग्रंथ में लौकिक व्युत्पत्ति का प्रयोग अधिक स्थानों में मनचाही भ्रामक व्युत्पत्ति (Popular Etymology) के अर्थ में हुआ है। ऐसे स्थल में किसी संस्कृतज्ञ विद्यार्थी को भ्रम न होना चाहिए। इसी प्रकार संवृत को हमने अँगरेजी close का प्रतिशब्द माना है पर पाणिनीय व्याकरण में 'संवृत अ' कहने से एक विशेष अर्थ निकलता है। अतः सर्वत्र संवृत का close अर्थ ही लेना चाहिए; केवल "संस्कृत व्याकरण में स्थान-प्रयत्न-विवेक" वाले प्रकरण में संवृत का विशेष अर्थ लेना चाहिए। ऐसे ही विवादास्पद शब्द काकल, आगम, स्वर-भक्ति, श्रुति, प्राण, बल आदि हैं। पहले काकल से कंठपिटक (Larynx) और उसके भीतर के अवकाश (glottis) दोनों का बोध होता था। पर इस ग्रंथ में स्पष्टता और सुविधा के विचार से काकल से एक ही अर्थ का बोध किया गया है। इससे भी बड़ी कठिनाई यह है कि कई विद्वान् काकल से दूसरे शरीरावयव का अर्थ लेने लगे हैं पर हमें उनके विशेष अर्थों से कोई प्रयोजन नहीं। इसी प्रकार कुछ लेखक आगम, श्रुति और प्राण को क्रमशः augment, syllable और breath का पर्याय मानते हैं पर हमने उनका दूसरे अर्थों में प्रयोग किया है (यथा development, glide और aspirate); इसी प्रकार स्वर-भक्ति और युक्त-विकर्ष (विश्लेष) के प्रयोग में भी मतभेद पाया जाता है। हमने स्वर-भक्ति से a vowel-part का अर्थ लिया है पर ब्रुगमान द्वारा वर्णित Anaptyxis के अर्थ में भी उसका प्रयोग हो सकता है।

इन सब शब्दों के अर्थों में भ्रम न हो इसी लिए अंत में शब्दावली जोड़ दी गई है।

तीसरी बात लिपि के संबंध में है। परिशिष्ट में प्राचीन और नवीन दोनों ही परिपाटियों का परिचय दे दिया गया है जिससे विद्यार्थी उद्धृत शब्दों को तथा निर्दिष्ट ग्रंथों को पढ़ सकें। यद्यपि अब प्रयोग करने के लिए विद्वानों की सम्मति है कि ग्रीक, अवेस्ता आदि सभी के लिए चाहे एक ही रोमन-लिपि का अथवा एक ही परिवर्द्धित नागरी लिपि का व्यवहार करना चाहिए। पर विद्यार्थी को परिचय तो दोनों का ही होना चाहिए। इसके बिना तो वह ग्रंथों को पढ़ भी नहीं सकेगा।

विद्यार्थियों से हमने कहा है कि वे हंस के समान गुण का ग्रहण करके अपना काम देखें, पर मर्मज्ञों से—इस विषय के जानकारों से—हमारी यह प्रार्थना है कि वे दोषों को सुझाने का यत्न करें। विद्यार्थियों की हित-कामना से वे इस ग्रंथ की 'दुरुक्त' और 'अनुक्त' बातों की मीमांसा करें। जो बातें ठीक नहीं बन पड़ीं अथवा जो विषय इसमें छूट गये हैं उनकी वे सत्समालोचना करें। उनकी इस कृपा से न केवल विद्यार्थियों का ही लाभ होगा प्रत्युत भविष्य में इस ग्रंथ का भी उचित संस्कार हो सकेगा। 'संस्कृत में स्थान-प्रयत्न-विवेक' (३३१), अपश्रुति (३३७), माहेश्वर-सूत्रों का अर्थ (२८९), 'वैदिक संस्कृत में ह्रस्व ए' तथा प्राण, बल आदि अत्यंत प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिन पर विद्वानों को अवश्य ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो पारिभाषिक शब्द इसमें प्रयुक्त हुए हैं उन पर भी विचार किया जाना चाहिए।

इस ग्रंथ का विस्तार तो कल्पना से भी आगे बढ़ गया है। पहले हमने कोई तीन सौ पृष्ठ का ग्रंथ लिखने का विचार किया था पर अब तो यह प्रथम भाग ही उससे कहीं बड़ा हो गया है; और ऐसा अनुमान होता है कि इतने ही बड़े दो भाग और होंगे। इस प्रथम भाग में ध्वनि और ध्वनि-विकारों के वर्णन के साथ ही शास्त्र का सामान्य परिचय भी दे दिया गया है। दूसरे भाग में रूप-विचार, अर्थ-विचार, वाक्य-विचार आदि का विवेचन रहेगा।

अंत में जिन ग्रंथों, लेखकों तथा सहयोगियों से हमने सहायता ली है उनके हम हृदय से आभारी हैं। उनका परिगणन हम कहाँ तक करें। यह तो मधु-संग्रह है। मधुकोष सामने रख देना मात्र हमारा काम था।

काशी
विजयादशमी
१९९२

लेखक

विषय-सूची

पहला प्रकरण

[पृ० १–४२]

दूसरा प्रकरण

[पृ० ४३–७७]

तीसरा प्रकरण

१९३९·

[पृ० ७८–१०२]

चौथा प्रकरण

[पृ० १०३–१५६]

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१७	ही	सभी पक्षों से
४	७	वृद्धि	बुद्धि
५	४	अथवा भाषा	अथवा सामान्य भाषा
,,	११	पूर्वरूपों	कारणों
,,	पाद० (१)	स्पशाह्निक	पस्पशाह्निक
७	२४	होता	होती
१०	मार्जिनल नोट	सहित्य	साहित्य
११	३	हिंदी के	हिंदी की
३६	१६	के ऐं द्र...थे	की बड़ी उन्नति हो चुकी थी।
३८	६	सर्वचारणानां	सर्वचरणानां
४३	१२	उसकी	भाषाविज्ञान की
,,	पाद०२	Vendrys	Vendryes
४४	११	मनोविकारों	मनोभावों
४६	१०	भाषा चलती	भाषा, चलती
५०	२१	विभाषा	भाषा
५५	५	अर्थात्	।
,,	६	प्राप्त...लक्षण	प्राप्त नहीं होती और न वह एक जाति का लक्षण
,,	१०	जो भाषा उसकी माता	जो भाषा माता
,,	१८	भाषा को भी	भाषा भी
६६	१४	m$\eta\gamma$vυ_μi	pegnumi
६७	३-४	व्यथमाना... ......हिलती हुई पृथिवी	व्यथमाना पृथ्वी का अर्थ होता था काँपती और हिलती हुई पृथिवी;
८६	पाद० (४)	त्त	वृत्त
९०	७	सेविस्दि०	सेविश्-दि०
१०४	६	अध्ययन न करने	अध्ययन करने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	पाद० (२)	भ्रम	श्रम
१०५	वृत्त में	दक्षिण अमेरिका	उत्तर अमेरिका
,,	,,	उत्तर अमेरिका	दक्षिण अमेरिका
,,	,,	ग्रीनलड	ग्रीनलैंड
११०	वृत्त में	द्रविण	द्रविड़
१११	२४	जल्दी घोड़ा,	जल्दी = घोड़ा;
११६	१४-१५	वात स्वरानुरूपता में देख	वात देख
,,	१७	स्वरानुरूपता	अपश्रुति
,,	२०	एकता	एकता न
१२०	६	इंडो-कैल्टिक सांस्कृतिक	इंडो-कैल्टिक, संस्कृतिक
१२१	१४	अकतोम्	इकतोम्
,,	,,	є	є''
१२४	६	लगा थी	लगी थी
१४१	११	परिवार की...मानी जाती	परिवार के अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते
,,	२६	अस्ति	सं० वाले 'कालम' में होना चाहिए
१४२	६	ई मेः	ईमेः
१५१	पाद० (१)	A. C. Tucker	F. G. Tucker
१५२	२४	Zānuū	Zānū
१५७	११	ह	h
,,	१२	ngh ँ ङु पाया	ngh पाया
१६१	६	ख्येर	ख्मेर
१६३	२३	आर्किपे ेगो	आर्कीपेलिगो
१६४	११	कंबुज	कंबोज
१८८	पाद० (१)	पार्सीवान्	पार्सीवान
२३७	चित्र सं० ५ में	४ ऑ	४ ऑ
२४१	पाद० (१)	अनुनासिक	अननुनासिक
२४३	१०	ΑλΚμη'νη	Alkme'ne
२४५	पाद० (१)	Sonnenchein	Sonnenschein
२४७	१३	बल अथवा स्वराघात कहते	बल कहते
,,	१६	बल अथवा स्वराघात में	बल में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५१	२०	अर्धविवृत	अर्धसंवृत
२५३	१६	के ˘ सो	के˘सो
२६८	१	इ̯	इ̑
२७०	१८	KlKεpωV	kikeron
,,	१६	eπ lσKOπ os	Epiokopos
२७३	२	u	ū
,,	८	ṃ, ṇ, ṛ, ḷ	m̥, n̥, r̥, l̥
२७५	११	ṛ	r̥
२७६	पाद० (१)	इळो···मीढ्वान्	ईळे और ईड्य; मीळहुषे और मीड्वान्
२८०	पाद० (१)	Uhlenbecks's	Uhlenbeck's
२८८	पाद० (१)	31	131
२६५	पाद० (१)	Beame's	Beames'
२६६	पाद० (१)	Aphærasis	Aphæresis
,,	,,	Apacope	Apocope
२६८	१८	जैसे······आदि।	जैसे—बली > बइलि > बइल, बइल्ल, बइल्लु > बेल, बैल इत्यादि। बल्ली (लता) > बइल्लि > बइल > बेल > बेली, बेला आदि। पर्व > पउरु > पउर > पोर।
२६६	३	अंत्य स्वरागम	(६) अंत्य स्वरागम
३००	१६, २२	विवृति	विवृत्ति
३०१	१	,,	,,
,,	पाद० (२)	तुल्यास्य प्रयत्नं	तुल्यास्यप्रयत्नं
३०४	मार्जिनल नोट	उत्पत्ति	व्युत्पत्ति
३२०	११	(ρ)	;
,,	१३	ω-δ ovτoS	ग्री० 'odo'ntos
,,	१५	ταγu'-γλωσσοs,	ग्री० tanu
,,	१६	τεροoμαi, τэροαiγω,	ग्री० te'rsomai, tersai'no
३२२	६	χηυ	xēn (खेन)
,,	११	χθεδ	xthes

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२२	११	लै० herī, hesī	लै० herī, hesī
,,	१२	ग्री० θυγατων	ग्री० Thuga'ter
२२३	,,	ग्री० σ-φρυs,	ग्री० 'ophru's
२२५		χιγχαγω	xigχanō
,,	,,	κιγχανω	tuphlos
२३०	६	γe	te
,,	१५	Iheros	theros
२३२	पाद० (१)	अ० अ०	अ अ
२३७	१५	π ειθω	Pei'thō
,,	,,	π ε π οιθα	Pe'poitha
,,	,,	ε π ιθοΥ	e''pithon
,,	१५-२०	and	और
२३८	१८	प्रवृत्ति	प्रकृति
,,	२१	ए	ग्र
२३९	१०	Pei'tho	Pei'thō
,,	,,	e'pithom	e''pithon
,,	१७	कारण-स्वर-संचार	स्वर-संचार कारण होता है
,,	२१	o	ō
२४०	१७,१६,२१	।	'
२४१	१४-१५	इर, ईर, उर, ऊर	इर्, ईर्, उर्, ऊर्,
२५२	पाद० (१)	Ganes	Jones
२६६	१७	वाह्य	वाह्य
२७०	१५	वरूप्य	वैरूप्य
२७५	१४	उष्मीकरण	ऊष्मीकरण
२८०	१०	Palatisation	Palatalisation
२८२	२८	वर्त्स्य-वर्त्स्य	वर्त्स्य, वर्त्स्य
२८७	१०	अपांशु	उपांशु
२९०	२२	Bulletine	Bulletin

पहला भाग

भाषा-रहस्य
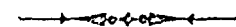
पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

यद्यपि भाषा-विज्ञान अर्थात् भाषा का वैज्ञानिक अनुशीलन भारतवर्ष के लिए कोई नई बात नहीं है तथापि उस शास्त्र का वर्तमान रूप उन्नीसवीं शताब्दी के योरपीय विद्वानों के अध्ययन और अनुशीलन का फल है। हिंदी, मराठी, बँगला आदि देश-भाषाओं में भाषा-विज्ञान का यही वर्तमान रूप गृहीत हुआ है। भाषा-विज्ञान 'नाम' भी इसी बात का परिचायक है। वह Science of Language का अनुवाद मात्र है। अत: इस शास्त्र में प्रयुक्त संज्ञाओं और परिभाषाओं को सावधानी से समझना पड़ता है; उनमें संस्कृत और हिंदी के सामान्य अथवा विशेष अर्थों को ढूँढ़ना भ्रामक होगा। आजकल की हिन्दी में भी शब्दों का दो अर्थों में प्रयोग होता देख पड़ता है। एक अँगरेज़ी का विद्यार्थी उसी शब्द में एक अँगरेज़ी के प्रतिशब्द का भाव भरना चाहता है और एक दूसरा संस्कृतज्ञ विद्वान् उसी शब्द से संस्कृत में प्रचलित अर्थ का बोध कराता है। ऐसी स्थिति में भाषा-रहस्य के जिज्ञासु को प्रयोक्ता के अभिप्रेत अर्थ को समझने के लिए सदा सतर्क रहना चाहिए।

जिस प्रकार कार्यों को देखना और उनकी परीक्षा करके नियम-उपनियम बनाने का यत्न करना विज्ञान का काम है, उसी

प्रकार वर्णागम, वर्ण-लोप, वर्ण-विपर्यय, अर्थ-विकार आदि भाषा के कार्यों का निरीक्षण करना और उन्हीं के आधार पर सामान्य नियमों की रचना करना भाषा-विज्ञान का काम है। किसी भाषा में विकार अथवा परिवर्तन क्यों होता है? कैसे एक भाषा काल पाकर अनेक भाषाओं अथवा विभाषाओं का रूप धारण कर लेती है? कैसे किन्हीं दो अथवा अधिक भाषाओं को देखकर यह निश्चय किया जाता है कि वे एक ही परिवार की हैं अथवा कैसे उनकी मूल भाषा का पता लगाया जा सकता है? संज्ञा, क्रिया आदि शब्द-भेदों की उत्पत्ति कैसे होती है? विभक्तियों का विकास कैसे होता है? एक ही शब्द देश-काल के भेद से अर्थ को क्यों और कैसे खो बैठता है? इन तथा ऐसे ही अन्य कुतूहलपूर्ण प्रश्नों का उत्तर भाषा-विज्ञान देता है। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।

परिभाषा

इस प्रकार आधुनिक परिभाषा के अनुसार भाषा-विज्ञान का क्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण हो जाता है। जीवित, मृत, साहित्यिक, असाहित्यिक, संस्कृत, प्राकृत, शुद्ध, अशुद्ध, लिखित, अलिखित—मानवीय भाषा के सभी रूप उसकी पर्यालोचना के अंतर्गत आ जाते हैं। साहित्य-सम्पन्न भाषाएँ, नित्य-प्रति व्यवहार में आनेवाली बोलियाँ, शिलालेखों अथवा ग्रंथों में सुरक्षित प्राचीन भाषाएँ सभी इस शास्त्र की सामग्री हो जाती हैं। बड़े से बड़े कवि और नेता की वाणी की अपेक्षा एक अपढ़ गँवार की बोली यहाँ कम उपादेय नहीं समझी जाती। इसका क्षेत्र देश, काल अथवा जाति से सीमित नहीं रहता। समस्त संसार की, सब कालों की और सब जातियों की भाषाएँ तथा बोलियाँ इस शास्त्र की पर्यालोचना में आती हैं। जीवित और मृत भाषाओं की तो बात ही क्या है,

विषय

काल्पनिक[1] मूल भाषाओं तक का विचार इस विज्ञान में होता है। कहीं भी, कभी भी जो शब्द मानव मुख से निकल पड़ता है, उसकी परीक्षा से लाभ उठाना भाषा-विज्ञान अपना कर्तव्य समझता है।

ऐसी स्थिति में विषय की सीमा निर्धारित करने में भ्रम हो जाना स्वाभाविक हो सकता है। भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त साहित्य और व्याकरण का भी भाषा से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। भाषा-विज्ञान इन दोनों से अमूल्य सहायता लेता है। साहित्य के अध्ययन से ही वह शब्दों के रूप और अर्थ दोनों के इतिहास का परिचय पाता है और व्याकरण के आधार पर तो अपनी पूरी भित्ति ही उठाता है; पर भाषा-विज्ञान का क्षेत्र इन दोनों से भिन्न रहता है। साहित्य का संबंध भाषा में निहित भावों और विचारों से रहता है, और व्याकरण भाषा की शुद्धि तथा अशुद्धि का विचार करता है। भाषा जैसी है उसका ज्ञान व्याकरण कराता है। वह एक कला है जिसका लक्ष्य "वाग्योग"[2] अर्थात् इष्ट प्रयोग का ज्ञान होता है। इसी लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर व्याकरण भाषा का अनुशीलन करता है, पर भाषा-विज्ञान भाषा का स्त्री अध्ययन करता है। जो भाषा उसके सामने है वह ऐसी क्यों है, उसे यह रूप कैसे मिला है, वह इसी का विचार करता है। भाषा का वर्तमान रूप क्या है यह वैयाकरण बतलाता है, उसका भाव क्या है यह साहित्यिक सिखाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक एक पग आगे बढ़कर भाव के साधन की मीमांसा करता है। "वह भाषा के आभ्यंतर जीवन का सूत्र खोजने, उसकी उत्पत्ति

(१) हिंदी, बँगला, मराठी आदि जीवित भाषाएँ हैं। संस्कृत, पाली, प्राकृत, लैटिन, ग्रीक, ज़ेंद आदि मृत भाषाएँ हैं। आजकल के भाषा-शास्त्रियों ने एक मूल भाषा की कल्पना की है जिससे समस्त आर्य परिवार की भाषाएँ निकली हैं। उस काल्पनिक भारोपीय भाषा का भी इस विज्ञान में विवेचन होता है।

(२) वाग्योगविद् (पतंजलि का महाभाष्य)।

कुछ सामान्य लक्षणों और नियमों का निर्माण हो सके। लक्ष्य और लक्षणों के सुव्यवस्थित वर्णन का ही नाम व्याकरण[1] है। पर व्याख्यात्मक व्याकरण इस वर्णनात्मक व्याकरण का भाष्य करता है। वह ऐतिहासिक, तुलनात्मक अथवा भाषा मात्र की—अर्थात् सभी भाषाओं की, किसी एक भाषा की नहीं—प्रवृत्ति संबंधी खोजों द्वारा व्याकरण की साधारण बातों की व्याख्या करता है। जो है वह ऐसा क्यों है अथवा कैसे हुआ, इन प्रश्नों का वह उत्तर देता है। इसी से व्याख्यात्मक व्याकरण के तीन अंग माने जाते हैं—ऐतिहासिक व्याकरण, तुलनात्मक व्याकरण और सामान्य व्याकरण। ऐतिहासिक व्याकरण भाषा के कार्यों को समझाने के लिए उसी भाषा में तथा उसकी पूर्ववर्ती भाषा में उनके पूर्वरूपों को ढूँढ़ने की चेष्टा करता है; तुलनात्मक व्याकरण उन कार्यों की व्याख्या करने के लिए उस भाषा की सजातीय भाषाओं और उसकी पूर्वज भाषा की सजातीय भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा करता है; पर सामान्य व्याकरण (अथवा दार्शनिक व्याकरण) किसी एक भाषा, किसी एक भाषा-गोष्ठी अथवा किसी एक भाषा-परिवार की विस्तृत व्याख्या नहीं करता; वह सभी भाषाओं के मौलिक सिद्धांतों और सामान्य तथा व्यापक तत्त्वों की मीमांसा करता है। कुछ उदाहरणों द्वारा व्याकरण के इन चारों भेदों का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा।

(क) वर्णनात्मक व्याकरण का कहना है कि "धातु के अंत में 'आ' जोड़ने से भूतकालिक[2] कृदंत बनता है। यदि धातु के अंत में आ, ए अथवा ओ हो तो धातु के अंत में य कर देते हैं", जैसे—

कहना—कहा	लाना—लाया
मरना—मरा	बोना—बोया

(१) लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्—महाभाष्य (स्पशाह्निक)

(२) हिंदी-व्याकरण (गुरु) पृ० २७०-२७१ ।

पर 'करना' से 'किया' और 'जाना' से 'गया' आदि इस नियम के अपवाद हैं। ऐतिहासिक व्याकरण हमें यह समझाता है कि 'किया' और 'गया' हिंदी की 'कर' और 'जा' धातु से नहीं बने हैं; वे संस्कृत के 'कृतः' और 'गतः' अथवा प्राकृत के 'कओ' और 'गओ' तथा अपभ्रंश के 'किय', 'गया', 'गवा' आदि से बने हैं और हिंदी में 'कर' और 'जा' धातुओं से नियमानुसार 'करा' और 'जाया' ही बनते हैं। 'करा' का प्रयोग प्रांतीय बोली में और 'जाया' का संयुक्त क्रियाओं में मिलता है। इस प्रकार के भाष्य से भाषा का ज्ञान और भी मँज जाता है।

(ख) वर्णनात्मक व्याकरण में लिखा रहता है कि 'होना' के दो अर्थ[1] होते हैं—स्थिति और विकार। विकारार्थक 'होना' क्रिया से 'है'[2] और 'था' आदि रूप बनते हैं पर गुजराती, मराठी, बँगला आदि हिंदी की सजातीय भाषाओं के 'छे' (अथवा 'से'), 'आहेत', 'अहै', 'आछे' आदि रूपों की तुलना से यह पता लगता है कि 'है', 'अस्', अथवा 'अज़्' जैसे किसी दूसरे मूल से उत्पन्न हुआ है और 'होना' क्रिया संस्कृत की 'भू' क्रिया से संबद्ध है। हिंदी जिस भारतीय आर्य भाषा-गोष्ठी की भाषा है उसकी तथा अन्य सजातीय ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि की तुलना से भी यही ठीक प्रतीत होता है। इसी प्रकार हिंदी में 'दम्पति' शब्द का प्रयोग सदा पुँल्लिंग बहुवचन में होता है। इसका भी कारण जानने के लिए ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत[3] में भी 'दम्पती' नित्य द्विवचन में आनेवाला और नियम-विरुद्ध बननेवाला समास माना

(१) हिंदी-व्याकरण (गुरु) पृ० २८० ।

(२) हिंदी भाषा और साहित्य में 'है' और 'था' की व्युत्पत्ति, पृ० १६१-६२ ।

(३) देखो—सिद्धांत-कौमुदी, द्वन्द्वप्रकरण में 'राजदन्तादिषु परं' की व्याख्या।

जाता है, पर थोड़ा और पीछे जाने पर वैदिक संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि की तुलना से उसकी व्युत्पत्ति निश्चित हो जाती है और यह पता लग जाता है कि उसका प्रयोग एकवचन[1] में भी होता था पर जबसे लोग 'दम्' का वास्तविक अर्थ (घर) भूलकर उसे जाया का आदेश समझने लगे, तब से दम्पती (अथवा हिंदी का 'दम्पति') पति-पत्नी के अर्थ में रूढ़ हो गया। इस प्रकार तुलनात्मक व्याख्या सब बातें स्पष्ट कर देती है। सच पूछा जाय तो तुलनात्मक खोज ऐतिहासिक व्याकरण को ही एक पग आगे बढ़ाती है।

(ग) अब सामान्य व्याकरण का काम देखें तो वह सभी भाषाओं में साधारणत: पाये जानेवाले नियमों और सिद्धांतों की खोज करने के लिए इतिहास और तुलना दोनों की ही सहायता लेता है। उदाहरणार्थ हिंदी के 'जाता हूँ', 'गया' आदि रूपों को अँगरेज़ी के 'go' और 'went', संस्कृत के 'ब्रूते' और 'आह' आदि रूपों से तुलना करके यह निश्चय किया जाता है कि क्रियाओं के रूप प्राय: स्थिर नहीं रहते। इसी तुलना के बल पर यह सामान्य सिद्धांत बना लिया गया है कि संख्या, संबंध और गृहस्थी के वाचक शब्द भाषा के अधिक स्थिर अंग होते हैं; इनका लोप प्राय: बहुत कम होता है। इसी प्रकार वर्णनात्मक व्याकरणों से भाषाओं के ध्वनि और रूप के विकारों को जानकर सामान्य व्याकरण एक व्यापक नियम बनाता है। भाषा में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और 'सादृश्य' (Analogy) आदि उसके नियम भी होते हैं; जैसे वर्णनात्मक व्याकरण कह देता है कि 'करिन्' की तृतीया 'करिणा' होती है और 'हरि' की तृतीया 'हरिणा'। ऐसा नियम-विरुद्ध रूप क्यों बनता है? सामान्य व्याकरण कहता है कि सादृश्य (अथवा मिथ्या सादृश्य)

(१) ऋग्वेद में 'दम्पति' गृहपति के अर्थ में आता है।

इसका कारण है। भाषा के विकास में 'सादृश्य' अथवा 'औपम्य' का बड़ा हाथ रहता है। इसी प्रकार संधि के नियमों का कारण सामान्य व्याकरण खोजता है। भाषा के कार्यों को व्यापक नियमों में बाँधने का प्रयत्न सामान्य व्याकरण करता है। अतएव सामान्य व्याकरण भाषा-विज्ञान का बड़ा विशिष्ट अंग हो जाता है। हम देखते हैं कि ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण एक भाषा के अथवा एक भाषा-गोष्ठी के कार्यों के उद्भव और विकास की यथासंभव ऐतिहासिक खोज करते हैं। भाषा मात्र से उसका क्या संबंध है, वे इसका विचार सामान्य व्याकरण के हाथ सौंप देते हैं। सामान्य व्याकरण सजातीय और विजातीय सभी भाषाओं की तुलना करता है और तब उनकी साधारण प्रवृत्ति की व्याख्या करता है। जैसे अँगरेज़ी और चीनी भाषा भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषाएँ हैं, पर उनमें शब्द-क्रम (word-order) के एक से नियम देख पड़ते हैं; इस अवस्था में शब्द-क्रम को भाषा की एक सामान्य प्रवृत्ति मानना पड़ता है।

तीनों प्रकार के व्याख्यात्मक व्याकरण वर्णनात्मक व्याकरण के आधार पर ही काम करते हैं, पर भाषा-विज्ञान ने व्याकरण की व्याख्या को अपने अंतर्गत कर लिया है, अतः भाषा-विज्ञान का भी प्रधान आधार वर्णनात्मक व्याकरण हो जाता है। इस प्रकार व्याकरण और भाषा-विज्ञान का संबंध सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। इतना घनिष्ट संबंध होने से एक का विषय दूसरे में आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण स्वभावतः एक काल की किसी एक भाषा से संबंध रखता है, पर भाषा-विज्ञान उससे अधिक व्यापक शास्त्र है, वह आवश्यकतानुसार एक भाषा के अतीत की आलोचना करता है, अनेक भाषाओं के साम्य और वैषम्य की परीक्षा करता है और सामान्य भाषा की प्रवृत्तियों की भी मीमांसा करता है, अर्थात् व्याकरण भाषा-विज्ञान का

एक सहायक मात्र है। भाषा-सामान्य को छोड़कर यदि एक भाषा का अनुशीलन किया जाय तो भी भाषा-वैज्ञानिक का कार्य अधिक व्यापक होगा। वह एक भाषा के व्याकरण की ही व्याख्या नहीं करेगा, प्रत्युत उसके कोष का भी अनुशीलन करेगा। व्याकरण नियम-उपनियम और अपवाद का सविस्तर विवेचन करता है, पर एक एक शब्द तक का भी इतिहास प्रस्तुत करना भाषा-विज्ञान का काम है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि व्याकरण वर्णन-प्रधान है। इससे व्याकरण और भाषा-विज्ञान में एक और बड़ा भेद हो जाता है। व्याकरण सिद्ध और निष्पन्न रूपों को लेकर अपना काम करता है। भाषा में जैसे प्रयोग मिलते हैं उनको लेकर वह उत्सर्ग और अपवाद की रचना करता है, पर भाषा-विज्ञान उनके कारणों की खोज करता है।

अतः विचार कर देखा जाय तो भाषा-विज्ञान व्याकरण का ही विकसित रूप है, व्याकरण का व्याकरण है। इसी से कुछ लोग उसे तुलनात्मक व्याकरण[1] अथवा ऐतिहासिक तुलनात्मक व्याकरण कहना भी समीचीन समझते हैं। यद्यपि भाषा-विज्ञान भाषा की ऐसी वैज्ञानिक और दार्शनिक व्याख्या करता है कि व्याकरण भी उससे लाभ उठावे तथापि उसकी नींव व्याकरण की ईंटों से ही भरी जाती है। व्याकरण और भाषा-विज्ञान में कभी कोई विरोध नहीं पड़ता, प्रत्युत दोनों में अंगांगि-भाव पाया जाता है। भाषा-विज्ञान अंगी है; निरुक्त, शिक्षा आदि अन्य अंगों की भाँति व्याकरण भी उसका एक अंग है, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि वह सर्वप्रधान और मूलभूत अंग है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि व्याकरण एक कला है; भाषा-विज्ञान विज्ञान है। व्याकरण का क्षेत्र संकीर्ण होता है; भाषा-विज्ञान का व्यापक। एक वर्णन-प्रधान होता है, दूसरा व्याख्या-प्रधान।

(१) देखो—इसी अध्याय में आगे।

व्याकरण केवल 'क्या' का उत्तर देता है; और भाषा-विज्ञान 'क्यों' और 'कैसे' की जिज्ञासा शांत करता है।

यद्यपि भाषा-विज्ञान को भाषा का स्वभाव और उसकी सहज प्रवृत्तियों को समझने में असभ्यों, अपढ़ गँवारों और ठेठ ग्रामीणों की बोलियों से अधिक सहायता मिलती है तथापि साहित्य-संपन्न भाषाएँ भी उसके लिए कम उपादेय नहीं होतीं। ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन तो साहित्यिक भाषाओं का ही हो सकता है। जो बोलियाँ साहित्यहीन हैं, जिनके अतीत का हमें ज्ञान नहीं है, उनके इतिहास की चर्चा ही क्या हो सकती है। आज दिन भाषा का जो तुलनात्मक अध्ययन समृद्धिशाली हो रहा है वह वास्तव में संस्कृत साहित्य का ही वरदान है। भाषा-विज्ञान का इतिहास पढ़ने से विदित होता है कि संस्कृत के ज्ञान ने इस विज्ञान के विकास में कैसा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। यद्यपि संस्कृत के व्याकरणों और प्रातिशाख्यों ने ही भाषा के अध्ययन में अधिक सहायता दी है तो भी यदि संस्कृत का यह विशाल वाङ्मय उपलब्ध न होता तो अनेक शब्दों के रूप और अर्थ का इतिहास जानना कठिन ही नहीं, असंभव हो जाता।

भाषा-विज्ञान और सहित्य

भाषा-विज्ञान की प्रारंभिक अवस्था में व्याकरण और कोष से ही काम चल जाता था पर अब वाक्य-विचार (Syntax) और अर्थातिशय (Semantics) का भी अध्ययन होने लगा है। इनका संबंध तो साहित्य से ही है। साहित्य भाव-प्रधान होता है, इसलिए शब्द के भावों और अर्थों का अध्ययन करना भी भाषा-विज्ञान का एक अंग हो गया है। इस दृष्टि से साहित्य भी भाषा-विज्ञान का उपकारक माना जाता है।

जिन प्राचीन भाषाओं का अध्ययन एक वैज्ञानिक करता है वे साहित्य के द्वारा रक्षित रहकर ही आज तक अमर हो सकी हैं। यदि वह किसी जीवित भाषा का अध्ययन करता है तो भी

उसके लिए उस जीवित भाषा की पूर्ववर्ती भाषाओं का साहित्य और व्याकरण पढ़ना अनिवार्य्य हो जाता है। जो विद्यार्थी हिंदी भाषा का विकास जानना चाहता है उसे हिंदी की पूर्वज अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं के साहित्य से परिचय प्राप्त करना पड़ता है। शब्दों की वैज्ञानिक व्युत्पत्ति, उनके भिन्न भिन्न अर्थ-परिवर्तन आदि का ज्ञान केवल व्याकरण से नहीं हो सकता। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आजकल भाषा-विज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं का पृथक् पृथक् अध्ययन होने लगा है और साहित्य का संबंध प्रत्येक शाखा से नहीं रहता।

भाषा-विज्ञान और अन्य शास्त्र

किसी भी शास्त्र का सांगोपांग अध्ययन करने के लिए अन्य शास्त्रों की सहायता भी अपेक्षित होती है। भाषा-विज्ञान से व्याकरण और साहित्य का संबंध हम देख चुके हैं। भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान, लिपि-विज्ञान, मानव-विज्ञान, पुरातत्त्व आदि भी उसी प्रकार भाषा के अनुशीलन में सहायक होते हैं। देश-भेद से अनेक ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है, अनेक नए शब्दों को भाषा-कोष में स्थान मिल जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत भाषा का 'ट वर्ग' आर्य्य परिवार की अन्य भाषाओं में क्यों नहीं मिलता? अथवा वैदिक 'ळ' का प्रयोग मराठी, उड़िया, राजस्थानी आदि में क्यों रह गया है, हिंदी आदि अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में क्यों नहीं है? ऐसे अनेक प्रश्नों का उत्तर भौगोलिक परिस्थिति ही दे सकती है। इसी प्रकार कालकृत विकारों का अर्थ इतिहास समझाया करता है। वैदिक भाषा से बिगड़ते बिगड़ते अथवा परिवर्तित होते होते प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी आदि अवस्थाओं को पार कर हिंदी का वर्तमान रूप ऐसा क्यों हो गया है? इसका उत्तर केवल ध्वनि-शास्त्र नहीं दे सकता। भाषा में भ्रष्टता विदेशी प्रभाव के कारण ही शीघ्र आती है। प्राकृतों के विकास में द्रविड़ों और अन्य वर्ग के आर्यों के प्रभाव ने बड़ा योग दिया था। अपभ्रंश को देशव्यापी

बनाने का प्रधान कारण आभीरों[1] का राजनीतिक प्रभुत्व था। पुरानी हिंदी में फारसी, अरबी आदि शब्दों का होना भी ऐतिहासिक कारण से स्पष्ट हो जाता है। आजकल की हिंदी में पुर्तगाली, फरासीसी, अँगरेजी आदि के शब्द ही नहीं आ गए हैं, प्रत्युत हिंदी के व्याकरण पर भी अँगरेजी के व्याकरण का प्रभाव पड़ा है। इन बातों को समझने के लिए इतिहास का ज्ञान परमावश्यक है। इतिहास की ही नाईं भाषा के भावात्मक अंग का अनुशीलन करने के लिए मनोविज्ञान की प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक ही यह समझा सकता है कि यद्यपि प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है पर शब्द-बोध वाक्य से ही होता है। अर्थातिशय (Semantics) के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विचार करना अनिवार्य्य हो जाता है।

भाषा-विज्ञान का बड़ा ही रोचक और साथ ही शिक्षाप्रद अंग है भाषामूलक प्राचीन शोध (Liuguistic Paleo-ontology)। इसके अध्ययन में लिपि-विज्ञान, मानव-विज्ञान, वंशान्वय-शास्त्र (Ethnology), पुरातत्त्व (Archæology) आदि अनेक शास्त्रों से सहायता लेनी पड़ती है। केवल भाषा-विज्ञान के आधार पर निश्चित की हुई बातें अपूर्ण सी रहती हैं। अंत में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन सब शास्त्रों से केवल भाषा-विज्ञान को सहायता नहीं पहुँचती, प्रत्युत् स्वयं भाषा-विज्ञान भी इन सब शास्त्रों की सहायता करता है।

भाषा-विज्ञान के अंग

ध्वनि-विचार, ध्वनि-शिक्षा, रूप-विचार, वाक्य-विचार, अर्थ-विचार और प्राचीन शोध (Paleo-ontology) भाषा-विज्ञान के प्रधान अंग हैं। ध्वनि-विचार अथवा ध्वनिविज्ञान के अंतर्गत ध्वनि के परिवर्तनों का तात्त्विक विवेचन तथा ध्वनि-विकारों का इतिहास आदि ध्वनि-संबंधी सभी बातें

(१) देखो Gune's Introduction to Bhavisayattakahā.

आ जाती हैं। पर ध्वनि-शिक्षा का संबंध साक्षात् ध्वनियों के उच्चारण और विवेचन से रहता है। पुराने भाषाशास्त्री ध्वनि का ऐतिहासिक तथा तात्त्विक विवेचन किया करते थे, पर आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्र की ओर अधिक ध्यान देते हैं। रूप-विचार, प्रकृति प्रत्यय आदि भाषा की रूपात्मक विवेचना करता है। इसका प्रधान आधार व्याकरण है। वाक्य-विचार भी व्याकरण से संबंध रखता है पर इसके ऐतिहासिक अध्ययन के लिए कई भाषाओं और साहित्यों का विशेष अभ्यास आवश्यक है, इसी से भाषा-विज्ञान का यह अंग अधिक उन्नत नहीं हो सका है। अर्थ-विचार के अंतर्गत दो बातें आती हैं—एक व्युत्पत्ति-विचार और दूसरा भाषा के बौद्ध नियमों की मीमांसा। आज व्युत्पत्ति-विचार अथवा निर्वचन एक शास्त्र बन गया है। ऐतिहासिक और ध्वनि-परिवर्त्तन-संबंधी विचारों ने उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया है। भाषा के बौद्ध नियमों का अनुशीलन भी अब एक सुंदर विषय बन गया है; किस प्रकार शब्द अर्थ को छोड़ता और अपनाता है और किस प्रकार अर्थ शब्द का त्याग और ग्रहण करता है तथा कैसे इन अर्थों में विस्तार या संकोच होता है—इन सब बातों का अब स्वतंत्र विवेचन होने लगा है। इसी विषय को कुछ लोग Semantics अर्थात् अर्थातिशय का नाम देते हैं। इस अर्थ-विचार अर्थात् व्युत्पत्ति-शास्त्र तथा अर्थातिशय के आधार पर भाषा द्वारा प्राचीन इतिहास और संस्कृति की कल्पना भी की जाती है। ऐसी भाषा-मूलक प्राचीन खोज (Linguistic Paleo-ontology) भाषा-विज्ञान का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग हो गई है। इन सब अंगों का विशेषज्ञों द्वारा पृथक् पृथक् अध्ययन किया जाता है पर शास्त्र के सामान्य परिचय के लिए इन सब का साधारण ज्ञान अनिवार्य है।

ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रक्रिया का प्रयोग भाषा-विज्ञान की विशेषता है। इसी से व्याख्या और व्युत्पत्ति वाला व्याकरण का प्रकरण इस शास्त्र के अंतर्भूत हो जाता है। भाषा के स्वरूप

और स्वभाव को समझने के लिए उसके इतिहास का जानना परमावश्यक है। एक शब्द की रचना और व्युत्पत्ति की समीक्षा करने के लिए भी उस शब्द के अतीत की खोज करना अनिवार्य है, अन्यथा अध्ययन वैज्ञानिक और लौकिक नहीं हो सकता। और इस ऐतिहासिक विधि को पूर्ण बनाने के लिए तुलना की रीति भी अपेक्षित होती है। भाषा-विषयक सामान्य सिद्धांतों का निर्णय करने के लिए तो भिन्न भिन्न परिवारों की भाषाओं की तुलना आवश्यक होती ही है, किंतु एक भाषा के और कभी कभी एक शब्द के विशेष ज्ञान के लिए भी तुलनात्मक व्याख्या का सहारा लेना पड़ता है। 'दंपति[1]', 'होरा[2]' के समान अज्ञात और अव्युत्पन्न शब्दों का अर्थ तुलनात्मक व्याख्या से ही स्पष्ट होता है। भाषा-विज्ञान के अन्य अंगों के अनुशीलन में भी इसी प्रकार इतिहास और तुलना का प्रयोग होता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान का, सच पूछा जाय तो, प्राण ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रक्रिया ही है।

भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया

भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में प्राचीन साहित्यों, शिलालेखों और साधारण इतिहासों से भी सहायता मिलती है। यदि किसी भाषा का इतिहास खोजना हो तो उस भाषा के भिन्न भिन्न कालों के प्राचीन लेखों की आपस में तुलना करके, फिर उस भाषा के वर्तमान रूप से तुलना करनी चाहिए। साथ ही उसके स्थानीय और प्रांतीय वर्तमान भेदों की तुलना करना भी आवश्यक होता है। इतना कर चुकने पर उस भाषा की तुलना अपने वर्ग की अन्य सजातीय भाषाओं से करनी चाहिए। अंत में यदि आवश्यक हो तो उस वर्ग के आगे बढ़कर उस परिवार के अन्य वर्गों की

(१) देखो—पृ० ६-७।

(२) यह शब्द ग्रीक भाषा से संस्कृत में आया है। अँगरेजी का hour भी इसी का तद्भव रूप है।

भाषाओं से भी उसकी तुलना करनी चाहिए। उदाहरण-स्वरूप हमें हिंदी भाषा का उद्भव और विकास अर्थात् इतिहास जानना है। पहले हम उपलब्ध पुरानी हिंदी और अपभ्रंश साहित्य के प्राचीन लेखों को आपस में तथा हिंदी के वर्तमान रूपों से मिलाकर साम्य और वैषम्य का विचार करेंगे। इतने से ही हिंदी के ध्वनियों, रूपों आदि पर बड़ा प्रकाश पड़ जाता है। तदनंतर हम उसकी भिन्न भिन्न वर्तमान बोलियों की तुलना करेंगे और अन्य समस्त स्थानीय तथा प्रांतीय भेदों की तुलना करके अपनी खोज में संशोधन और परिवर्धन करेंगे। अब तीसरा काम होगा इस भारतीय वर्ग की अन्य आर्य्य-भाषाओं अर्थात् मराठी, बँगला, गुजराती आदि से हिंदी की तुलना करना। इसी तुलना के आधार पर ग्रियर्सन[१] जैसे विद्वान् ने भारतीय आर्य्य-भाषाओं के अंतरंग और बहिरंग भेदों की कल्पना की है। और उसी तुलनात्मक प्रक्रिया द्वारा सुनीति[२] बाबू ने एक दूसरा ही निष्कर्ष निकाला है। इस प्रकार अपने वर्ग की अन्य भाषाओं से काम ले चुकने पर हमें वर्ग के आगे जाकर भारोपीय परिवार की ग्रीक, लैटिन आदि अन्यवर्गीय भाषाओं से भी उसकी तुलना करना आवश्यक होता है। तब कहीं हम हिंदी के इतिवृत्त की रूप-रेखा खींच पाते हैं। इस अनुशीलन को अधिक पूर्ण और व्यापक बनाने के लिए हमें हिंदी की अन्य परिवार की द्रविड़,[३] अरबी आदि, भाषाओं से भी तुलना करनी पड़ती है।

(१) देखो—ग्रियर्सन का लेख, पृ० ७८-८९ (Vol. I., No 3 of Bulletin of the School of Oriental Studies, London.)

(२) देखो—Appendix A of O. D. of the Bengali Language, by S. K. Chatterji., pp. 150-169.

(३) हिंदी वैदिक रूप-संपत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकी। इसका कारण उसका और उसके पूर्वजों का द्रविड़ संसर्ग ही है।

जिस प्रकार हम एक भाषा का इतिहास प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार हम एक भाषावर्ग और भाषा के अंतिम अवयव, एक शब्द, का भी वैज्ञानिक अनुशीलन करते हैं। भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण इसी रीति से किया जाता है और इसी प्रक्रिया के प्रसाद से विज्ञानवेत्ता दंपति, घर, माता, पिता, एक दो आदि हिंदी के शब्दों को भारोपीय मूलभाषा का वंशज सिद्ध कर सके हैं।

अब इस ऐतिहासिक अध्ययन की सहायिका जो तुलनात्मक प्रक्रिया है उसके भी विशेष नियमों को जानना आवश्यक होता है। भाषाओं की तुलना करने में व्याकरण और रचना की तुलना होनी चाहिए, केवल शब्दों की नहीं, क्योंकि भाषा का मुख्य आधार वाक्य होता है। इस तुलना में भी भाषाओं के सामान्य अंशों को लेना पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक भाषा में कुछ अपनी ऐसी विशेषताएँ रहती हैं जिन्हें दूसरी भाषाओं में ढूँढ़ना असंगत होगा। अतः जिन भाषाओं की तुलना की जाती है उनके स्वभाव और स्वरूप का पहले ही विचार कर लेना चाहिए।

जब इतनी तुलना से किन्हीं दो अथवा अधिक भाषाओं में संबंध स्थापित हो जाता है तब उनके शब्द-कोष की परीक्षा की जाती है। इन शब्दों की तुलना करने में भी संख्यावाचक, संबंधवाचक (माता, पिता, भाई आदि) और प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाले घर-गृहस्थी के शब्दों को विशेष महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि संख्या-वाचक[1] शब्दों में ध्वनि-विकार से रूप-विकार हो सकता है; पर उनका अर्थ प्रायः क्वचित् ही बदलता है। अर्थ की स्थिरता संबंध और गृहस्थी के वाचक शब्दों में भी पाई जाती है। भाषा का शेष शब्द-कोष वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कारणों से समय समय पर बदलता रहता है। इससे यदि दो अथवा अधिक

(१) हिंदी के पहाड़े प्राचीन संख्या-वाचकों को अभी तक सुरक्षित रखे हुए हैं।

भाषाओं में संख्या, संबंध और साधारण व्यवहार के लिए मिलते-जुलते शब्द पाये जाते हैं तो वे भाषाएँ सजातीय अथवा कम से कम परस्पर संबद्ध मानी जाती हैं। कुछ विद्वान् उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों की भी तुलना करते हैं, पर इससे विशेष लाभ नहीं होता।

शब्दों की तुलना करने में उनके ऐतिहासिक रूप का ज्ञान अर्थात् यह जानना कि उनका मूलरूप (प्रकृति) क्या है और पीछे जोड़ा अंश (प्रत्यय) क्या है, बहुत आवश्यक होता है, क्योंकि एक ही मूल-शब्द से निकले शब्द भिन्न भिन्न रूपों में पाये जाते हैं और प्रायः एक-से देख पड़नेवाले शब्दों का उद्गम भिन्न भिन्न मूलों से होता है। जैसे केवल 'द्वे' से हिंदी में 'दो' और गुजराती में 'बे' बन गया है उसी प्रकार एक 'माता' शब्द से 'मा' और 'बा' दो रूप बन गये हैं। एक ही भाषा हिंदी में संस्कृत शब्द कार्य के 'कारज' और 'काज' दो रूप देख पड़ते हैं। साथ ही साथ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनके मूल भिन्न भिन्न होते हैं जैसे 'आम' (फल) और 'कुल' (वंश) संस्कृत से संबंध रखते हैं पर उसी रूपवाले 'आम' (सर्वसाधारण) और कुल (सब) अरबी से हिंदी में आये हैं। अतः तुलना में मूल रूप का ध्यान रखना आवश्यक होता है।

इसी प्रकार शब्दों की तुलना में कुछ अर्थ और ध्वनि के परिवर्तन-संबंधी नियमों को ध्यान में रखना चाहिए। थोड़े अर्थ-भेद और ध्वनि-भेद के रहते हुए भी शब्दों में साम्य की कल्पना की जा सकती है।

इन नियमों के साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि तुलना का क्षेत्र एक भाषा के भिन्न भिन्न कालों के रूपों से बढ़ते बढ़ते वर्ग की समस्त भाषाओं, परिवार के समस्त वर्गों और आवश्यकतानुसार संसार में उपलब्ध सभी भाषा-परिवारों तक विस्तृत हो जाता है। ऐसी विशाल तुलना से ही, उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक

कह सके हैं कि 'प्रत्येक भाषा विभक्ति-संपन्न नहीं होती'। इसके विपरीत संकीर्ण और संकुचित तुलना सदोष सिद्धांतों को जन्म देती है। कुछ भाषाओं की तुलना से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला था कि सभी भाषाओं की धातुएँ एकाच् अर्थात् एकाक्षर होती हैं पर अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं की परीक्षा[1] ने इस सिद्धांत को सदोष ठहराया है।

ऊपर दिये हुए विवेचन से यह अर्थ सहज ही में निकल आता है कि व्युत्पत्ति-विद्या भी इतिहास और तुलना के ऊपर प्रतिष्ठित है। इसी से व्युत्पत्ति आजकल 'ऐतिहासिक' व्युत्पत्ति कही जाती है। व्युत्पत्ति सामान्यतया दो प्रकार की होती है—लौकिक तथा अलौकिक। अलौकिक व्युत्पत्ति व्याकरण के लक्षणों के अनुसार प्रकृति प्रत्यय आदि के विग्रह द्वारा शब्द के रूप और अर्थ की व्याख्या करती है। वह व्याख्या जब शब्द के प्रचलित अर्थ से मेल नहीं खाती तब अलौकिक व्याख्याकार कह उठता है—"अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य अन्यत्तु प्रवृत्तिनिमित्तम्"। शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त कुछ और होता है और उसके व्यवहार और प्रयोग में आने का निमित्त कुछ दूसरा ही। दूसरी विधि यह है कि अर्थ को देखकर शब्दों की परीक्षा की जाय। इसे लोक-व्यवहार का अनुरोध मानने के कारण 'लौकिक' कहा जाता है। इस दूसरी विधि का ही भाषा-विज्ञान में भी आदर होता है। इतिहास-प्रधान होने के कारण भाषा-विज्ञान में 'लौकिक[2]

(१) देखो—'डा० मंगलदेव का भाषा-विज्ञान'। विस्तार के लिए "भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया" वाला प्रकरण पढ़ना चाहिए।

(२) 'लौकिक व्युत्पत्ति' शब्द अब भाषा वैज्ञानिकों के Popular etymology के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। अर्थात् जब अनभिज्ञ लोग Arts College को आठ कालेज और इंतकाल को अंतकाल मानकर इन शब्दों की व्युत्पत्ति निकालते हैं तब इसे लौकिक व्युत्पत्ति नाम देते हैं अतः अब ऐतिहासिक व्युत्पत्ति (Historical etymology) शब्द ही सच्ची व्युत्पत्ति के लिए प्रयोग में आता है।

व्युत्पत्ति' का 'ऐतिहासिक व्युत्पत्ति' ही नाम अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इस शब्द-व्युत्पत्ति के भी, भाषा-विज्ञान ने कुछ नियम बना लिये हैं। व्युत्पत्ति से तात्पर्य शब्द के रूप और अर्थ का इतिहास लिखना है। अतः दूसरी ऐतिहासिक खोजों के समान ही शब्द-व्युत्पत्ति के लिए भी ऐतिहासिक प्रमाण देना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्युत्पत्ति करनेवाला 'नाई' से न्यायी का संबंध जोड़ता है और 'न्यायी' शब्द का इस अर्थ में कहीं भी प्रयोग नहीं दिखला सकता तो उसका निर्वचन अप्रामाणिक माना जाता है। इसके विपरीत जब एक भाषा-वैज्ञानिक 'नाई' को स्नापितः से व्युत्पन्न कहता है, तो वह प्राचीन वाङ्मय से प्रमाण देता है, पाली में 'नहापितो' और संस्कृत में 'नापितः' का प्रयोग दिखलाता है और मराठी, बँगला आदि अन्य आधुनिक आर्य्य भाषाओं में 'ण्हावी', 'ण्हाउ' आदि की तुलना से उस प्रमाण को परिपुष्ट करता है। राजपूताने की एक प्रथा भी उसकी सहायता करती है। वहाँ आज दिन भी नाई को पहले स्नान कराकर तब लोग उससे बाल बनवाते हैं। इसी प्रकार बीम्स साहब हिंदी की 'को' विभक्ति संस्कृत के 'कक्षे' शब्द से निकली हुई मानते हैं परंतु जिस अर्थ में 'को' विभक्ति आती है उसमें 'कक्षे' का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में कहीं नहीं मिलता और न 'कक्खं', 'काँख' आदि के समान तद्भव रूप प्राकृत, अपभ्रंश आदि में मिलते हैं। अतः यह व्युत्पत्ति प्रामाणिक[1] नहीं मानी जाती।

व्युत्पत्ति का दूसरा साधारण नियम यह माना जाता है कि प्रत्येक भाषा के वर्णों और ध्वनियों में परिवर्तन कुछ नियमों[2] के अनुसार होता है। अतः व्युत्पत्ति करने में ध्वनि-विकार के इन नियमों का अवश्य विचार करना चाहिए। जिस प्रकार

(१) देखो—हिंदी-भाषा और साहित्य, पृ० १४०।

(२) देखो आगे, Grim's Law (ग्रिम का नियम) और Vernar's Corollary. (वर्नर का उपनियम)।

ध्वनि-विकार के नियम देखकर एक शब्द का उसके पूर्वज से संबंध जोड़ा जाता है उसी प्रकार उन दोनों शब्दों के अर्थ में भी संबंध दिखलाना आवश्यक होता है। इन तीन सामान्य नियमों का ध्यान न रखने से प्रायः शब्द-व्युत्पत्ति एक खेल हो जाया करती है।

अंत में यदि विचार कर देखा जाय तो इस प्रक्रिया के समस्त प्रपंच का मूल है ऐतिहासिक बुद्धि। तुलना के नियम, व्युत्पत्ति, ध्वनि और अर्थ आदि के नियम सभी उसी इतिहास की प्रक्रिया को पूर्ण बनाने के लिए अपेक्षित होते हैं, इसी से "भाषा का इतिहास"[1] भाषा-विज्ञान का पर्याय-वाची समझा जाता है।

नामकरण

कुछ लोग इस शास्त्र को तुलनात्मक भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक तुलनात्मक व्याकरण अथवा केवल तुलनात्मक व्याकरण कहा करते हैं, पर भाषा-विज्ञान स्वयं बड़ा व्यापक और सार्थक नाम है। इस विज्ञान की प्रक्रिया में इतिहास और तुलना का विचार तो रहता ही है, फिर 'तुलनात्मक' पद के जोड़ने से कोई लाभ नहीं। दूसरे दो नामों का निराकरण तो भाषा-विज्ञान और व्याकरण की तुलना[2] से हो जाता है। भाषा-विज्ञान में व्याकरण के अतिरिक्त प्राचीन शोध, अर्थातिशय आदि विषयों का भी विचार रहता है इसलिए उसका क्षेत्र अधिक व्यापक होता है। अतः यदि कोई नाम भाषा-विज्ञान की बराबरी कर सकता है तो वह है भाषा का इतिहास।

प्राचीन भारत में प्रयुक्त व्याकरण, निरुक्त (निर्वचन-शास्त्र), पद-विद्या, शब्द-शास्त्र, शब्दानुशासन आदि नामों में से किसी एक का भी व्यापक अर्थ लेने से भाषा-विज्ञान का अर्थ निकल सकता है (और 'वाक्यपदीय' का शब्दार्थ तो बिलकुल 'Speech and Language' का अनुवाद प्रतीत होता है) पर ये सब नाम कुछ रूढ़ से हो गये हैं। अतः इस शास्त्र के नये रूप का सम्मान रखने के

(१) देखो—स्वीट, पाल आदि की 'History of Language'।
(२) देखो—पृ० ३, ६।

लिए भाषा-विज्ञान नाम ही उपयुक्त जान पड़ता है। मराठी, बँगला आदि अन्य भाषाओं में 'भाषात्तत्त्व', भाषाशास्त्र, शब्द-तत्त्व, शब्द-शास्त्र, 'शब्द-कथा' आदि नाम प्रचलित हैं। ये सब भी भाषा-विज्ञान के पर्याय मात्र कहे जा सकते हैं।

भाषा-विज्ञान की बातें साधारणतया सभी को रुचिकर होती हैं पर उसका सम्यक् अनुशीलन एक योग्य अधिकारी ही कर सकता है। अन्यथा अनधिकारी के हाथ में पड़कर भाषा का अध्ययन या तो सदोष और भ्रामक अथवा बड़ा श्रमसाध्य और नीरस होगा।

भाषा-विज्ञान का अधिकारी

अतः जिसे भाषा-विज्ञान में विशेष रुचि हो उसे कुछ साधन-संपत्ति लेकर आगे बढ़ना चाहिए। आजकल की प्रयोगात्मक ध्वनि-शिक्षा के लिए तो प्रयोगशाला की भी आवश्यकता होती है, पर साधारण ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-शास्त्र, भाषा के रूपात्मक विकास आदि से परिचित होने के लिए ग्रंथों का अध्ययन ही सबसे पहले आवश्यक होता है। अतः उन्हें समझने की योग्यता संपादन करना विद्यार्थी का पहला कर्तव्य है। भाषा-विज्ञान के अधिक ग्रंथ तो जर्मन भाषा में हैं पर अँगरेजी में भी उनकी संख्या कम नहीं है। इन ग्रंथों को पढ़ने के लिए इन भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, पर इससे भी अधिक आवश्यक बात यह है कि भाषा-शास्त्र के विद्यार्थी को वैज्ञानिक लिपि (Phonetic script) का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए तभी वह अन्य भाषाओं से उद्धृत वाक्यों और शब्दों के प्रत्यक्षरीकरण (Transliteration) को पढ़ सकेगा और ध्वनि-शिक्षा में प्रयुक्त ध्वनियों और वर्णों का अध्ययन कर सकेगा। यद्यपि देवनागरी वैज्ञानिक लिपि है तो भी भाषा-विज्ञान की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उसमें भी कुछ नये प्रतीकों का प्रयोग करना पड़ता है। अतः इस विशिष्ट लिपि से, चाहे वह पश्चिम में प्रचलित वैज्ञानिक लिपि हो अथवा हिंदी में गृहीत नागरी का परिवर्धित रूप हो, विद्यार्थी को परिचित होना

चाहिए। भाषा-विज्ञान के आधुनिक युग में रोमन लिपि के अतिरिक्त नागरी और ग्रीक लिपि का ज्ञान सामान्य बात समझी जाती है। जो विद्यार्थी इन लिपियों से अनभिज्ञ रहता है वह भाषा-विज्ञान की किसी भी अच्छी पुस्तक को पढ़ नहीं सकता। इसी प्रकार हिंदी, मराठी आदि भाषाओं का विद्यार्थी ग्रंथों में फारसी लिपि को देखकर कभी कभी खीझ उठता है। पर सच पूछा जाय तो लेखक भारतीय आधुनिक भाषाओं के विद्यार्थी से यह आशा करता है कि वह अपनी लिपि के अतिरिक्त फारसी और नागरी लिपि से अवश्य परिचित होगा। इसी प्रकार ग्रीक, अवेस्ता आदि के उद्धरणों को ग्रीक लिपि में लिखना आजकल साधारण हो गया है। साथ ही कुछ ऐसे संकेतों का भी प्रयोग होता है जिनका जानना आवश्यक है। जैसे जब भाषा-विज्ञान-विषयक ग्रंथों में किसी शब्द के ऊपर तारा के समान चिह्न (*) लगा रहता है तब वह काल्पनिक[1] शब्द समझा जाता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति करने में भी विशेष चिह्नों का प्रयोग होता है।

लिपि और संकेत के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों को भी सावधानी से सीखना चाहिए। संस्कृत के शिक्षा-शास्त्र और व्याकरण की संज्ञाओं के साथ ही नये गढ़े हुए हिंदी नामों के समझने में अँगरेजी और जर्मन प्रतिशब्दों के जानने से बड़ी सहायता मिलती है। हिंदी, मराठी, बँगला आदि भाषाओं में एक ही भाषा-शास्त्रीय शब्द के लिए कई शब्द प्रचलित रहते हैं। ऐसी स्थिति में सतर्क न होने से अध्ययन कठिन हो जाता है। कभी कभी एक ही हिंदी शब्द से अँगरेजी के कई शब्दों का बोध कराया जाता है, जैसे 'बलवान्' शब्द से 'Emphatic,' 'Stressed', 'Strong' तीन शब्दों का अनुवाद किया जाता है, अतः प्रसंग से इस अर्थ-

(१) उपलब्ध शब्दों के आधार पर विद्वान् कुछ मूल-शब्दों की कल्पना कर लिया करते हैं।

भेद को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इस असुविधा को दूर करने के लिए इस पुस्तक के अंत में पारिभाषिक शब्दों की एक सूची दे दी गई है।

यह तो हुआ ग्रंथाध्ययन के विषय में। भाषा के वैज्ञानिक अनुशीलन के लिए कई और बातें भी अपेक्षित होती हैं। अपनी मातृभाषा के साथ ही एक प्राचीन सुसंस्कृत और साहित्य-संपन्न भाषा का अध्ययन अनिवार्य होता है। इनके साहित्य, कोष और व्याकरण का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करना चाहिए। इतना कर लेने से आगे चलने पर प्रामाणिक व्याकरण और कोष की सहायता से ही काम चल जाता है। कई लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि भाषा-वैज्ञानिक होने के लिए बहुभाषाविद होना अनिवार्य है। अनेक भाषाओं के ज्ञान से लाभ तो अवश्य ही होता है पर बिना इतनी भाषाओं के जाने भी भाषा-विज्ञान का अध्ययन हो सकता है। विशेषज्ञों द्वारा रचित साधारण और तुलनात्मक ग्रंथ बहुभाषा-ज्ञान की कमी को पूरा कर देते हैं। अतः बहुभाषाविद् होना अनिवार्य नहीं है, पर यदि किसी भाषा-विशेष के उद्भव और विकास की परीक्षा करनी हो तो उसकी पूर्ववर्ती और समसामयिक सजातीय भाषाओं तथा उसकी बोलियों का साधारण परिचय प्राप्त करना आवश्यक होता है; जैसे हिंदी की ऐतिहासिक समीक्षा के लिए संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि पूर्ववर्ती, और बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि आधुनिक भाषाओं का तथा व्रज, अवधी, खड़ी बोली, राजस्थानी आदि विभाषाओं का ज्ञान आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त द्रविड़, फारसी, अरबी आदि भाषाओं का काम व्याकरण, कोष आदि संग्रह-ग्रंथों से चल जाता है।

इसके अतिरिक्त (जैसा कि प्रक्रिया के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा) भाषा की बहिरंग और अंतरंग दोनों प्रकार की परीक्षाओं में तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धति का ज्ञान अनिवार्य होता है; और भाषा-विज्ञान के क्षेत्र की जटिलता और व्यापकता

के कारण यह भी आवश्यक होता है कि विद्यार्थी भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान आदि अन्य शास्त्रों की भी थोड़ी-बहुत जानकारी रखे। विश्व के भूगोल और इतिहास के सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त भाषा-विशेष से संबद्ध देश और जाति का सविस्तर अध्ययन लाभकारी होता है। अर्थातिशय की व्याख्या अर्थात् शब्द और अर्थ के संबंध आदि की व्याख्या करने में मनोविज्ञान बड़ा सहायक होता है तथा भाषामूलक प्राचीन शोध के लिए तो मानव-विज्ञान (Anthropology), वंशान्वय-विज्ञान (Ethnology), पुरातत्त्व (Archæology), जन-कथा-विज्ञान (Science of Mythology) आदि के थोड़े-बहुत ज्ञान के बिना काम चल ही नहीं सकता। केवल शब्दों के आधार पर जो सभ्यता और संस्कृति की कल्पना की जाती है वह अन्य प्रमाणों से पुष्ट न होने पर वैज्ञानिक खोज नहीं मानी जा सकती। उदाहरणार्थ—शब्दों की तुलना से यह सिद्ध हो गया है कि 'अश्व' का अस्तित्व भारोपीय मूल भाषा में था, पर अन्य शास्त्रों की खोज से यह सिद्ध हुआ है कि उस अश्व पर सवारी करना आर्यों को ज्ञात नहीं था। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि वे लोग मध्य योरप के जंगली घोड़ों का शिकार करते रहे होंगे।

अंत में यह न भूलना चाहिए कि यद्यपि भाषा-विज्ञान एक व्यापक विज्ञान है और वह समय और श्रम की अपेक्षा करता है, तथापि वह इतना सरस और मानव-जीवन से इतना संबद्ध है कि उसके पढ़ने में बड़ा आनंद मिलता है। अतः भाषा के रहस्यों को जानने का जिसे कुतूहल है और शास्त्रीय अध्ययन में जिसकी थोड़ी भी रुचि है, वह इसका अधिकारी हो सकता है।

शुष्क लक्षणों, नियमों और परिभाषाओं का अध्ययन किसी किसी को ही रुचता है, पर सुंदर लक्ष्यों और उदाहरणों की मीमांसा द्वारा साधारण पाठक में भी रुचि उत्पन्न हो जाती है, फिर जिज्ञासु और यत्नशील विद्यार्थी का कहना ही क्या है? आजकल की पाठ्य

पुस्तकों में या तो विदेशी भाषा के उदाहरण रहते हैं अथवा अधिक हुआ तो संस्कृत भाषा के कुछ शब्द मिल जाते हैं। यही कारण है कि ये पुस्तकें कठिन और नीरस होती हैं और विद्यार्थी भाषा-विज्ञान को सूखा विषय समझने लगता है। पर यदि वही विद्यार्थी अपनी भाषा के अध्ययन से भाषा-विज्ञान के तत्त्वों को सीखता है तो वह बड़े सहज में उन्हें जान लेता है और साथ ही आनंद का अनुभव करता है। वाक्यों, शब्दों और उनके अर्थों की आत्मकथा इतनी हृदय-ग्राहिणी होती है कि भाषा-वैज्ञानिक ही नहीं, साधारण थोड़ा पढ़ा-लिखा अथवा बिलकुल अपढ़ ग्रामीण भी शब्दों की व्युत्पत्ति और भाषा की उत्पत्ति आदि के प्रकरणों पर वाद-विवाद किया करता है। पौराणिक और काव्य-सुलभ व्युत्पत्ति और निर्वचन इसी सहज रुचि के फल हैं। एक साधारण मनुष्य भी बनारस के नाम का अर्थ लगाता है और कहता है कि औरंगजेब के समय में यहाँ रस बना था इससे यह नाम पड़ा। 'लखरावँ' शब्द का इसी प्रकार वह लाख से संबंध जोड़ता है। पौराणिक अथवा कवि पुरुष को 'शरीर में शयन करनेवाला' (पुरि शेते इति) अथवा 'शत्रु का सामना करनेवाला' (परं विषहते यस्मात्) समझता है। यही बात यदि वैज्ञानिक रूप में आती है तो क्या कम मनोरंजक होगी? क्या बनारस, लखरावँ और पुरुष के सच्चे मूल वाराणसी, वृत्तराजि और पुंवृष को जानकर कम आनंद मिलता है? इसी प्रकार हम जो भाषा बोलते हैं उसकी उत्पत्ति जानने में हमें पर्याप्त रस मिलता है। अतः भाषा-विज्ञान के नीरस और कठिन कहे जाने का कारण या तो सुंदर पुस्तकों का अभाव हो सकता है अथवा पाठक की अयोग्यता।

भाषा-विज्ञान की रोचकता

जो कुछ अब तक कहा गया है उससे भाषा-विज्ञान की महत्ता का कुछ परिचय मिल जाता है। यह भाषा और वाणी-विषयक

सहज कुतूहल को शांत करता है और भाषा का संबंध मनुष्य की बुद्धि और हृदय से होने के कारण उसका अध्ययन ज्ञान-पिपासा की शांति के साथ ही हृदय की भी तृप्ति करता है। वैज्ञानिक अपने अध्ययन को 'निष्कारण धर्म[1]' समझता है—अध्ययन करना ही उसका उद्देश्य रहता है, उसमें ही उसे आत्मसुख मिलता है; पर भाषा की आत्मकथा सुनने में—शब्दों की रामकहानी पढ़ने में—वह काव्यानंद का अनुभव भी करता है। जिसकी आँखें भाषा-विज्ञान के प्रसाद से खुल गई हैं उसे एक एक शब्द में वही रस मिलता है जो किसी साहित्यिक को काव्य के अनुशीलन में प्राप्त होता है। 'बाँस वेइल[2] महाराज' के 'मूल पुरुष' 'वाजपेयीजी' को जानकर किसे आनंद नहीं मिलता। 'हिंस्र' ने हजारों वर्ष से 'सिंह' बनकर जो करतूत छिपाने की चेष्टा की है उसे जानकर कौन नहीं प्रसन्न हो जाता। एक ही 'भद्र' के 'भला' और 'भद्दा' दो विरुद्ध स्वभाववाले बेटों को देखकर कौन नहीं आश्चर्य करने लगता। संस्कृत काल के प्रसिद्ध 'उपाध्याय घिसते घिसते झा रह गये'। उनकी यह अवनति देखकर किसे नहीं तरस आ जाता। गोविंद[3], हाला, नापित, पुच्छ, मनोरथ आदि प्राकृत के शब्दों की शुद्धि और संस्कृति को देखकर किसे सत्संग की महिमा नहीं याद आ जाती? शब्दों के समान ही भाषाओं के भी उद्भव, विकास और ह्रास की कथा कम मनोरम नहीं होती। जो भाषा अधिक सभ्य और 'संस्कृत'[4] बनने की चेष्टा करती है वह अमर तो हो जाती है पर

शास्त्र का महत्त्व

(१) देखो—महाभाष्य—ब्राह्मणेन निष्कारणः धर्मः...ज्ञेयश्च। (१।१)

(२) देखो—कोशोत्सव-स्मारक संग्रह में पं० केशवप्रसाद मिश्र का 'उच्चारण' नाम का लेख।

(३) गोपेंद्र, स्नापितः, मनोर्थ, पक्ष आदि के प्राकृत रूप फिर से संस्कृत में अपना लिये गये थे।

(४) उदाहरणार्थ देखो—हिंदी भाषा और साहित्य, पृ० ६।

उसका वंश फिर आगे नहीं बढ़ता; और जो प्रजापक्ष को नहीं छोड़ती, अपने प्राकृत स्वभाव को बनाये रखती है, वह संतान और संपत्ति से सदा भरी-पूरी रहती है—ये सब बातें किस कहानी-प्रेमी को नहीं सुहातीं ?

ज्ञान-पिपासा की शांति और काव्यानंद की अनुभूति के साथ ही साथ भाषा-विज्ञान विद्यार्थी को वैज्ञानिक प्रक्रिया में दीक्षित[1] कर देता है। वैज्ञानिक ढंग से काम करने का उसे अभ्यास हो जाता है तथा उसकी दृष्टि विशाल और उदार हो जाती है। भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी अपनी भाषा अथवा उपभाषा के संकीर्ण घेरे में नहीं रहता; वह उसका अतिक्रमण करके एक सुरम्य और सुविस्तृत क्षेत्र में भ्रमण करता है। वह भाषा और व्याकरण के संबंध को भी अच्छी तरह समझ जाता है। उसे भाषा-विज्ञान से स्पष्ट हो जाता है कि मातृ-भाषा सीखने के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक नहीं होता। व्याकरण केवल विदेशी भाषा सीखने और व्याकरण की तात्त्विक व्याख्या करने के उद्देश्य से पढ़ा जाता है, अन्यथा वास्तव में भाषा तो भाषा से ही सीखी जाती है।

भाषा-विज्ञान से व्याकरण और साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में बड़ी सहायता मिलती है। भक्त, वार्ता, क्रंदन, आर्द्र, इंधन, कृशर, शल्क, निगलति, शकट, अश्ववार आदि शब्दों को भात, बात, काँदना, आला (अथवा ओदा), ईंधन, खिचड़ी, छिलका, निगलना, छकड़ा (अथवा सग्गड़) और सवार आदि ठीक तद्भव रूपों के द्वारा सीखना-सिखाना बड़ा सरल होता है। इसी प्रकार विद्यार्थी को यह जानकर कि भाषा के पश्चात् व्याकरण बना है, अपवाद आदि संबंधी कई बातें अनायास ही समझ में आ जाती हैं। जिस संस्कृत का व्याकरण संसार में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है उस भाषा के वैज्ञानिक अनुशीलन से क्या लाभ

(१) देखो—Science of Language by Moulton—pages 2-3.

हो सकता है अर्थात् संस्कृत व्याकरण की कमी को भी किस प्रकार भाषा-विज्ञान पूरी कर सकता है इसका भी निदर्शन कई विद्वानों[1] ने कराया है। इसी से आजकल व्याकरण का निर्माण भाषा-विज्ञान की सहायता के बिना असंभव माना जाता है। भाषा-विज्ञान के द्वारा प्राचीन भाषाओं का भी बड़ा सुंदर व्याकरण तैयार किया जा सकता है। मेकडानल कृत वैदिक व्याकरण (Vedic Grammar) इसका ज्वलंत उदाहरण है। उसकी रचना ऐतिहासिक और तुलनात्मक खोजों के आधार पर बड़े सुंदर ढंग से की गई है। मेकडानल का लौकिक संस्कृत व्याकरण भी भाषा-विज्ञान के कारण इतना सुंदर बन पड़ा है कि अच्छे अच्छे प्राचीन ढंग के वैयाकरण उस पर मुग्ध हो जाते हैं। इस प्रकार भाषा और व्याकरण का सहायक होने से भाषा-विज्ञान साहित्य का भी बड़ा उपकार करता है। वेदार्थ-निर्णय में भी भाषा-विज्ञान का कार्य प्रसिद्ध है।

भाषा-विज्ञान ने तुलनात्मक मत-विज्ञान और जनकथा-विज्ञान को जन्म दिया है। भिन्न भिन्न मनुष्य जातियों की भाषाओं के, विशेषकर प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से पौराणिक गाथाओं के स्वभाव, उद्भव और विकास का तथा भिन्न भिन्न मानव जातियों के विश्वासों और मतों के इतिहास का बहुत कुछ पता लगा है।

भाषा-विज्ञान ने जातीय मनोविज्ञान, वंशान्वय-विज्ञान अथवा जाति-विज्ञान, मानव-विज्ञान, प्राचीन शोध आदि का कम उपकार नहीं किया है। भाषा-वैज्ञानिक शब्दों के द्वारा मनुष्य-समाज के प्राचीनतम इतिहास को खोजने का यत्न करता है। इसका एक स्पष्ट उदाहरण यह है कि भारोपीय भाषा-परिवार की संस्कृत, ग्रीक, गाथिक आदि भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा विद्वानों ने

(१) उदाहरणार्थ देखो—पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का लेख—'संस्कृत का वैज्ञानिक अनुशीलन'। (द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ)

भारोपीय जातियों के पूर्वजों की सभ्यता और संस्कृति की खोज की है। आर्यों के आदिम निवास-स्थान की खोज करने में भी भाषा-विज्ञान ने सबसे अधिक सहायता की है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान प्राचीन मनुष्यों की मानसिक प्रवृत्तियों और जातियों आदि के विचार करने में बड़ी सहायता करता है। वह उस समय का इतिहास लिखने में सहायक होता है जिस समय का इतिहास स्वयं इतिहास को भी ज्ञात नहीं है।

भाषा-विज्ञान भाषा की बड़ी मनोरंजक कहानी कहता है। पर स्वयं भाषा-विज्ञान के उद्भव और विकास की कहानी सुनना कम मनोरंजक नहीं होता। भाषा-विज्ञान का जन्म तो अभी कल हुआ है पर उसकी परंपरा बहुत प्राचीन काल से अविच्छिन्न चली आ रही है। यूनानी विद्वान् प्लेटो की व्युत्पत्ति-विद्या से अंकुरित होकर भाषा का अध्ययन आज तक बढ़ता ही जा रहा है। यद्यपि प्लेटो के 'क्रेटीलस'[1] में दी हुई व्युत्पत्ति वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती तथापि उसके ग्रंथों में भाषा के अध्ययन को विशेष स्थान प्राप्त था, भाषा का व्याकरण विकसित होने लगा था। भाषा की उत्पत्ति की चर्चा तो स्यात् उसके पूर्वजों के समय से होती आ रही थी, पर प्लेटो ने पहले पहल शब्द-भेदों की व्याख्या की। उदाहरणार्थ, उसने उद्देश्य और विधेय, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य का भेद स्वीकार किया। एरिस्टाटल ने व्याकरण को एक पग और आगे बढ़ाया। कारकों का प्रकरण उसी ने सबसे पहले छेड़ा।

शास्त्र का इतिहास

अलेग्ज़ेंड्रियन (Alexandrian) युग में धीरे धीरे व्याकरण प्राचीन साहित्य का उपकारक होने के अतिरिक्त स्वयं एक शास्त्र समझा जाने लगा। ज़ेनोडोटस (Zenodotus) ने होमर के साहित्य का एक शब्दकोष तैयार किया; कैलीमैकस ने ऐसे भिन्न भिन्न नामों का विचार किया जिनका प्रयोग भिन्न भिन्न जातियाँ

(१) Cratylus.

अथवा राष्ट्र एक ही अर्थ में करते थे। एराटोस्थेनीज (Eratosthenes) ने अपने एक ग्रंथ में एटिक विभाषा (Attic dialect) का वर्णन किया। एरिस्टोफेनीज (Aristophanes) ने सबसे पहला बृहत् शब्दकोष तैयार किया जिसमें उसने प्रत्येक शब्द के मौलिक अर्थ के खोजने का यत्न किया। ऐसा कहा जाता है कि उसने ही व्याकरण में साम्य[1] (अर्थात् नियम) और वैषम्य[2] (अर्थात् अपवाद) पर भी एक ग्रंथ लिखा था। इस युग में भाषा के अनुशीलन में सबसे बड़ी बात यह हुई कि एरिस्टार्कस ने आठ शब्द-भेदों का स्पष्ट विवेचन किया—संज्ञा (जिसमें विशेषण का भी समावेश हो जाता है), क्रिया, कृदंत (Participle), सर्वनाम, उपपद, क्रिया-विशेषण, संबंध-वाचक (अर्थात् उपसर्ग और परसर्ग) और समुच्चयवाचक। एरिस्टार्कस के एक शिष्य डिओनीसियस थ्रेक्स ने ग्रीक भाषा का पहला व्याकरण लिखा जो तेरह-चौदह शताब्दियों तक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता था और अब भी उपादेय समझा जाता है। डिओनीसियस की परंपरा का एक वैयाकरण टिरानिअन सिसरो के समय में रोम में रहता था। उसने ग्रीक और लैटिन के संबंध पर विचार किया। उसी के एक समसामयिक ने ऐसे नामों का विवेचन किया, जो, वर्ण-विन्यास में परिवर्तन होने से, विकृत हो गये थे। आगस्टस के समय में 'ट्रिफन' नामक एक लेखक ने 'वर्ण-विकारों' पर एक प्रबंध लिखा था जो संक्षिप्त रूप में आज भी मिलता है।

इस समय अलेग्ज़ेंड्रिया के समान परगेमम (Pergamum) भी विद्या का केंद्र हो रहा था। वहाँ के स्टोइक लोगों ने व्याकरण और व्युत्पत्ति-विद्या का अच्छा अध्ययन किया था। एक प्रसिद्ध स्टोइक क्रेटस का मत था कि कारक-रचना और काल-रचना के

(१) 'Analogy.'

(२) Anamoly (अपवाद में इस लेखक ने केवल विभक्तियों का विचार किया है।)

नियमों के लिये माथापच्ची करना वृथा है, भाषा को 'समय[1]' और 'व्यवहार' का परिणाम समझना चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिकों की भाँति उसने भी भाषा जैसी है उसे वैसी ही मानकर विवेचन किया है, पर उसने व्याकरण के नियमों के विवेचन को अच्छा नहीं माना था। उसके सन् १६० ईसवी में रोम जाने से वहाँ ग्रीक विद्या का विशेष प्रसार हो गया था।

रोम अथवा इटली में क्रेटस की यात्रा के पहले से भी भाषा का अध्ययन हो रहा था। इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ, व्हारो (Varro) कृत दि लिंगुआ लैटिना (de Lingua Latina) ईसा से ४३ वर्ष पूर्व ही बन चुका था। इस ग्रंथ में व्युत्पत्ति, विभक्ति, नियम (Analogy), अपवाद (Anamoly) और वाक्य-विचार का समावेश था। व्हारो ने लैटिन भाषा की उत्पत्ति पर भी लिखा था। उसके बाद जूलियस सीजर का नाम आता है। उसने भी व्याकरण पर दो भागों में एक ग्रंथ लिखा था। सिसरो ने अपने 'ओरेटर' (Orator) में व्युत्पत्ति और उच्चारण का कुछ विचार किया था। इसी युग में व्हारो से लेकर किंटलिअन तक जो व्याकरण की संज्ञाएँ और परिभाषाएँ बन गई थीं वही आधुनिक 'लैटिन ग्रामर' का आधार हुई। इस काल के ही पेलामन और प्रोबस (Probus) को लैटिन व्याकरण की रूप-रेखा खींचने का श्रेय दिया जाता है। प्रोबस के अनंतर ईसा की दूसरी शताब्दी में आलस[2] गैलिअस ने भाषा का विशेष अध्ययन किया था। इसी समय के ग्रीक विद्वानों में डिस्कोलस का नाम उल्लेख योग्य है। वह ग्रीक वाक्य-

(१) Cf. Crates preferred to accept tbe phenomena of language as the arbitrary results of custom and usage"—Sounds, Hist. of Classical Scholarship, p. 155.

(२) Aulus Gellius रोमन था।

विचार[1] का पिता माना जाता है। उसने इस विषय पर एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा था। वह ग्रंथ अपनी वैज्ञानिक शैली के लिए प्रसिद्ध है।

मध्य काल में भी व्याकरण और व्युत्पत्ति पर विचार तो होता ही रहा पर कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन के बीज अति प्राचीन लेखकों में भी देख पड़ते हैं पर उनका सच्चा विकास अठारहवीं शताब्दी के अंत में प्रारंभ होता है। इस समय तक या तो लैटिन ग्रीक भाषा की एक विभाषा से उत्पन्न मानी जाती थी अथवा ग्रीक और लैटिन दोनों ही हिब्रू की संतान मानी जाती थीं। सन् १७८६ में जाकर इस विचार-धारा में परिवर्तन का समय आया। सर विलियम जोंस ने, जो १७८३ से १७९४ तक कलकत्ता हाईकोर्ट के जज थे, यूरोप के विद्वानों को संस्कृत का परिचय कराया और उनके सामने अपनी यह कल्पना रखी कि संस्कृत, लैटिन और ग्रीक एक बड़े भाषा-परिवार में उत्पन्न बहिनें हैं। इस प्रकार उन्होंने आधुनिक तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया।

पर वास्तव में कोई तीस वर्ष पीछे फ्रांज़ बॉप ने इस कल्पना को वैज्ञानिक रूप दिया। सन् १८१६ में उसने अपनी 'सिस्टम आफ कांजुगेशंस[2]' (काल-रचना) नामक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें पहले पहल ग्रीक, लैटिन, पर्शिअन और जर्मन भाषा की क्रियाओं के साथ संस्कृत क्रियाओं की सविस्तर तुलना की गई। सन् १८३३ में बॉप ने एक दूसरा ग्रंथ लिखा—"संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनिअन, ओल्ड स्लाव्होनिक, गाथिक और जर्मन का तुलनात्मक व्याकरण[3]"। इस ग्रंथ में इन भाषाओं के मौलिक

(१) Father of 'Greek Syntax' (Dyscolus).

(२) Cf. "System of the conjugations in Sanskrit in comparison with those of Greek, Latin, Persian and German"), (बॉप ही आधुनिक भाषा-विज्ञान का पिता माना जाता है।)

(३) "Comparative Grammar of Sanskrit, Greek, Latin, Lithuanian, Old Slavonic, Gothic and German."

रूपों का वर्णन, उनके ध्वनि-परिवर्तन संबंधी नियमों और उन रूपों के मूलान्वेषण की विवेचना हुई। बॉप ने रूपों के मूल की खोज को विशेष महत्त्व दिया था।

इस समय अनेक विद्वान् इस क्षेत्र में काम करने लगे थे। जैकब ग्रिम भी उनमें से एक था। बॉप ने रूपों की ओर विशेष ध्यान दिया था, ग्रिम ने ध्वनि को अपना ध्येय बनाया। ग्रिम ने बॉप के ग्रंथ को प्रकाशित किया और सन् १८१९-१८२२ में एक जर्मन व्याकरण लिखा जिसमें उसके उस प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन हुआ है जो ग्रिम-सिद्धांत अथवा "ग्रिम[1] का नियम" के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि रास्क नाम के डेनिश विद्वान् ने इसकी उद्भावना की थी, पर उसका शास्त्रीय प्रतिपादन ग्रिम ने ही किया।

इस काल का दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् पॉट था जिसका ग्रंथ, इटीमालाजिकल इनव्हेस्टीगेशंस[2] (व्युत्पत्ति-विषयक खोज) सन् १८३३-३६ में प्रकाशित हुआ था। यह व्युत्पत्ति-संबंधी पहला वैज्ञानिक ग्रंथ माना जाता है।

अब विद्वान् आर्य-भाषा-विज्ञान के अंग-प्रत्यंग का पृथक् पृथक् अध्ययन करने लगे। संस्कृत, अवेस्ता, लिथुआनिअन, ग्रीक आदि के विशेषज्ञ अलग अलग अध्ययन करने लगे। गआर्क कुर्टीअस[3] ने ग्रीक का और कॉर्सन प्रभृति ने इटैली की भाषाओं का विशेष अनुशीलन किया। १८५८ में कुर्टीअस ने अपने ग्रंथ 'ग्रीक व्युत्पत्ति के तत्त्व' में ग्रीक शब्दों की संस्कृत, अवेस्ता, लैटिन आदि के पर्यायों से तुलना की और ध्वनियों तथा ध्वनि-विकारों का सुंदर और संपूर्ण विवेचन किया।

१८६१ में आगस्ट श्लाइशर (Schleicher) ने अपने इंडो-जर्मेनिक भाषाओं के तुलनात्मक[4] व्याकरण को प्रकाशित कर भाषा-

(१) Grim's Law के विवेचन के लिए देखो आगे।
(२) Etymological Investigations by Pott.
(३) Georg. Curtius.
(४) Compendium of the Comparative Grammar of the Indo-Germanic Languages, by Schleicher.)

विज्ञान में एक नया अध्याय आरंभ किया। उसने अन्य विद्वानों द्वारा संगृहीत सामग्री की परीक्षा करके एक भारोपीय मूल भाषा की कल्पना की। उसका ग्रंथ डारविन के सिद्धांत में रँगा हुआ है। सन् १८६८ में उसकी असामयिक मृत्यु हो जाने से भाषा-विज्ञान की बड़ी हानि हुई। उसके सिद्धांतों को आगस्ट फिक (Fick) ने और आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया था। इसी समय मैक्समूलर ने भाषा-विज्ञान को लोक-प्रिय बनाने का उद्योग किया।

१८७० और १८७९ में कुछ ऐसी खोजें हुईं जिनसे भाषा-वैज्ञानिकों के एक नये संप्रदाय की प्रतिष्ठा हुई। अभी तक विद्वान् सोचा करते थे कि संस्कृत और गाथिक के समानाक्षर अ, इ और उ ही मूल भाषा के स्वर हैं, पर ब्रुगमान प्रभृति विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया कि मौलिक स्वर इससे कहीं अधिक थे। इसी समय 'ग्रिम-नियम' के अपवादों का निराकरण वर्नर और ग्रासमान की खोजों ने कर दिया। इस प्रकार इस नये संप्रदाय का काम बड़े वेग से आगे बढ़ने लगा। १८६७ में प्रोफेसर ह्विटने ने अपने "भाषा और भाषा के अध्ययन" में उपमान (अथवा सादृश्य) के विषय में जोर दिया था। १८७८ में प्रोफेसर लेस्किअन, ब्रुगमान, पाल प्रभृति विद्वानों ने नये संप्रदाय के दो बड़े सिद्धांतों का प्रतिपादन किया—(१) ध्वनि-विकार के नियमों के अपवाद नहीं होते और (२) जो अपवाद देख पड़ते हैं वे उपमान की कृति हैं।

पुराने संप्रदायवाले उपमान के कारण होनेवाले विकारों को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते थे। "False Analogy" 'मिथ्या[1] सादृश्य' इस नाम से भी यही व्यंजना होती है। भाषा की उत्पत्ति जैसे प्रश्नों से उनका अनुशीलन प्रारंभ करना भी अवैज्ञानिक ही था। नये संप्रदाय ने जीवित भाषाओं का और उनमें विकार होने के कारणों का अध्ययन करके उन्हीं सिद्धांतों और नियमों के आधार पर मृत भाषाओं की ओर जाना अच्छा समझा।

(१) देखो—False Analogy.

भाषा-सामान्य के अध्ययन में भी उन लोगों ने ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना ही उचित माना। नये संप्रदाय के इन सिद्धांतों का सविस्तर प्रतिपादन पॉल-कृत 'भाषा के इतिहास-तत्त्व'[1] नामक ग्रंथ में मिलता है। पर नये संप्रदाय का नायक कार्ल ब्रुगमान माना जाता है। उसके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—इंडो-जर्मनिक[2] भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण और संक्षिप्त कंपेरेटिव व्याकरण। पहले ग्रंथ में आर्य परिवार की ग्यारह प्रधान भाषाओं का इतिहास है। इसका जर्मन से अँगरेजी में अनुवाद हो गया है। दूसरा ग्रंथ भी बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

इस नये संप्रदाय में भी अभी तक अध्ययन शब्दों के रूपों और ध्वनियों का होता था। शब्दों के अर्थ और उनकी शक्ति की ओर कम ध्यान दिया जाता था, पर अब इस ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है। डेलब्रुक ने तुलनात्मक वाक्य-विचार[3] लिखकर ब्रुगमान के कार्य की मानो पूर्त्ति की और ब्रील ने अर्थातिशय (सिमैंटिक्स[4]) पर एक प्रबंध लिखकर एक दूसरे ढंग के अध्ययन की नींव डाली। इन दोनों ही लेखकों के ग्रंथ लगभग १८९७ में जनता के सामने आये। इसके अनंतर भाषा-विज्ञान की अच्छी उन्नति होने लगी है। अब उसके विज्ञान होने में कोई कमी नहीं रह गई है। ध्वनि-शिक्षा के अध्ययन के लिये तो अब प्रयोगशालाओं की आवश्यकता होती है; अर्थात् भाषा के भौतिक अंगों की सम्यक् परीक्षा होती है। साथ ही मनोवैज्ञानिक अंग की उपेक्षा भी नहीं की जाती। जेस्पर्सन, स्वीट,

(१) Principles of the History of Language by H. Paul.

(२) Elements of the Comparative Grammar of the Germanic Language by K. Brugman.

(३) 'Comparative Syntax' by Delbruk.

(४) देखो—Essai de Semantique by Breal (Eng. Edition.)

उलनबैक, डेनियल जोंस, व्हेंड्रीज़, टर्नर आदि आधुनिक काल के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इन लोगों में से कुछ[1] अब नये संप्रदाय की संकीर्णता को दूर करने के लिये पुराने संप्रदाय को अपने ढंग से अपनाने का यत्न कर रहे हैं।

भाषा-विज्ञान के इतिहास को पढ़कर साधारण पाठक प्रायः समझ बैठता है कि भाषा का अध्ययन पाश्चात्य विद्या की विशेषता है, पर भारत के इतिहास से जो परिचित है वह इतना ही नहीं कहता कि भारत में भी सुदूर वैदिक काल से यूनान और रोम की भाँति भाषा की चर्चा होती रही है, प्रत्युत वह तो भारत के प्राचीन वैज्ञानिक अध्ययन की, आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अनुशीलन से तुलना करने में तनिक भी संकोच नहीं करता। भारतीय व्याकरण के विकसित रूप में शिक्षा, निरुक्त, रूप-विचार, वाक्य-विचार, अथवा अर्थ-विचार आदि भाषा-विज्ञान के सभी अंगों का समावेश हुआ था। व्याकरण भाषा-विज्ञान का मूलभूत अंग है, और व्याकरण की उन्नति जैसी भारतवर्ष में हुई वैसी और कहीं नहीं हुई। पाणिनि जैसा वैयाकरण संसार में और कहीं नहीं हुआ। जिस पाणिनि की आधुनिक विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है उसको भारत की व्याकरण-परंपरा ने ही जन्म दिया था। पाणिनि के पहले व्याकरण + ~~के ऐंद्र, कातंत्र आदि नव भिन्न भिन्न संप्रदाय[2] जन्म ले चुके थे~~; अनेक शिक्षा-ग्रंथों[3], निरुक्तों[4] और प्रातिशाख्यों[5] का भी विकास हो चुका

(१) देखो—Jesperson's Growth and Origin of Language, pages 97-98.

(२) देखो—Systems of Grammar by S. K. Belvelkar (1915.)

(३) देखो—Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians.

(४) देखो—Introduction to Nirukta by Dr. L. Saroop.

(५) देखो—Introduction to अथर्व प्रातिशाख्य by विश्वबंधु शास्त्री (Punjab University Publication).

+ की बड़ी उन्नति हो चुकी थी।

था। पाणिनि के उत्तर काल में व्याडि, कात्यायन, पतंजलि, जिनेंद्र-बुद्धि, भर्तृहरि, नागेश आदि के नाम व्याकरण के साहित्य में अमर हो गये हैं। जिस मध्य काल में पाश्चात्य भाषा-विज्ञान सर्वथा अंधकार में चल रहा था उस समय भी भारत में वाक्यपदीय, वैयाकरणभूषण, शब्दशक्तिप्रकाशिका जैसे वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों की रचना हुई थी। भाषा के कई अंगों का अलंकार-शास्त्रों और दर्शनों ने भी अच्छा विवेचन किया था। अतः जिस भाँति ग्रीक व्याकरण का इतिहास प्रस्तुत किया गया है उसी प्रकार संक्षेप में भी यदि भारत के वैयाकरणों का और उनके भाषा-शास्त्रीय विचारों का परिचय दिया जाय तो भी बड़ा विस्तार हो जाने का भय है। जिज्ञासुओं के लिये डाक्टर बेल्वेल्कर[1], डाक्टर वर्मा[2] और डाक्टर चक्रवर्ती[3] आदि ने संस्कृत व्याकरण का सामान्य परिचय दे ही दिया है। पर इतना जान लेना अत्यंत आवश्यक है कि अति प्राचीन काल में भी यहाँ भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन होता था।

प्राचीन काल के चरणों और परिषदों में वेद का अध्ययन बड़े मनोयोग के साथ किया जाता था। यज्ञयागादि के अवसरों पर वेद-मंत्रों का पाठ होता था, अतः मंत्रों के उच्चारण, स्वर आदि की ओर ध्यान देना आवश्यक था। ज्यों ज्यों वेद की कथित भाषा साहित्यिक और संस्कृत होकर अमर वाणी होती गई त्यों त्यों उसके स्वर, बल, मात्रा आदि की शिक्षा अधिक आवश्यक समझी जाने लगी। इस प्रकार शिक्षा-शास्त्र का विकास हो चला।

(१) देखो—Systems of Grammar by S. K. Belvelkar (1915).

(२) देखो—Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians.

(३) देखो—(1) Philosophy of Grammar and (2) Linguistic Speculations of Indian Grammarians by Dr. P. C. Chakrawarti (Calcutta University Publications).

प्रारंभ में शिक्षा[1] के नियम बड़े सरल थे। धीरे धीरे ध्वनियों का विशेष अध्ययन होने लगा। ज्यों ज्यों वैदिक विद्यार्थी दूर दूर फैलने लगे, उन्हें उच्चारण के भेद को दूर करने के लिए शिक्षा के नियमों की स्पष्ट और विस्तृत रूप में व्याख्या करनी पड़ी। डाक्टर वर्मा[2] ने इसे शिक्षा के विकास का दूसरा युग माना है। इसी समय पार्षदों अर्थात् प्रातिशाख्यों की भी रूप-रेखा खींची गई थी। प्रातिशाख्यों का मुख्य उद्देश्य था अपनी अपनी संहिता का स्वर और मात्रा से युक्त उच्चारण सिखाना। यास्क ने निरुक्त (१-१७) में लिखा है—'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'। पार्षद ग्रंथ (अर्थात् प्रातिशाख्य) पद-पाठ के आधार पर ही चलते हैं। पद-पाठ किसी भी वेद की संहिता के मंत्रों के एक एक पद (शब्द) को अलग अलग पढ़ने का नाम है। इस प्रकार के पद-पाठ में स्वर, मात्रा, संधि, समास आदि के नियमों को ध्यान में रखना पड़ता है। अतः ध्वनियों के विग्रह और विश्लेषण की प्रक्रिया इतनी परिष्कृत हो गई थी कि आगे चलकर लौकिक संस्कृत के वैयाकरणों ने उसी वर्ण और स्थान आदि की व्यवस्था को अपना लिया। डाक्टर वर्मा ने अपने ग्रंथ में इस काल के शिक्षाशास्त्रीय अध्ययन का बड़ा सरस और सुंदर वर्णन किया है।

धीरे धीरे वैदिक भाषा का समीचीन अध्ययन करने के लिए व्याकरणों और निघंटुओं की रचना होने लगी। व्याकरण में सामान्य नियमों का वर्णन रहता था और निघंटु[3] में अर्थानुसार शब्दों का संग्रह; पर इस प्रकार के अध्ययन से वैदिक विद्यार्थी की जिज्ञासा शांत नहीं हो सकी और शब्द का अर्थ ऐसा क्यों

(१) देखो तैत्तिरीय उपनिषत्—वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

(२) देखो—Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians.

(३) देखो—Sweet's History of Language, पृ० ६। यहाँ व्याकरण और कोष का सुंदर भेद दिखाया गया है।

और कैसे हुआ इत्यादि बातों की वह खोज करने लगा। इस प्रकार व्युत्पत्ति-विद्या अथवा निरुक्त का बीजारोपण हुआ और अंत में यास्क ने अपने सब पूर्वजों[1] की परीक्षा कर एक शास्त्र लिखा जिसमें निर्वचन (अर्थात् व्युत्पत्ति) की प्रतिष्ठा वैज्ञानिक प्रक्रिया पर की गई। यास्क ने अपने निरुक्तशास्त्र में केवल शब्दों की व्युत्पत्ति ही नहीं दी है, भाषा की उत्पत्ति, गठन, वृद्धि आदि पर भी विचार किया है। वे यह भी मानते हैं कि भाषा विचारों और भावों के विनिमय का माध्यम है अतः उसमें अक्षि-निकोच, पाणि-विहार आदि इंगितों का भी समावेश होना चाहिए, पर व्यवहारोपयोगी शब्दमय भाषा का ही अध्ययन उपादेय समझा जाता है। यास्क के अनुसार शब्द के श्रेष्ठ होने के दो कारण हैं—एक तो शब्द व्याप्तिमान्[2] होता है, शब्दार्थ किसी व्यक्ति की इच्छा के अनुसार नहीं चलता, अर्थात् शब्द से अर्थ का संबंध सर्वथा स्वाभाविक, सिद्ध और स्थिर रहता है, शब्द श्रोता और वक्ता दोनों के मन में रहता है; ध्वनि उन दोनों को उद्बुद्ध मात्र कर देती है; इंगितों में ऐसी स्थिरता और व्याप्तिमत्ता नहीं रहती, इसी से शब्द का व्यवहार अधिक लोग अधिक विशाल क्षेत्र में कर सकते हैं। दूसरे 'शब्द' इतना छोटा[3] होता है कि वह थोड़े से थोड़े परिश्रम में अधिक से अधिक उपयोगी हो सकता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ का प्रदर्शन कर सकता है।

यास्क ने भाषा की उत्पत्ति धातुओं से मानी है। अभी थोड़े दिन पहले हमारे युग में भी रूट-थिअरी (धातु के सिद्धांत) को

(१) यास्क ने आग्रायण, औदुंबरायण, औपमन्यव, शाकटायन आदि अठारह विद्वानों का यथावसर निर्देश किया है।

(२) 'व्याप्तिमान्' का डा० लक्ष्मणस्वरूप ने दूसरा अर्थ लिया है पर यह अर्थ प्रोफेसर जहाँगीरदार के अनुसार लिखा गया है। देखो—p. 158, Jehangirdar's Comparative Philology of Indo-Aryan Languages

(३) 'अणीयस्त्वात्'।

माननेवाले लोग विद्यमान थे। कुछ विद्वान् कहते थे कि सभी शब्द धातु के योग से बने हैं। यास्क का यह सिद्धांत बड़े महत्त्व का है। साथ ही यास्क ने ऐसे वैयाकरणों और नैरुक्त का भी निर्देश किया है जो कुछ शब्दों को आदि से 'अव्युत्पन्न' अथवा 'असंविज्ञात' मानते हैं। इस प्रकार यास्क के समय में दोनों सिद्धांत काम कर रहे थे। यास्क ने भाषा के अंग-प्रत्यंग की रचना का विवेचन करने का भी यत्न किया था। उनके अनुसार शब्दों के चार भेद होते हैं—"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च", पद-समूह चार होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। यास्क ने यह बात भी स्वीकार की है कि भाषा का विकास होता है और फलतः विभाषाएँ उत्पन्न होती हैं। यद्यपि यास्क ने यह स्पष्ट नहीं लिखा है तो भी उनके २-२ में दिये हुए 'कांबोज और प्राची' के उच्चारण का यही अभिप्राय जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त यास्क ने व्युत्पत्ति के सामान्य[1] नियम बनाये हैं और भाषा के कई ऐसे कार्यों का वर्णन किया है जिनसे यह सहज ही निष्कर्ष निकल आता है कि भाषा का उस समय वैज्ञानिक अनुशीलन किया जाता था। स्वयं यास्क ने निरुक्त को 'शास्त्र' और 'विद्यास्थान' कहा है।

यास्क के अनंतर वेद के अध्ययन का महत्त्व कुछ घटने लगा था; देश और समाज में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि की भाषा का अधिकार हो चला था। पर भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन रुका नहीं था। इन मुनित्रय के सूत्र, वार्तिक और भाष्य में भी भाषा-संबंधी अनेकानेक बातें मिलती हैं। शब्द के दो रूप—एक भौतिक और दूसरा मानसिक, महाभाष्यकार को स्वीकृत थे। वे 'शब्दः ध्वनिः' और 'स्फोटः शब्दः' दोनों बातें कहते थे। यह विचार सर्वथा आधुनिक विज्ञान से मेल खाता है। इसी प्रकार विवृत, संवृत उच्चारण आदि के विषय में भी बड़े पते की बातें महा-

(१) देखो—डा० लक्ष्मणस्वरूप—निरुक्त की भूमिका, पृ० ४४-४८।

भाष्य में भरी पड़ी हैं। उस समय विभाषाएँ थीं, इसका निर्देश भी महाभाष्यकार ने किया है। व्याकरण का शब्दानुशासन नाम भी इस बात को सूचित करता है कि वैयाकरण को भाषा का शासक नहीं, अनुशासक मानना चाहिए।

इसके पीछे संस्कृत भाषा अमर हो गई अतः उसका वैज्ञानिक अध्ययन न होकर दार्शनिक अध्ययन होने लगा और फलतः शब्द और अर्थ की शक्ति का तथा व्याकरण के मूल तत्त्वों का सुंदर विवेचन किया गया। यह भी आधुनिक भाषा-शास्त्र का एक अंग है। प्राकृत, पाली और अपभ्रंश आदि भिन्न भिन्न भाषाओं (अर्थात् देश-भाषाओं) के व्याकरण बने और उनका संस्कृत से जन्य-जनक-संबंध दिखाने का उद्योग किया गया। साधारण प्रवृत्ति तो संस्कृत को ही मूल मानने की थी पर राजशेखर[1] जैसे विद्वान् प्राकृत को ही संस्कृत की माता मानते थे, अर्थात् दोनों मत चलते थे। और आज की भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि दोनों का सुंदर समन्वय भी कर लेती है। वास्तव में कोई भाषा किसी से उत्पन्न नहीं होती, एक बोलचाल में अपना प्राकृत रूप बनाये रहती है, उसकी धारा बहती रहती है और दूसरी शिष्ट-गृहीत होकर उनके अवरोध में रहने लगती है, उसका प्रवाह रुक जाता है पर वास्तव में दोनों एक ही के दो रूप हैं। साहित्यिक भाषा और प्रचलित बोलियों में कोई मौलिक अंतर नहीं होता और उनका आपस में आदान-प्रदान भी हुआ करता है।

अब देशी तथा विदेशी विद्वान् भारतवर्ष के इस प्रचुर व्याकरण-साहित्य की सहायता से भारत की देशभाषाओं[2] का तथा भाषा-सामान्य का अध्ययन करने का उद्योग कर रहे हैं। यह स्पष्ट है कि भारत का प्राचीन अध्ययन वैज्ञानिक होने पर भी आजकल जैसा उन्नत न था, आजकल से बहुत भिन्न था। पहली बात तो

(१) देखो—यद्योनिः किल संस्कृतस्य इत्यादि।

(२) बीम्स, हार्नेले, देवतिया, चैटर्जी, ट्रूंप आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

यह है कि प्राचीन शिक्षा, निरुक्त आदि का अध्ययन वेद-मंत्रों की पवित्रता और महत्ता के आधार पर स्थित था। उसमें जान-बूझकर भाषा-सामान्य का विचार नहीं किया जाता था। प्रसंगतः गौण रूप से कभी कभी इसका भी अध्ययन किया जाता था। इसी प्रकार प्राचीनों का ध्यान जितना वैदिक भाषा के उद्भव और विकास की ओर था उतना भाषा-सामान्य की ओर नहीं था। ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण अधिक भाषाओं की परीक्षा भी उस समय नहीं हो सकती थी। और जहाँ कहीं हम प्राकृतों अथवा विभाषाओं का अध्ययन पाते भी हैं वहाँ ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि की उपेक्षा ही देख पड़ती है। अतः आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विद्यार्थी का कर्त्तव्य है कि अपनी पूर्वसंचित संपत्ति को अपनाते हुए आधुनिक भाषा-विज्ञान के विशेष सिद्धांतों और तत्त्वों का अध्ययन करे।

दूसरा प्रकरण

भाषा और भाषण

'विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार' को भाषा[1] कहते हैं। इस सूत्र को समझने के लिए भाषा के चार स्कंधों की परीक्षा आवश्यक है—वक्ता, श्रोता, शब्द और अर्थ। कभी कभी विद्वद्गोष्ठी में ध्वनि-संकेत अर्थात् शब्द को इतना महत्त्व दिया जाता है कि भाषा के अन्य तीन स्कंधों का अस्तित्व ही नहीं प्रतीत होता—भाषा केवल संकेतों अथवा प्रतीकों का समुदाय[2] सा जान पड़ती है। कभी कभी आत्मवादी दार्शनिकों[3] के हाथों में वक्ता को ऐसा उच्च स्थान मिल जाता है कि भाषा "आत्माभिव्यक्ति" का पर्याय हो जाती है। पर भाषा-विज्ञान सदा इस बात पर ध्यान रखता है कि भाषा एक सामाजिक क्रिया है; वह किसी व्यक्ति की कृति नहीं है। भाषा वक्ता और श्रोता दोनों के विचार-विनिमय का साधन है। इसी प्रकार उसकी दृष्टि में भाषा का स्वरूप समझने के लिए (अभिधेय) अर्थ का विचार उतना ही आवश्यक है जितना शब्द का। यहाँ अर्थ[4] से केवल 'अर्थ'

(१) देखो—The common definition of speech as the use of articulate sound symbols for the expression of thought. A. H. Gardiner's Speech and Language, p. 17. यही परिभाषा पाल, स्वीट, ह्विटने, ह्विस्लर और वुंट आदि के ग्रंथों में कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ मिलती है।

(२) देखो—Un systeme des Signs (Vendryes, p. 8.)

(३) देखो—B. Croce : Aesthetics, Eng. translation, p. 142 foll.

(४) संस्कृत में अर्थ से केवल meaning (अक्षरार्थ) ही नहीं, thing meant (अभिधेय वस्तु) का भी बोध होता है। वास्तव में 'अर्थ'

(meaning) नहीं, बोध्य वस्तु का भी अभिप्राय लिया जाता है। अर्थात् भाषा को इस अर्थमय जगत् का अभिव्यंजक समझना चाहिए। इन सबको स्पष्ट करने के लिए भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी यों भी कह सकता है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा[1] कहते हैं। /

इस परिभाषा में भाषा के विचारांश पर अधिक जोर नहीं दिया गया है; भाषा विचारों को व्यक्त करती है पर विचारों से अधिक संबंध उसका वक्ता के भाव, इच्छा, प्रश्न, आज्ञा आदि मनोविकारों से रहता है। 'विचार' को व्यापक अर्थ में लेने से उसमें इन सभी का समावेश हो सकता है पर ऐसा करना समीचीन नहीं होता, प्रायः स्पष्टता और वैज्ञानिक व्याख्या का घातक होता है। साधारण से साधारण पाठक भी यह समझता है कि वह सदा विचार प्रकट करने के लिए ही नहीं बोलता। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि भाषा सदा किसी न किसी वस्तु के विषय में कुछ कहती है। वह वस्तु चाहे बाह्य, भौतिक जगत् की हो अथवा सर्वथा आध्यात्मिक और मानसिक। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्त्व की बात है भाषा का समाज-सापेक्ष होना। भाषा की उत्पत्ति किसी प्रकार हुई हो, भाषा के विकास के लिए यह कल्पना करना आवश्यक हो जाता है कि लोग एक दूसरे के कार्यों, विचारों और भावों को प्रभावित करने के लिए व्यक्त ध्वनियों का सप्रयोजन प्रयोग करते थे। जीव-विज्ञान की खोजों से सिद्ध हो चुका है कि कई पक्षी और पशु भी एक प्रकार की भाषा काम में लाते हैं, गृह-निर्माण, आहार आदि के अतिरिक्त

अँगरेजी के 'thing' का प्रतिशब्द है, हिंदी में उसके लाक्षणिक अर्थ का ही ग्रहण हुआ है।

(१) देखो—Gardiner, p. 18.

स्वागत, हर्ष, भय आदि की सूचक ध्वनियों का भी वे व्यवहार करते देखे गये हैं। पर पशु-पक्षियों के ये ध्वनि-संकेत सर्वथा सहज और स्वाभाविक होते हैं और मनुष्यों की भाषा सहज संस्कार की उपज न होकर, सप्रयोजन होती है। मनुष्य समाज-प्रिय जीव है, वह कभी सहयोग और विनिमय के बिना रह नहीं सकता। उसकी यह प्रबल प्रवृत्ति भाषा के रूप में प्रकट होती है, क्योंकि भाषा सामाजिक सहयोग का साधन बन जाती है। पीछे से विकसित होते होते भाषा विचार और आत्माभिव्यक्ति का भी साधन बन जाती है। अत: यह कभी न भूलना चाहिए कि भाषा एक सामाजिक वस्तु है।

भाषा के अंग

भाषा का शरीर प्रधानत: उन व्यक्त ध्वनियों से बना है जिन्हें 'वर्ण' कहते हैं पर उसके कुछ सहायक अंग भी होते हैं। आँख और हाथ के इशारे अपढ़ और जंगली लोगों में तो पाये ही जाते हैं, हम लोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतों से काम लेते हैं। किसी अन्य भाषा-भाषी से मिलने पर प्राय: अपने अपूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण शब्द-भांडार की पूर्ति करने के लिए हमें संकेतों का प्रयोग करना पड़ता है। बहरे और गूँगों से संलाप करने में उनकी संकेतमय भाषा का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मुख-विकृति भी भाषा का दूसरा अंग मानी जा सकती है। गर्व, घृणा, क्रोध, लज्जा आदि के भावों के प्रकाशन में मुख-विकृति का बड़ा सहयोग रहता है। एक क्रोधपूर्ण वाक्य के साथ ही वक्ता की आँखों में भी क्रोध देख पड़ना साधारण बात है। बातचीत से मुख की विकृति अथवा भावभंगी का इतना घनिष्ठ संबंध होता है कि अंधकार में भी हम किसी के शब्दों को सुनकर उसके मुख की भाव-भंगी की कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्थाओं में प्राय: कहने का ढंग अर्थात् आवाज (tone of voice) हमारी सहायता करती है। बिना देखे भी हम दूसरे की 'कड़ी आवाज', 'भरी आवाज' अथवा

'भर्राये' और 'टूटे' स्वर से उसके वाक्यों का भिन्न भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसी से लहजा, आवाज (tone) अथवा स्वर-विकार भी भाषा का एक अंग माना जाता है। इसे वाक्य-स्वर भी कह सकते हैं।

इसी प्रकार स्वर (अर्थात् गीतात्मक स्वराघात), बल-प्रयोग और उच्चारण का वेग (अर्थात् प्रवाह) भी भाषा के विशेष अंग होते हैं। जोर से पढ़ने में इनका महत्त्व स्पष्ट देख पड़ता है। यदि हम लेखक के भाव का सच्चा और पूर्ण अर्थ समझना चाहते हैं तो हमें प्रत्येक वाक्य के लहजे और प्रवाह का तथा प्रत्येक शब्द और अक्षर के स्वर और बल का अनुमान करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि कोई वर्णमाला इतनी पूर्ण नहीं हो सकती कि वह इन बातों को भी प्रकट कर सके।

इंगित, मुखविकृति, स्वर-विकार (अथवा लहजा), स्वर, बल और प्रवाह (वेग)—भाषा के ये गौण अंग जंगली और असभ्य जातियों की भाषाओं में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। यह भी निःसंदेह है कि सभ्य और संस्कृत भाषाओं की आदिम अवस्थाओं में भी उनका प्राधान्य रहा होगा। ज्यों ज्यों भाषा अधिक उन्नत और विकसित अर्थात् विचारों और भावों के वहन करने योग्य होती जाती है त्यों त्यों इन गौण अंगों की मात्रा कम होती जाती है। इसी से साहित्यिक और लिखित राष्ट्रभाषा, जो शीघ्र ही अमर हो जाती है, स्वर और बल तक की अपेक्षा नहीं करती। पाणिनि के समय में वैदिक भाषा की एक कथित भाषा इतनी संस्कृत और परिष्कृत की गई कि उसमें स्वर और बल का भी कोई विशेष स्थान न रहा और ऐसी लौकिक भाषा 'संस्कृत' और 'अमर' होकर आर्यावर्त के एक कोने से दूसरे कोने तक की राष्ट्रभाषा बन गई। यही कारण है कि पिछली संस्कृत ने स्वर और बल का पूर्णतः त्याग कर दिया है। प्रत्येक राष्ट्रभाषा को राष्ट्र की सेवा करने के लिए इतना त्याग करना ही पड़ता है!

भाषा के विद्यार्थी को यह भी समझ लेना चाहिए कि हिंदी जनता में 'भाषा' शब्द का कई भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। भाषा-सामान्य, राष्ट्रीय भाषा, प्रांतीय भाषा, स्थानीय भाषा, साहित्यिक भाषा, लिखित भाषा आदि सभी के लिए विशेषण रहित 'भाषा' का प्रयोग होता है। भाषण की क्रिया के लिये भी भाषा का ही व्यवहार होता है। अतः इन अर्थों को संक्षेप में समझकर शास्त्रीय विवेचन के लिये उनका पृथक् पृथक् नाम रख लेना चाहिए।

बोली, विभाषा और भाषा

आगे चलकर हम देखेंगे कि समस्त संसार की भाषाओं का कुछ परिवारों में विभाग किया गया है। एक एक परिवार में कुछ भाषा-वर्ग होते हैं। एक एक वर्ग में अनेक सजातीय भाषाएँ रहती हैं, एक एक भाषा में अनेक विभाषाएँ होती हैं और एक एक विभाषा की अनेक बोलियाँ होती हैं। यहाँ हमें भाषा, विभाषा और बोली से ही काम है, क्योंकि इन तीनों के लिए हिंदी में कभी कभी भाषा का प्रयोग देख पड़ता है। 'बोली' से हमारा अभिप्राय उस स्थानीय और घरू बोली से है जो तनिक भी साहित्यिक नहीं होती और बोलनेवालों के मुख में ही रहती है अर्थात् वह साहित्य में प्रयुक्त नहीं होती। इसे आजकल लोग 'पेटवा'[1] कहकर पुकारते हैं। 'विभाषा' का क्षेत्र बोली से विस्तृत होता है। एक प्रांत अथवा उपप्रांत की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा 'विभाषा' कहलाती है। इसे अँगरेजी में 'डायलेक्ट'[2] कहते हैं। हिंदी के कई लेखक विभाषा को 'उपभाषा', 'बोली' अथवा 'प्रांतीय भाषा' भी कहते हैं। कई विभाषाओं में व्यवहृत होनेवाली एक शिष्ट परिगृहीत विभाषा ही भाषा[3] (राष्ट्रीय भाषा अथवा टकसाली भाषा) कहलाती है।

(१) Patois
(२) Dialect.
(३) Language or koine

यह भाषा विभाषाओं पर भी अपना प्रभाव डालती है और कभी कभी तो उनका समूल उच्छेद भी कर देती है, पर सदा ऐसा नहीं होता। विभाषाएँ अपने रूप और स्वभाव की पूरी रक्षा करती हुईं, अपनी भाषा रानी को उचित 'कर' दिया करती हैं। और जब कभी राष्ट्र में कोई आंदोलन उठता है और भाषा छिन्न-भिन्न होने लगती है, विभाषाएँ फिर अपने अपने प्रांत में स्वतंत्र हो जाती हैं। विभाषाओं का अपने अपने प्रांत पर बहुत कुछ जन्मसिद्ध सा अधिकार होता है पर भाषा तो किसी राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक अथवा धार्मिक आंदोलन के द्वारा ही इतना बड़ा पद पाती है। कुछ उदाहरणों से ये सब बातें स्पष्ट हो जायँगी।

किसी समय भारत में अनेक ऐसी बोलियाँ और विभाषाएँ प्रचलित थीं जिनका साहित्यिक रूप ऋग्वेद की भाषा में सुरक्षित है। इन्हीं कथित विभाषाओं में से एक को मध्यदेश के विद्वानों ने संस्कृत बना राष्ट्रभाषा का पद दे दिया था। कुछ दिनों तक इस भाषा का आर्यावर्त में अखंड राज्य रहा, पर विदेशियों के आक्रमण तथा बौद्ध धर्म के उत्थान से संस्कृत का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। फिर उसकी शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, अप-भ्रंश आदि विभाषाओं ने सिर उठाया और सबसे पहले[1] मागधी विभाषा ने उपदेशकों के और पीछे शासकों के सहारे 'भाषा' ही नहीं उत्तरी भारत भर की राष्ट्र भाषा बनने का उद्योग किया। इसका साहित्यिक रूप त्रिपिटकों और पाली में मिलता है। इसी प्रकार शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश ने भी उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। अपभ्रंश को भाषा का

राष्ट्रभाषा

(१) कुछ लोगों का मत है कि पाली के पहले महाराष्ट्री महान् राष्ट्र की, बड़े आर्यराष्ट्र की, भाषा हो चुकी थी। जब वह काव्य की अमर भाषा हो गई तब मागधी ने सिर उठाया और पीछे वह पाली के नाम से सिंहासन पर बैठी। तदुपरांत शौरसेनी का अधिकार हुआ।

पद देनेवाला आभीर राजाओं का उत्थान था। फिर कुछ दिनों तक विभाषाओं का राज्य रहने पर 'मेरठ और दिल्ली' की एक विभाषा ने सबको अपने अधीन कर लिया और आज वह आप स्वयं खड़ी बोली, हिंदी अथवा हिंदुस्तानी के नाम से राष्ट्र पर राज्य कर रही है। 'ब्रज' और 'अवधी' जैसी साहित्यिक विभाषाएँ भी उसकी विभाषा कही जाती हैं। खड़ी बोली के भाषा होने के कारण कुछ अंशों में राजनीतिक और ऐतिहासिक हैं। आज हिंदी भाषा के अंतर्गत खड़ी बोली, ब्रज, राजस्थानी, अवधी, बिहारी आदि अनेक विभाषाएँ अथवा उपभाषाएँ आ जाती हैं, क्योंकि इन सबके क्षेत्रों में हिंदी भाषा, चलती और टकसाली हिंदी व्यवहार में आती है। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं कि एक विभाषा ही भाषा[1] बनती है और वह विभाषा के समान अपने जन्मस्थान के प्रांत में ही नहीं रह जाती; किंतु वह धार्मिक, राजनीतिक अथवा ऐतिहासिक कारणों से प्रोत्साहन पाकर अपना क्षेत्र अधिक से अधिक व्यापक और विस्तृत बनाती है।

यदि मराठी भाषा का उदाहरण लें तो पूना की विभाषा ने आज भाषा का पद प्राप्त किया है और कोंकणी, कारवाड़ी, रत्नागिरी और बरारी आदि केवल विभाषाएँ हैं। मराठी भाषा का क्षेत्र महाराष्ट्र का समस्त राष्ट्र है पर इन विभाषाओं का अपना अपना छोटा प्रांत है, क्योंकि विभाषा की सीमा बहुत कुछ भूगोल स्थिर करता है और भाषा की सीमा सभ्यता, संस्कृति और जातीय भावों के ऊपर निर्भर होती है। इसी प्रकार आजकल की फ्रेंच और अँगरेजी भाषाएँ पेरिस और लंदन नगर की विभाषाएँ ही

(१) भाषा (Language) से भी राष्ट्रीय भाषा (Lingua franca) नाम अधिक व्यापक है। हिंदी राष्ट्रीय भाषा के नाते बंबई से लेकर कलकत्ता तक व्यवहार में आती है। उसके इस चलते रूप को कुछ लोग हिंदुस्तानी नाम देना अच्छा समझते हैं।

हैं। राजधानियों की राजनीतिक महत्ता ने उन्हें इतना प्रधान बना दिया था कि वे आज राष्ट्रीय भाषाएँ हो गई हैं।

✓भाषा और विभाषा के इस भेद को समझने के साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि एक भाषा की भिन्न भिन्न बोलियों में एक प्रकार की समानता रहती है; इसी से एक भाषा की भिन्न भिन्न विभाषाओं के बोलनेवाले एक दूसरे को समझ लेते हैं। एक भाषा की विभाषाओं में कितना ही अधिक भेद हो तो भी उनमें कुछ एकता के सूत्र मिल ही जाते हैं। शब्द-कोष के अधिकांश की समानता, काल-रचना, कारक-रचना आदि व्याकरण-संबंधी एकता और बहुत कुछ मिलता-जुलता ध्वनि-विज्ञान सहज ही स्पष्ट कर देते हैं कि ये भिन्न भिन्न विभाषाएँ एक सूत्र में बँधी हैं। शब्दों के रूपों में भी अंतर ऐसा नहीं होता जो पहचाना न जा सके। उदाहरणार्थ खड़ी बोली के 'मेरा','तेरा' अवधी के 'मोर','तोर' और ब्रज के 'मेरो', 'तेरो' आदि वैभाषिक रूप सहज ही पहचान में आ जाते हैं। ब्रज के 'करत हौं', खड़ी बोली के 'करता हूँ' और अवधी के 'करत अही' रूपों का संबंध स्पष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही भाषा के प्रांतीय भेद विभाषाओं को जन्म देते हैं। पर हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य का भाव अथवा अभाव भाषा और विभाषा का भेदक नहीं होता, क्योंकि भाषा और विभाषा दोनों में साहित्य-रचना होती है। अवधी और ब्रज साहित्यिक विभाषाएँ हैं पर वे हिंदी की सजातीय विभाषा नहीं हैं; और गुजराती तथा सिंधी यद्यपि व्याकरण और कोष की दृष्टि से ब्रज और अवधी की ही नाईं हिंदी की साहित्यिक विभाषाएँ हैं तथापि उन्हें सजातीय भाषा का पद प्राप्त है। इसका कारण यह है कि जातीय और प्रांतीय संस्कृति तथा एकता का भाव किसी विभाषा को भाषा बनाता है। ब्रज, अवधी आदि के बोलनेवाले अपनी भाषा हिंदी को एक मानने को प्रस्तुत हैं, पर गुजराती अपनी प्रांतीयता के कारण अपनी विभाषा को पृथक् ही

रखना चाहते हैं। इसी प्रकार आसामी अब प्रांतीयता के भावों के कारण एक भाषा मानी जाती है अन्यथा वह बँगला की ही एक विभाषा है। अतः विभाषा को 'उपभाषा' कहना ठीक हो सकता है पर 'बोली' तो भाषा के ठेठ, प्रतिदिन बोले जानेवाले रूप का ही नाम हो सकता है।

इस विवेचन से यह उचित जान पड़ता है कि स्थानीय भाषा के लिए 'बोली', प्रांतीय भाषा के लिए 'विभाषा' और राष्ट्रीय तथा टकसाली भाषा के लिए 'भाषा' का प्रयोग ठीक होगा। मराठी, बँगला, गुजराती, हिंदी राष्ट्रीय तथा टकसाली भाषाओं ही के लिए भाषा पद का प्रयोग उचित है। पर जब यह देश और जाति-सूचक विशेषण भी 'भाषा' के आगे से हटा दिया जाता है तब हम भाषा से सामान्य भाषा अर्थात् ध्वनि-संकेतों के समूह का अर्थ लेते हैं। इस अर्थ के भी दो पक्ष हैं जिन्हें और स्पष्ट करने के लिए हम 'भाषा' और 'भाषण' इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। भाषा का एक वह रूप है जो परंपरा से बनता चला आ रहा है, जो शब्दों का एक बड़ा भांडार है, एक कोड[1] है; भाषा का दूसरा रूप उसका व्यक्तियों द्वारा व्यवहार अर्थात् भाषण है। पहला रूप सिद्धांत माना जा सकता है, स्थायी कहा जा सकता है और दूसरा उसका प्रयोग अथवा क्रिया कही जा सकती है जो क्षण क्षण, प्रत्येक वक्ता और श्रोता के मुख में परिवर्तित होती रहती है। एक का चरमावयव शब्द होता है, दूसरे का वाक्य। एक को विद्वान् 'विद्या'[2] कहते हैं, दूसरे को 'कला'। यद्यपि इन दोनों

(१) Cf. Code. इसी अर्थ में संस्कृत का कूट शब्द भी आता है पर कोड शब्द का संसर्ग बड़ा सुंदर है।

(२) देखो—A. H. Gardiner's Speech and Language, p. 62 × × × These two human attributes, language, the science, and speech, its active application, have too often been confused with one another or regarded as identical, with the result

रूपों का ऐसा संबंध है जो प्राय: दोनों में अभेद्य माना जाता है, तथापि शास्त्रीय विचार के लिए इनका भेद करना आवश्यक है। भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि में भाषण का अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यद्यपि यह प्रश्न कठिन है कि भाषण से भाषा की उत्पत्ति हुई अथवा भाषा से भाषण की, तथापि सामान्यतया भाषण ही भाषा का मूल माना जाता है।

ठेठ हिंदी में 'बानी' और 'बोल' का भी प्रयोग होता है, जैसे संतों की बानी और चोरों की बोल। ये विशेष प्रकार की भाषाएँ ही हैं क्योंकि विभाषा और बोली में इनकी गणना नहीं हो सकती। बानी और बोल का कारण भी एक विशेष प्रकार की संस्कृति ही होती है। इसे अँगरेजी में स्लैंग कहते हैं। कई विद्वान् 'स्लैंग' का इतना व्यापक अर्थ लेते हैं कि वे काव्य-भाषा को भी 'स्लैंग' अथवा कविवाणी ही कहते हैं, क्योंकि कवियों की भाषा प्राय: राष्ट्रीय और टकसाली भाषा नहीं होती। अनेक कवि बिलकुल चलती भाषा में भी रचना करते हैं तो भी हमें साहित्यिक काव्य-भाषा और टकसाली भाषा को सदा पर्याय न समझना चाहिए।

यदि हम अपनी भाषण-क्रिया पर विचार करें तो उसके दो आधार स्पष्ट देख पड़ते हैं—व्यक्त ध्वनियाँ और उनके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले विचार और भाव। इस प्रकार भाषण का एक भौतिक आधार होता है दूसरा मानसिक। मानसिक क्रिया ही शब्दों और वाक्यों के रूप में प्रकट होती है। मानसिक क्रिया वास्तव में भाषा का प्राण है और ध्वनि उसका बाह्य शरीर। इसी से आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अब अर्थ-विचार (अथवा अर्थातिशय), सादृश्य आदि मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देने लगे हैं।

भाषण का द्विविध आधार

that no intelligible account could be given of their ultimate elements, 'the word' and the 'sentence.'

भाषा का अंत्यावयव शब्द होता है, अतः **भाषा-विज्ञान शब्द का ही सम्यक् विश्लेषण और विवेचन करता है।**

भाषा का विश्लेषण

शब्द का विचार तीन ढंग से किया जा सकता है। शब्द अर्थ अथवा भाव का प्रतिबिंब है। शब्द एक ध्वनि है और शब्द एक दूसरे शब्द का संबंधी है, अर्थात् शब्द स्वयं सार्थक ध्वनि होने के अतिरिक्त वाक्य का एक अवयव है। उदाहरणार्थ 'गाय' दौड़ती है। इस वाक्य में 'गाय' एक व्यक्त ध्वनि है, उससे एक अर्थ निकलता है और इन दो बातों के साथ ही 'गाय' वाक्य के दूसरे शब्द 'दौड़ती है' से अपना संबंध भी प्रकट करती है। यही बात 'दौड़ती है' के संबंध में भी कही जा सकती है। इस व्यक्त ध्वनि से एक क्रिया का अर्थ निकलता है, पर यदि वह 'गाय' के साथ अपना संबंध प्रकट न कर सके तो वह वाक्य का अवयव नहीं हो सकती और न उससे किसी बात का बोध हो सकता है। इसी से 'दौड़ना' एक व्यक्त ध्वनि मानी जा सकती है पर उसे शब्द तभी कहा जाता है जब वह एक वाक्य में स्थान पाता है। शब्द का इस प्रकार त्रिविध विवेचन किया जाता है, और फलतः शब्द को कभी ध्वनि-मात्र[1], कभी अर्थ-मात्र[2] और कभी रूप-मात्र[3] मानकर अध्ययन किया जाता है। ध्वनि-समूह शब्द के उच्चारण से संबंध रखता है। अंतिम अक्षरों का विशिष्ट उच्चारण करना ही ध्वन्यात्मक शब्द का काम[4] है। अर्थ-समूह शब्द के अर्थ और भाव का विषय होता है। दो अर्थों के संबंध को प्रकट करनेवाला रूप-समूह भाषा की रूप-रचना की सामग्री उपस्थित करता है। भाषा का अध्ययन इन्हीं तीन विशेष पद्धतियों से किया जाता है।

(१) Phoneme.
(२) Semanteme.—Cf. Vendrys, p. 74.
(३) Morpheme.
(४) Cf. p. 57 of Language by Vendrys.

'भाषा' भाषण की क्रिया के समान क्षणिक और अनित्य नहीं होती। वह एक परंपरागत वस्तु है। उसकी एक धारा बहती है, जो सतत परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती है और जिसमें भाषण-कृत भेदों की लहरें नित्य उठती रहती हैं। थोड़े से विचार से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के ध्वनि-संकेत संसर्ग की कृति हैं। किसी वस्तु के लिए किसी ध्वनि-संकेत का प्रयोग अर्थात् एक अर्थ से एक शब्द का संबंध सर्वथा आकस्मिक होता है। धीरे धीरे संसर्ग और अनुकरण के कारण वक्ता और श्रोता उस संबंध को स्वाभाविक समझने लगते हैं। वक्ता सदा विचार कर और बुद्धि की कसौटी पर कसकर शब्द नहीं गढ़ता और यदि वह कभी ऐसा करता है तो भी वह अपने शब्द को अन्य वक्ताओं और श्रोताओं की बुद्धि के अनुरूप नहीं बना सकता। इसी से यह माना जाता है कि जब एक शब्द चल पड़ता है तब उसे लोग संसर्ग द्वारा सीखकर उसका प्रयोग करने लगते हैं, वे उसे तर्क और विज्ञान की कसौटी पर कसने का यत्न नहीं करते, और यही कारण है कि भाषा अपने पूर्वजों से सीखनी पड़ती है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी नई भाषा उत्पन्न नहीं करती। घटना और परि-स्थिति के कारण भाषा में कुछ विकार भले ही आ जायँ पर जान-बूझकर वक्ता कभी परिवर्तन नहीं करते। अर्थात् भाषा एक **परंपरा-गत संपत्ति** है। यही भाषा की अविच्छिन्न धारा का रहस्य है।

भाषा परंपरागत संपत्ति है

भाषा पारस्परिक व्यवहार अर्थात् भावों और विचारों के विनिमय का साधन है। अतएव किसी भाषा के बोलनेवाले सदा इस बात का ध्यान रखते हैं कि जहाँ तक संभव हो, भाषा में नवी-नता न आने पावे। वे इसे स्वयं बचाते हैं और दूसरों को भी ऐसा करने से रोकते हैं। इस प्रकार भाषा सामाजिक संस्था होने के कारण एक स्थायी संस्था हो जाती है। और इसी से यद्यपि मनुष्यों का भिन्न भिन्न व्यक्तित्व भाषा में कुछ न कुछ विकार उत्पन्न

किया ही करता है तथापि उसकी एकता का सूत्र सदा अविच्छिन्न रहता है।

भाषा के पारंपरिक होने और उसकी धारा के अविच्छिन्न रहने का यह अर्थ न समझना चाहिए कि भाषा कोई पैतृक[1] और कुल-क्रमागत वस्तु है। अर्थात् भाषा जन्म से ही प्राप्त होती है और वह एक जाति का लक्षण है, क्योंकि भाषा अन्य कलाओं की भाँति सीखी जा सकती है। एक बालक अपनी मातृभाषा के समान कोई दूसरी भाषा भी सुगमता से सीख सकता है। मातृभाषा ही क्या है? जो भाषा उसकी माता बोले वही मातृभाषा है। यदि किसी जाति की एक स्त्री संस्कृत बोलती है तो उसके लड़के की मातृभाषा संस्कृत[2] हो जाती है, उसी जाति की दूसरी स्त्री अँगरेजी बोलती है तो उसके बच्चों की मातृभाषा अँगरेजी हो जाती है और उसी जाति की अन्य माताएँ अपनी स्थानीय भाषा बोलती हैं तो उनके पुत्रों की मातृभाषा भी वही हो जाती है। यदि माता-पिता दो भिन्न भाषाओं का व्यवहार करते हैं तो उनके बच्चे दोनों भाषाओं में निपुण देखे जाते हैं। बच्चे अपनी मा की बोली के अतिरिक्त अपनी धाय की भाषा को भी सीख जाते हैं। इतिहास में भी इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। केल्ट जाति के लोग आज फ्रांस में रहते हैं और वे आज केल्टिक भाषा नहीं प्रत्युत लैटिन भाषा से उत्पन्न फ्रेंच भाषा बोलते हैं। इसी प्रकार भारत के पारसी अब अपनी प्राचीन भाषा नहीं बोलते। वे अब गुजराती अथवा उर्दू बोलते हैं। यही दशा हब्शियों की भी है। वे संसार के प्रायः सभी बड़े बड़े देशों में फैले हुए हैं पर वे कहीं अफ्रिका की भाषा नहीं बोलते। वे जिस देश में रहते हैं उसी देश की भाषा बोलते हैं।

(१) Cf. Whitney—Life and Growth of Language, p. 8.

(२) अभी भारत में अनेक ऐसे घर हैं जहाँ बच्चे मा से संस्कृत ही सर्वप्रथम सीखते हैं।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषण-शक्ति को छोड़कर भाषा का और कोई ऐसा अंग नहीं है जो प्राकृतिक हो अथवा जिसका संबंध जन्म, वंश या जाति से हो।

साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि भाषा एक अर्जित संपत्ति होते हुए भी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। एक व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है पर वह उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। भाषा की रचना समाज के द्वारा ही होती है। अर्जन और उत्पादन में बड़ा अंतर होता है।

भाषा का विकास होता है

इतने विवेचन से, भाषा के स्वरूप की इतनी व्याख्या से, भाषा और मनुष्य-जीवन का संबंध स्पष्ट हो गया है। मनुष्य का मन और शरीर ही उसका मानसिक और भौतिक आधार है। मनुष्य ही उसका अर्जन और संरक्षण करता है। वास्तव में भाषा मनुष्य की ही एक विशेषता है; और मनुष्य परिवर्तनशील है। उसका विकास होता है। अतः उसकी भाषा में परिवर्तन और विकास का होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार धीरे धीरे मनुष्य-जाति का उद्भव और विकास हुआ है उसी प्रकार उसकी भाषा का भी उद्भव और विकास हुआ है। मनुष्य-जीवन का विकसित वैचित्र्य भाषा में भी प्रतिफलित देख पड़ता है।

भाषा की उत्पत्ति

हम जान चुके हैं कि भाषा एक सामाजिक और सांकेतिक संस्था है। वह हमें अपने पूर्वजों की परंपरा से प्राप्त हुई है। उसे हममें से प्रत्येक व्यक्ति अर्जित करता है पर वह किसी की कृति नहीं है। इस भाषा को समझने के लिए केवल संबंध-ज्ञान आवश्यक होता है अर्थात् वक्ता अथवा श्रोता को केवल यह जानने का यत्न करना पड़ता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ से संबंध अथवा संसर्ग है। भाषा संबंधों और संसर्गों के समूह के रूप में एक व्यक्ति के सामने आती है। बच्चा भाषा को इन्हीं संसर्गों के द्वारा सीखता है

और एक विदेशी भी किसी भाषा को नूतन संसर्गों के ज्ञान से ही सीखता है। अतः भाषा का प्रारंभ संसर्ग-ज्ञान से ही होता है। भाषा की उत्पत्ति समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किसी शब्द का किसी अर्थ से संबंध प्रारंभ में कैसे हुआ होगा; किसी शब्द का जो अर्थ आज हम देखते हैं वह उसे प्रारंभ में क्यों और कैसे मिला होगा। इसका उत्तर भिन्न भिन्न लोगों ने भिन्न भिन्न ढंग से दिया है।

सबसे प्राचीन मत यह है कि भाषा को ईश्वर ने उत्पन्न किया और उसे मनुष्यों को सिखाया। यही मत पूर्व और पश्चिम के सभी देशों और जातियों में प्रचलित था। इसी कारण धार्मिक लोग अपने अपने धर्म-ग्रंथ की भाषा को आदि भाषा मानते थे। भारत के वैदिक धर्मानुयायी वैदिक भाषा को मूल भाषा मानते थे। उनके अनुसार देवता उसी भाषा में बोलते थे और संसार की अन्य भाषाएँ उसी से निकली हैं। बौद्ध लोग अपनी मागधी अथवा उसके साहित्यिक रूप, पाली, को ही ईश्वर की प्रथम वाणी मानते थे। ईसाई लोग हिब्रू को ही मनुष्यों की आदिम भाषा मानकर उसी से संसार की सब भाषाओं को उत्पन्न मानते थे। मुसलमानों के अनुसार ईश्वर ने पैगंबर को अरबी भाषा ही सबसे पहले सिखाई। आज विज्ञान के युग में इस मत के निराकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस दिव्य उत्पत्ति के सिद्धांत के दोष स्पष्ट हैं। केवल इस अर्थ में यह मत सार्थक माना जा सकता है कि भाषा मनुष्य की ही विशेष संपत्ति है, अन्य प्राणियों को वह ईश्वर से नहीं मिली है।

(१) दिव्य उत्पत्ति

कुछ साहसी विद्वानों ने यह दूसरा सिद्धांत प्रतिपादित किया कि भाषा मनुष्य की सांकेतिक संस्था है। आदिकाल में जब मनुष्यों ने हस्तादि के साधारण संकेतों से काम चलता न देखा तब उन्होंने कुछ ध्वनि-संकेतों को जन्म दिया। वे ही ध्वनि-संकेत विकसित होते होते

(२) सांकेतिक उत्पत्ति

आज इस रूप में देख पड़ते हैं। इस मत में तथ्य इतना ही है कि शब्द और अर्थ का संबंध लोकेच्छा का शासन मानता है और शब्दमय भाषा का उद्भव मनुष्यों की उत्पत्ति के कुछ समय उपरांत होता है, पर यह कल्पना करना कि मनुष्यों ने विना भाषा-ज्ञान के ही इकट्ठे होकर अपनी अवस्था पर विचार किया और कुछ संकेत स्थिर किये सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। यदि परस्पर विचार-विनिमय विना भाषा के ही हो सकता था तो भाषा के उत्पादन की आवश्यकता ही क्या थी?

इन दोनों मतों का खंडन करके विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में इतने भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है कि अनेक भाषा-वैज्ञानिक इस प्रश्न को छेड़ना मूर्खता अथवा मनोरंजन समझने लगे। उनमें से चार मुख्य सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय देकर हम यह देखेंगे कि किस प्रकार उन सभी का खंडन करके आजकल केवल दो मत विजय प्राप्त कर रहे हैं।

(३) अनुकरणमूलकतावाद

पहले के चार मतों में से पहला सिद्धांत यह है कि मनुष्य के प्रारंभिक शब्द अनुकरणात्मक[1] थे। मनुष्य पशु-पक्षियों की अव्यक्त ध्वनि सुनकर उसी के अनुकरण पर एक नया शब्द बना लेता था। जैसे एक पक्षी 'का','का' रटता था, उसकी ध्वनि के अनुकरण पर 'काक' शब्द की रचना हो गई। म्याउ, कोयल, कोकिल, कक्कू (Cuckoo), घुग्घू आदि शब्दों की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हो गई। हिनहिनाना, भों भों करना, मिमियाना आदि क्रियाओं की भी इसी प्रकार सृष्टि हो गई और धीरे धीरे भाषा बढ़ चली। इस मत के माननेवाले पशुओं, पक्षियों और अन्य निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण भाषा का कारण मानते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि मनुष्य अपने सहधर्मियों और साथियों की ध्वनियों का भी अनुकरण करता होगा। इस मत

(१) देखो—Imitation of sounds के लिए संस्कृतज्ञ 'अव्यक्तानुकरण' अथवा 'शब्दानुकृति' का प्रयोग करते थे।

की मैक्समूलर ने बड़ी कड़ी आलोचना की है। उसके अनुसार ये शब्द कृत्रिम फूलों की भाँति निःसंतान होते हैं। उनसे भाषा का विकास मानना भ्रममात्र है। अपने इसी उपहास और उपेक्षा के भाव को व्यंजित करने के लिए मैक्समूलर ने इस मत का नाम बाउ वाउ थिअरी (Bow-vow theory) रखा था। पर आधुनिक विद्वान् इस मत को 'ऐसा सर्वथा ही त्याज्य' नहीं समझते, क्योंकि भाषा में अनेक शब्द इसी अनुकरण के द्वारा उत्पन्न हुए हैं और अनुकरणात्मक शब्द भी उसी प्रकार औपचारिक प्रयोगों को जन्म देते हैं जिस प्रकार कोई अन्य शब्द। उदाहरणार्थ अँगरेजी के काक (Cock) शब्द से Coquet, Coquetterie आदि अनेक शब्द बने हैं। इतनी बात ठीक मान लेने पर भी यह मत समस्त शब्द-भांडार की उत्पत्ति सिद्ध नहीं कर पाता। अनुकरणात्मक शब्द भाषा में नगण्य ही होते हैं।

(४) मनोभावाभिव्यंजकतावाद

दूसरा प्रसिद्ध वाद मनोभावाभिव्यंजकता[1] है। इसके अनुसार भाषा उन विस्मयादि मनोभावों के बोधक शब्दों से प्रारंभ होती है जो मनुष्य के मुख से सहज संस्कारवश ही निकल पड़ते हैं। इसके माननेवाले विद्वान् प्रायः यह जानने का उद्योग नहीं करते कि ये विस्मयादिबोधक शब्द कैसे उत्पन्न हुए; उन्हें वे स्वयंभू अर्थात् आपसे आप उत्पन्न मानकर आगे भाषा का विकास दिखाने का यत्न करते हैं। डारविन ने अपने "एक्स्प्रेशन आफ इमोशंस" (The Expression of Emotions) में इन विस्मयादिबोधकों के कुछ शारीरिक (physiological) कारण बताये हैं। जैसे घृणा अथवा उद्वेग के समय मनुष्य 'पूह्[2]' या 'पिश्' कह बैठता है अथवा अद्भुत दृश्य को देखने पर दर्शक-मंडली के मुख से 'ओह्' निकल पड़ता है।

(१) देखो—Interjectional.

(२) इस 'पूह-पूह' ध्वनि को लेकर ही इस सिद्धांत का पूह-पूह-वाद दुर्नाम प्रचलित हो गया है।

इस सिद्धांत पर पहली आपत्ति तो यही होती है कि ये विस्मयादिबोधक अथवा मनोभावाभिव्यंजक शब्द वास्तव में भाषा[1] के अंतर्गत नहीं आते, क्योंकि इनका व्यवहार तभी होता है जब वक्ता या तो बोल नहीं सकता अथवा बोलना नहीं चाहता। वक्ता के मनोभाव उसकी इंद्रियों को इतना अभिभूत कर देते हैं कि वह बोल ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि ये विस्मयादिबोधक भी प्राय: सांकेतिक और परंपराप्राप्त होते हैं। भिन्न भिन्न देश और जाति के लोग उन्हीं भावों को भिन्न भिन्न शब्दों से व्यक्त करते हैं। जैसे दु:ख में एक जर्मन व्यक्ति 'औ' कहता है, फ्रेंचमैन 'अहि' कहता है, अँगरेज 'ओह' कहता है और एक हिंदुस्तानी 'आह' या 'ऊह्' कहकर कराहता है। अर्थात् आज जो विस्मयादिबोधक शब्द उपलब्ध हैं वे सर्वथा स्वाभाविक न होकर प्राय: सांकेतिक ही हैं।

(५) यो-हे-हो-वाद

एक तीसरा सिद्धांत यो-हे-हो-वाद कहलाता है। इसके जन्मदाता नायर (Noire) का कहना है कि जब मनुष्य कोई शारीरिक परिश्रम करता है तो श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाना स्वाभाविक और विश्राम देनेवाला होता है। इसी कारण स्वर-तंत्रियों में भी कंपन होने लगता है और जब आदि काल में लोग मिलकर कुछ काम करते थे तो स्वभावत: उस काम का किसी ध्वनि अथवा किन्हीं ध्वनियों के साथ संसर्ग हो जाता था। प्राय: वही ध्वनि उस क्रिया अथवा कार्य की वाचक हो जाती थी।

मैक्समूलर ने एक चौथे मत का प्रचार किया था। उसके अनुसार शब्द और अर्थ में एक स्वाभाविक संबंध होता है। "समस्त प्रकृति में यह नियम पाया जाता है कि चोट लगने पर प्रत्येक

(१) देखो—" The interjection is the negation of language " (Benfey, as Quoted by Jesperson in his Language, p. 415.)

वस्तु अनुरणन करती है। प्रत्येक पदार्थ में अपनी अनोखी आवाज (झंकार) होती है।" आदिकाल में मनुष्य में भी इसी प्रकार की एक स्वाभाविक विभाविका शक्ति थी जो बाह्य अनुभवों के लिए वाचक शब्द बनाया करती थी। मनुष्य जो कुछ देखता-सुनता था, उसके लिए आपसे आप ध्वनि-संकेत अर्थात् शब्द बन जाते थे। जब मनुष्य की भाषा विकसित हो गई तब उसकी वह सहज शक्ति नष्ट हो गई। विचार करने पर यह मत इतना सदोष सिद्ध हुआ कि स्वयं मैक्समूलर ने पीछे से इसका त्याग कर दिया था।

(६) डिंग-डैंग-वाद

मैक्समूलर के इस वाद की चर्चा अब मनोरंजन के लिए ही की जाती है। पर इसके पहले के तीन मत अंशत: सत्य हैं यद्यपि उनमें सबसे बड़ा दोष यह है कि एक सिद्धांत एक ही बात को अति प्रधान मान बैठता है, इससे विचारशील विद्वान् और 'स्वीट' जैसे वैयाकरण इन तीनों का समन्वय करना अच्छा समझते हैं। वे भाषा के विकासवाद को तो मानते हैं पर उन्हें इसकी चिंता नहीं होती कि मनुष्य द्वारा उच्चरित पहला शब्द भों-भों था अथवा पूह्-पूह्। विचारणीय बात केवल इतनी है कि मनुष्य के आदिम शब्द अव्यक्तानुकरणमूलक भी थे, मनोभावाभिव्यंजक भी थे और साथ ही ऐसे भी अनेक शब्द बनते थे जो किसी क्रिया अथवा घटना के संकेत अथवा प्रतीक थे। ये संकेत लोग बनाते नहीं थे पर वे कई कारणों से बन जाते थे। इसी से स्वीट[1] ने आदिम भाषा के शब्दों के तीन भेद किये हैं—अनुकरणात्मक, मनोभावाभिव्यंजक (अथवा विस्मयादिबोधक) और प्रतीकात्मक। पहली श्रेणी में संस्कृत के काक, कोकिल, कुक्कुट, अँगरेजी के Cuckoo, Cock, Buzz, Bang, Pop, हिंदी के कौआ, कोयल, घुग्घू,

विकासवाद का समन्वित रूप

(१) देखो—स्वीट-कृत हिस्ट्री आफ लैंग्वेज, पृ० ३३-३५ और उसी की न्यू इँग्लिश ग्रामर, पृ० १९२।

भनभन, हिनहिनाना, हें हें करना आदि अनेक शब्द आ जाते हैं। पशु-पक्षियों के नाम प्रायः अव्यक्तानुकरण के आधार पर बने थे और आज भी बनते हैं। यह देखकर कि चीन, मिस्र और भारत की भाषा सजातीय नहीं है तो भी उनमें बिल्ली जैसे पशु के लिए वही 'म्याउ' शब्द प्रयुक्त होता है, मानना ही पड़ता है कि प्रारंभिक भाषा में अव्यक्तानुकरणमूलक[1] शब्द अवश्य रहे होंगे।

आदि भाषा का दूसरा भाग मनोभावाभिव्यंजक शब्दों से बना होगा। जो मनुष्य मनुष्येतर प्राणियों और वस्तुओं की अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण करता था वह अवश्य ही अपने सहचर मनुष्यों के आह्, वाह् आदि विस्मयादिबोधकों का अनुकरण और उचित उपयोग भी करता होगा। इसी से धिक्कारना, दुरदुराना, वाहवाही, हाय हाय आदि के समान शब्द बने होंगे। आजकल की भाषा बनने की प्रवृत्ति से हम उस काल का भी कुछ अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार पुरानी अँगरेजी का शत्रुवाचक फेओंड[2] (feond) और आधुनिक अँगरेजी का fiend शब्द पाह् (pah), फाइ (fie) जैसे किसी विस्मयादिबोधक से बना मालूम पड़ता है। अरबी में 'वेल' (wail) आपत्ति के अर्थ में आता है और उसी से मिलता शब्द 'वो' विस्मयादिबोधक माना जाता है। इसी प्रकार अँगरेजी में 'वो' (woe) शब्द विस्मयादिबोधक होने के अतिरिक्त संज्ञावाचक भी है। ऐसी बातों से विस्मयादिबोधक शब्दों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

(१) इन अनुकरणमूलक शब्दों से एक बात पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। पहले के विद्वान् संस्कृत और गाथिक के स्वरों को देखकर कहा करते थे कि 'अ', 'इ' और 'उ' ये ही तीन मूल स्वर हैं, पर आधुनिक खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि ए, ओ भी मूल स्वर थे। यह साधारणीकरण और समीकरण पीछे की वस्तु है। यही बात अनुकरणमूलक शब्दों की परीक्षा से भी मालूम पड़ती है।

(२) कई लोग संस्कृत की 'पी' (द्वेष करना) धातु से इसका संबंध जोड़ते हैं। देखो—Sweet's History of Language, p. 35.

इन दोनों सिद्धांतों में कोई वास्तविक भेद नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार पहले के अनुसार जड़ वस्तुओं और चेतन प्राणियों की अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण शब्दों को जन्म देता है उसी प्रकार दूसरे के अनुसार मनुष्य की अपनी तथा अपने साथियों की हर्ष-विस्मय आदि की सूचक ध्वनियों द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं। दोनों में नियम एक ही काम करता है पर आधार का थोड़ा सा भेद है, एक बाह्य जगत् को प्राधान्य देता है, दूसरा मानस जगत् को। दोनों प्रकार के ही शब्द वर्तमान कोषों में पाए जाते हैं और भाषा के विकास की अन्य अवस्थाओं में—जिनका इतिहास हम जानते हैं—भाषा में शब्द अव्यक्तानुकरण और भावाभिव्यंजन, दोनों कारणों से बनते हैं; अतः इन दोनों सिद्धांतों का व्यापक अर्थ लेने से दोनों एक दूसरे के पूरक सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि अनुकरण से किसी ध्वनि का बिलकुल ठीक ठीक नकल करने का अर्थ न लेना चाहिए। वर्णात्मक शब्द में अव्यक्त ध्वनि का—चाहे वह किसी पशु-पक्षी की हो अथवा किसी मनुष्य की—थोड़ा सादृश्य मात्र उस वस्तु का स्मरण करा देता है।

तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक होते हैं। स्वीट ने इस भेद को बड़ा व्यापक माना है। उन दो भेदों से जो शब्द शेष रह जाते हैं वे प्रायः सब इसके अंतर्गत आ जाते हैं। सचमुच ये प्रतीकात्मक शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण और मनोरम होते हैं। जैसे लैटिन की 'बिबेरे', संस्कृत की 'पिबति', हिंदी की 'पीना' जैसी क्रियाएँ इस बात का प्रतीक हैं कि आदिम मनुष्य पीने में किस प्रकार भीतर को साँस खींचता था। इसी से तो 'ब' और 'प' के समान ओष्ठ्य वर्ण इस क्रिया के ध्वनि-संकेत बन गये। अरबी भाषा की 'शरब' (पीना) धातु में भी प्रतीकवाद ही काम करता देख पड़ता है। उसी से हिंदी का 'शर्बत' या अँगरेजी का 'Sherbet' निकला है। इसी प्रकार यह भी कल्पना होती है कि किसी समय हस्तादि से दाँत, ओष्ठ, आँख

आदि की ओर संकेत करने के साथ ही ध्यान आकर्षित करने के लिए आदि-मानव किसी ध्वनि का उच्चारण करता होगा पर धीरे धीरे वह ध्वनि ही प्रधान बन गई। जैसे दाँत की ओर संकेत करते हुए मनुष्य अअ, आ, अत् अथवा आत् जैसी विवृत ध्वनि का उच्चारण करता होगा, इसी से वह ध्वनि-संकेत अत् अथवा 'अद' के रूप में दाँत, और दाँत से खाना आदि कई अर्थों के लिए प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत के 'अद्' और दंत, लैटिन के 'edere' (eat) और dens (tooth) आदि शब्द इसी प्रकार बन गये।

अनेक सर्वनाम भी इसी प्रकार बने होंगे। अँगरेजी के दी (the), दैट (that) = ग्रीक के टो (to), अँगरेजी के thou, लैटिन के तू और हिंदी के तू आदि निर्देशवाचक सर्वनामों से ऐसा मालूम पड़ता है कि अँगुली से मध्यम पुरुष की ओर निर्देश करते हुए ऐसी संवेदनात्मक ध्वनि जिह्वा से निकल पड़ती होगी। इसी प्रकार यह-वह के लिए कुछ भाषाओं में 'इ' और 'उ' से निर्देश किया जाता है, 'दिस' और 'दैट', 'इदम्' और 'अदस्' जैसे सभ्य भाषाओं के शब्दों में भी सामीप्य और दूरी का भाव प्रकट करने के लिए स्वर-भेद देख पड़ता है। इस प्रकार निर्देश के कारण स्वरों का बदलना आज की कई असभ्य जातियों में देख पड़ता है। इसी के आधार पर अक्षरावस्थान[1] (vowel-gradation) का अर्थ भी समझ में आ सकता है। अँगरेजी में Sing, Sang और Sung में अक्षर (= स्वर) अर्थ-भेद के कारण परिवर्तित हो जाता है। इसे अक्षरावस्थान कहते हैं और इसका कारण कई विद्वान् प्रतीकवाद को ही समझते हैं।

(१) Vowel-gradation, एब्लाउत अथवा अक्षरावस्थान का इसी ग्रंथ में आगे वर्णन आवेगा। अधिक विस्तार के लिए देखो—Comparative Philology by J.M. Edmonds, pp. 150-161; (और वैदिक अक्षरावस्थान का विवेचन Vedic Grammar by Macdonell में मिलेगा)। इस अक्षरावस्थान का कारण स्वर-परिवर्तन माना जाता है, पर उस स्वर-परिवर्तन में भी प्रतीकवाद की झलक मिलती है।

जैस्पर्सन[1] ने इस बात का बड़ा रोचक वर्णन किया है कि किस प्रकार बच्चे मामा, पापा, बाबा, ताता आदि शब्द अकारण ही बोला करते हैं। वे बुद्धिपूर्वक इनका व्यवहार नहीं करते पर मा-बाप उस बच्चे के मुख से निकले शब्दों को अपने लिए प्रयुक्त समझ लेते हैं। इस प्रकार ये ध्वनियाँ मा अथवा बाप का प्रतीक बन जाती हैं। इसी से ये शब्द प्रायः समस्त संसार की भाषाओं में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं और यही कारण है कि वही 'मामा' शब्द किसी भाषा में मा के लिए और किसी में पिता के लिए प्रयुक्त होता है। कभी कभी यह प्रतीक-रचना बड़ी धुँधली भी होती है पर प्रायः शब्द और अर्थ के संबंध के मूल में प्रतीक की भावना अवश्य रहती है।

इस त्रिविध रूप में प्रारंभिक शब्दकोष की कल्पना की जाती है। पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उत्पन्न तो बहुत से शब्द हो जाते हैं पर जो शब्द समाज की परीक्षा में योग्य सिद्ध होता है वही जीवनदान पाता है। जो मुख और कान, दोनों के अनुकूल काम करता है अर्थात् जो व्यक्त ध्वनि मुख से सुविधापूर्वक उच्चरित होती है और कानों को स्पष्ट सुन पड़ती है वही योग्य-तमावशेष के नियमानुसार समाज की भाषा में स्थान पाती है। यही मुखसुख और श्रवण-माधुर्य की इच्छा किसी शब्द को किसी देश और जाति में जीवित रहने देती है और किसी में उसका बहिष्कार अथवा वध करा डालती है।

पर यदि प्राचीन से प्राचीन उपलब्ध शब्दकोष देखा जाय तो उसका भी अधिकांश भाग ऐसा मिलता है जिसका समाधान इन तीनों उपर्युक्त सिद्धांतों से नहीं होता। इन परंपरा-प्राप्त शब्दों की उत्पत्ति का कारण उपचार[2] माना जाता है। शब्दों के विकास और विस्तार में उपचार का बड़ा हाथ रहता है। जो जाति जितनी

(१) देखो—Language by Jesperson, pp. 154-160.

(२) उपचार का संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में बड़ा व्यापक अर्थ होता है।

ही सभ्य होती है उसके शब्द उतने ही अधिक औपचारिक होते हैं। उपचार का साधारण अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना—किसी ध्वनि के मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उसी ध्वनि के संकेत से एक अन्य सदृश और संबद्ध अर्थ का बोध कराना। उदाहरणार्थ—आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों को जब पहले पहल पुस्तक देखने को मिली, वे उसे 'मूयूम' कहने लगे। 'मूयूम' उनकी भाषा में स्नायु को कहते हैं और पुस्तक भी उसी प्रकार खुलती और बंद होती है। अँगरेजी का pipe शब्द आज नल के अर्थ में आता है। पहले 'pipe' गड़रिये के बाजे के लिए आता था। बाइबिल के अनुवाद तक में पाइप 'वाद्य' के अर्थ में आया है, पर आज उसका अर्थ बिलकुल बदल गया है। इसी प्रकार 'पिक्यूलिअर' (peculiar)शब्द भी उपचार की कृपा से क्या से क्या हो गया है। पहले पशु एक शब्द था। वह संस्कृत की पश् धातु (Latin pango or Greek Pegnumi पेगनूमि) से बना है। पश् का अर्थ होता है बाँधना, फाँसना। इस प्रकार पहले पशु घरेलू और पालतू जानवर को कहते थे और हिंदी में आज भी पशु का वही प्राचीन अर्थ चलता है, पर इसके लैटिन रूप पैकस (pecus) से जिसका पशु ही अर्थ होता था पैकुनिआ (pecunia) बना जिसका अर्थ हुआ किसी भी प्रकार की संपत्ति। उसी से आज का अँगरेजी शब्द पैकुनिअरी (pecuniary = सांपत्तिक) बना है। पर उसी पैकुनिआ से पैकूलियम (peculium) बना और उसका अर्थ हुआ 'दास की निजी संपत्ति'। फिर उसके विशेषण पैकुलिअरिस (peculiarias) से फ्रेंच के द्वारा अँगरेजी का पिक्यूलिअर (peculiar) शब्द बना है। इसी प्रकार अन्य

वह कभी कभी लक्षणा का पर्याय समझा जाता है। अँगरेजी के metaphor का अर्थ भी इससे निकल आता है, पर आजकल कई लोग metaphor के लिए सादृश्य अथवा रूपक का व्यवहार करते हैं, पर उपचार का शास्त्रीय अर्थ उन शब्दों में नहीं है—cf. काव्य-प्रकाश।

शब्दों की जीवनी में भी उपचार की लीला देखने को मिलती है। पहले संस्कृत की व्यथ् और कुप् धातुएँ काँपने और चलने आदि भौतिक अर्थों में आती थीं। व्यथमाना[1] का अर्थ पृथिवी होता था; काँपती और हिलती हुई पृथिवी; और कुपित पर्वत का अर्थ होता था 'चलता-फिरता पहाड़'; पर कुछ दिन बाद उपचार से इन क्रियाओं का अर्थ मानसिक हो गया। इसी से लौकिक संस्कृत और हिंदी प्रभृति आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'व्यथा' और 'कोप' मानसिक जगत् से संबद्ध देख पड़ते हैं। इसी प्रकार रम् धातु का ऋग्वेद में 'ठिकाने आना' अथवा 'स्थिर कर देना' अर्थ था, पर धीरे धीरे इसका औपचारिक अर्थ 'आनंद देना' होने लगा। आज 'रमण', 'मनोरम' आदि शब्दों में रम् का वह पुराना स्थिर होनेवाला अर्थ नहीं है। स्थिर होने से विश्राम का सुख मिलता है; धीरे धीरे उसी शब्द में अन्य प्रकार के सुखों का भी भाव आ गया। ऐसे औपचारिक तथा लाक्षणिक प्रयोगों के संस्कृत तथा हिंदी जैसी भाषाओं में प्रचुर उदाहरण[2] मिल सकते हैं। इसी से हमें इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि शब्दकोष के अधिक शब्द उपर्युक्त अनुकरणात्मक आदि तीन भेदों के अंतर्गत नहीं आते। उन सबके कलेवर तथा जीवन को उपचार विकसित और परिवर्तित किया करता है।

यह तो शब्दकोष अर्थात् भाषा के भांडार के उद्भव की कथा है, पर उसी के साथ साथ भाषण की क्रिया भी विकसित हो रही थी।

(१) देखो—ऋग्वेद, मं० २, सू० १२, मंत्र २—यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।

(२) वैदिक काल के विक्रम, पाथ, प्रयत, रत्न, मृग, वर्ण, अर्थ, ईश्वर, पवित्र, तर्पण आदि शब्द हिंदी में बिलकुल भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह उपचार का ही प्रसाद है। व्यवहार और काव्य—दोनों में उपचार का अखंड राज्य रहता है। जब हमें उपचार का प्रभाव लक्षित नहीं होता, हम उस शब्द को रूढ़, परंपरागत अथवा देशज कहा करते हैं।

जब संसर्ग-ज्ञान बढ़ चला तो आदि मानव उनका वाक्य के रूप में प्रयोग भी करने लगे। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि पहले शब्द बने तब वाक्यों द्वारा भाषण का प्रारंभ हुआ। किंतु पहले किसी एक ध्वनि-संकेत का एक अर्थ से संसर्ग[1] हो जाने पर मनुष्य उस शब्द का वाक्य के ही रूप में प्रयोग कर सकते हैं। वह वाक्य आजकल के शब्दमय वाक्य जैसा भले ही न हो, पर वह अर्थ में वाक्य ही रहता है। बच्चा जब 'गाय' अथवा 'कौआ' कहता है तब वह एक पूरी बात कहता है अर्थात् 'देखो गाय आई' अथवा 'कौआ बैठा है'। वह जब 'दूध' अथवा 'पानी' कहता है, उसके इन शब्दों से दूध पिलाओ या चाहिए आदि पूरे वाक्यों का अर्थ लिया जाता है। आदिकाल के वाक्य भी ऐसे ही शब्द-वाक्य अथवा वाक्य-शब्द होते थे। कोई मनुष्य अँगुली से दिखलाकर कहता था 'कोकिल' अर्थात् वह कोकिल है अथवा कोकिल गा रही है। धीरे धीरे शब्दों के विस्तार ने हस्तादि चेष्टाओं का अर्थात् इंगित-भाषा का लोप कर दिया। आदिकाल में शाब्दिक भाषा की पूर्ति पाणि-विहार, अक्षिनिकोच आदि से होती थी, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसके अनंतर जब शब्द-भांडार बढ़ चला तब 'कोकिल गा' अथवा 'कोकिल गान' जैसे दो शब्दों के द्वारा भूत और वर्तमान आदि सभी का एक वाक्य से अर्थ लिया जाने लगा। इस प्रकार वाक्य के अवयव पृथक् पृथक् होने लगे। धीरे धीरे काल, लिंग आदि का भेद भी बढ़ गया। इस प्रकार पहले भाषा की कुछ ध्वनियाँ 'स्वान्तःसुखाय'[2] अथवा 'स्वात्माभिव्यञ्जनाय'[3] उत्पन्न होती हैं पर उनको भाषण का रूप

उपचार के विस्तृत विवेचन के लिए देखो आगे "अर्थातिशय अथवा अर्थ-विचार"।

(१) देखो—साहित्य-दर्पण।

(२) Self-amusement.

(३) Self-expression.

देनेवाली मनुष्य की समाज-प्रिय प्रकृति है। वह एकाकी[1] रह ही नहीं सकता। अकेले उसका मन ही नहीं लगता। वह साथी चाहता है। उनसे व्यवहार करने की चेष्टा में ही वह भाषण की कला को विकसित करता है, भाषा को सुरक्षित रखता है। भाषा की उत्पत्ति चाहे व्यक्तियों में आपसे[2] आप हो गई हो; पर भाषण की उत्पत्ति तो समाज में ही हो सकती है।

इस आदि मानव-समाज में शब्द और अर्थ का संबंध इतना काल्पनिक और धुँधला (दूर का) था कि उसे यदृच्छा[3] संबंध ही मानना चाहिए। इसी बात को भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों के ढंग से कहें तो प्रत्येक शब्द चाहे जिस अर्थ का बोध करा सकता है। सर्वे (शब्दा:) सर्वार्थवाचका:। एक शब्द में इतनी शक्ति है कि वह किसी भी अर्थ (=वस्तु) का बोध करा सकता है। अब यह लोकेच्छा पर निर्भर है, वह उसे जितना चाहे 'अर्थ' दे। इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि लोकेच्छा[4] शक्ति अथवा शब्दार्थ-संबंध की कर्त्री और नियामिका है। किस शब्द से किस नियत अर्थ का बोध होना चाहिए—इस संकेत को लोग ही बनाते हैं। यही भाषा की सांकेतिक अवस्था है। पर यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इस अवस्था में भी लोग सभा में इकट्ठे होकर भाषा पर शासन नहीं करते। समाज की परिस्थिति और आवश्यकता भाषा से अपने इच्छानुकूल काम करवा लेती है। ऐसे सामाजिक संगठन की कल्पना प्रारंभिक अवस्थाओं में नहीं हो सकती। यह बहुत पीछे के उन्नत युग की बात है कि वैयाकरणों

(१) 'एकाकी नारमत' उपनिषद्।

(२) देखो—'Social Origin of Speech' in Gardiner's Speech and Language, pp. 18-22.

(३) देखो—Sweet's N.E. Grammar :...the connection was often almost a matter of chance, p. 192.

(४) 'सांकेतिक' का प्रतिशब्द Conventional है।

और कोषकारों ने बैठकर भाषा का शासन अथवा अनुशासन किया। यह तो भाषा के यौवन की बात है। इसके पूर्व ही भाषा इतनी सांकेतिक और पारंपरिक हो गई थी कि शब्द और अर्थ का संबंध समाज के बच्चों और अन्य अनभिज्ञों को परंपरा द्वारा अर्थात् आप्त व्यक्तियों से ही सीखना पड़ता था। वह भाषा अब स्वयंप्रकाश नहीं रह गई थी।

इस प्रकार इस समन्वित विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार ध्वनियों के रूप में भाषा के बीज व्यक्ति में पहले से विद्यमान थे। समाज ने उन्हें विकसित किया, भाषण का रूप दिया और आज तक संरक्षित रखा। जहाँ तक इतिहास की साक्षी मिलती है समाज और भाषा की उन्नति का अन्योन्याश्रय संबंध रहा है।

साधारण विद्यार्थी और विशेषकर भाषा का वैयाकरण इस समन्वय के सिद्धांत से संतुष्ट हो जाता है। यही सिद्धांत आजकल सर्वमान्य सा हो रहा है, पर एक अध्यवसायी और जिज्ञासु सदा अपने सिद्धांत को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का यत्न किया करता है। वह उन तीनों सिद्धांतों के समन्वय से भी संतुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उनसे समस्त शब्द-भांडार की व्याख्या नहीं हो सकती और न वे भाषण की उत्पत्ति के विषय में ही कुछ कहते हैं। उन्होंने व्यक्तिवाद को अत्यधिक प्रधान मान लिया है। पर भाषा केवल शब्दों का समूह नहीं है, वह मानव-समाज में परस्पर व्यवहार और विनिमय का एक साधन है। सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि इन सब सिद्धांतों से ऐसी प्रतीति होती है कि भाषा की उत्पत्ति के समय तक मनुष्य बिलकुल मूक और मौन रहते थे—पशुओं के समान इंगित-भाषा का व्यवहार करते थे। यह बात विकासवाद के विरुद्ध जाती है। कोई भी इंद्रिय अथवा अवयव एकाएक उपयोग में आते ही पूर्ण विकसित नहीं हो जाता; धीरे धीरे व्यवहार में आने से ही वह विकसित होता है। इन्हीं सब आपत्तियों के कारण मूक अवस्था से वाचाल अवस्था की

कल्पना करने की पद्धति अच्छी नहीं प्रतीत होती। साधारण-तया खोज का विद्यार्थी ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ता है—वह जिसका पूर्ण ज्ञान रखता है उसकी परीक्षा के आधार पर उसके पूर्व की अवस्था का अथवा उसके मूल का अनुमान करता है। अतः भाषा की आदिम अवस्था का इतिहास जानने के लिए भाषा के ऐतिहासिक ज्ञान से लाभ उठाना चाहिए, भाषा के विकसित रूप के अध्ययन से उसके मूल की कल्पना करनी चाहिए। ओटो जैस्प-र्सन ने इसी नवीन[1] पद्धति का अनुसरण किया है। उसने बच्चों की भाषा, आदिम और असभ्य अवस्था में पाई जानेवाली जातियों की भाषा और उपलब्ध भाषाओं के इतिहास—इन तीन क्षेत्रों में खोज करके भाषा की उत्पत्ति का चित्र खींचने का प्रयास किया है। उसकी इस आधुनिक खोज से थोड़ा परिचित हो जाना आवश्यक है।

(८) खोज करने की पद्धति

जीव-विज्ञान के ज्ञाताओं का मत है कि एक व्यक्ति का विकास बिलकुल उसी प्रकार होता है जिस प्रकार एक मानव-जाति का। गर्भस्थ शिशु के विकास में वे सब अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं जिनमें से होकर मनुष्य का यह वर्त्तमान रूप विकसित हुआ है। इसी से अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि बच्चों की भाषा सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से भाषा की उत्पत्ति का रहस्य ज्ञात हो सकता है। पर ये विद्वान् इतना भूल जाते हैं कि बच्चा एक पूर्ण विकसित भाषा को सीखता है, उसे सिखानेवाले लोग भी विद्यमान रहते हैं अतः उसे केवल शब्दों (= ध्वनि-संकेतों) और उनके अर्थों के संसर्ग का ज्ञान मात्र आवश्यक होता है, पर भाषा की उत्पत्ति जानने के लिए तो यह भी जानना आवश्यक होता है कि आदिम शब्दों और बोध्य अर्थों में संसर्ग (अर्थात् संबंध) हुआ कैसे?

(१) देखो—अपने ग्रंथ Language में जैस्पर्सन ने इसी पद्धति का आश्रय लिया है।

बने हुए और उपस्थित संसर्ग का सीखना संसर्ग की उत्पत्ति के ज्ञान से सर्वथा भिन्न बात है। बच्चा पुराने संसर्ग का ज्ञान अर्जित करता है, अतः यदि आदिम भाषा का कुछ साम्य हो सकता है तो वह उस शिशु की भाषा से हो सकता है जो बिलकुल अबोध है, जो अपने सयानों की भाषा समझता भी नहीं। ऐसे शिशु की प्रारंभिक निरुद्देश्य किलकारियों और प्रलापों में कुछ प्राकृतिक भाषा की झलक मिलती है। इसी के साथ इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि बच्चे किस प्रकार अश्रुतपूर्व शब्द गढ़ लिया करते हैं।

इसी प्रकार असभ्य जातियों की भाषाओं की परीक्षा भी सावधान होकर करनी चाहिए। यद्यपि इन असभ्य और असंस्कृत भाषाओं में विकसित भाषा के पूर्व रूप का आभास मिलता है, तथापि उसे बिलकुल मूल रूप न समझ लेना चाहिए। यह न भूलना चाहिए कि असभ्य से असभ्य जाति की भाषा भी सैकड़ों अथवा सहस्रों वर्ष के विकास का फल होती है, अतः इस ढंग की खोज अन्य प्रकार से निश्चित सिद्धांतों का समर्थन करने के ही काम में लानी चाहिए।

इन दोनों पद्धतियों से अधिक फलप्रद होती है भाषाओं के इतिहास की समीक्षा। आधुनिक भाषाओं से प्रारंभ कर उनके उद्गमस्थान तक पहुँचने का यत्न करने से बहुत लाभ होने की संभावना रहती है। उदाहरणार्थ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की उनके अपभ्रंश रूपों से तुलना कर फिर और आगे बढ़कर प्राकृत और संस्कृत काल के रूपों की परीक्षा की जाय। फिर लौकिक संस्कृत से वैदिक संस्कृत की तथा वैदिक की अवेस्ता भाषा से तुलना करने के अनंतर जो निष्कर्ष निकले उसकी भारोपीय परिवार की ग्रीक, लैटिन आदि अन्य आठ भाषा-वर्गों के साथ तुलना करके बहुत से सिद्धांत स्थिर किये जा सकते हैं। इसी प्रकार आजकल की अँगरेजी को पुरानी अँगरेजी से और डैनिश को पुरानी नार्स भाषा से तुलना करके फिर उन दोनों की

मूल गाथिक भाषा से पुरानी अँगरेजी और नार्स की तुलना करते हुए वहाँ तक जाना चाहिए जहाँ तक कुछ भी सामग्री मिल सके। इस अध्ययन के आधार पर ऐसे व्यापक और सामान्य सिद्धांतों को बनाने का यत्न किया जा सकता है जो भाषा-सामान्य के विकास की प्रवृत्ति समझा सकें और साथ ही यह भी उद्योग करना चाहिए कि इसी ढंग से इतिहास के पूर्वकाल की भाषा की रूप-रेखा भी खींची जा सके। अंत में यदि हम किसी आदिम अवस्था की खोज कर सके तो अच्छा ही है और यदि हम अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रारंभ में भाषा का ऐसा रूप था जो भाषा नाम का भी अधिकारी नहीं है तो भी हमें संतोष होना चाहिए, क्योंकि ऐसी अवस्था से भी भाषा का विकास हो सकता है पर मौनावस्था से भाषा का प्रारंभ मानना सर्वथा असंगत है।

खोज का परिणाम

इस प्रकार के अध्ययन से सबसे पहली बात यह सिद्ध होती है कि आदिम अवस्था में भाषा की ध्वनि-संपत्ति विशेष थी। सभी प्रकार की—सहज और कठिन ध्वनियाँ उस काल की भाषा में थीं। धीरे धीरे केवल सहज और सामान्य ध्वनियाँ ही शेष रह गईं। उस आदिकाल के शब्दों में सुर की भी प्रधानता थी। खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि भारोपीय मूल भाषा में 'स्वर और व्यंजन' दोनों प्रकार की ध्वनियों के बाहुल्य के अतिरिक्त पद-स्वर और वाक्य-स्वर का भी प्राधान्य था। जंगली भाषाओं में आज भी पदस्वर अर्थात् 'सुर' की प्रधानता देखी जाती है। इससे सहज ही यह कल्पना होती है कि उत्पत्ति के समय भाषा अनेकाक्षर लंबे लंबे शब्दों से भरी रही होगी, उसकी वर्णमाला अधिक कठोर और क्लिष्ट रही होगी और उसमें सुर तथा गीत की मात्रा अधिक रही होगी।

रूप और रचना के संबंध में यह पता लगता है कि प्रारंभिक भाषा में आज की भाषा से कहीं अधिक रूप थे और उसकी रचना में भी अधिक जटिलता थी। धीरे धीरे उसमें समता और

सरलता आती गई और संयोग से वियोग की उत्पत्ति हुई। संयोग से यह न समझना चाहिए कि उसके पहले वियोगावस्था थी। प्रत्युत पीछे की वियोगावस्था की तुलना में उन पूर्वरूपों को संयुक्त ही कहना चाहिये। समस्त और विभक्ति-संपन्न भाषा विकास-काल में विभक्तियों का त्याग करती देख पड़ती है। विभक्ति-संपन्नता से विभक्ति-हीनता की ओर प्रवृत्ति सामान्य होती है। प्रारंभिक भाषा के शब्द ध्वनि और अर्थ दोनों में इतने जटिल होते थे कि प्रायः वाक्य और शब्द में भेद करना कठिन हो जाता था और उस अवस्था में नानारूपता इतनी अधिक थी कि अपवाद और व्यत्यय भी प्रचुर मात्रा में थे। इन सब बातों का समर्थन असभ्य भाषाओं के अध्ययन से भी होता है। अतः अब भाषाओं के आकृतिमूलक विकास की कल्पना उलट गई है। पहले के विद्वान् समझते थे कि पहले भाषा अयोगात्मक[1] अर्थात् धातु अवस्था में रहती है, धीरे धीरे वह योगात्मक अथवा प्रत्यय अवस्था में जाती है और अंत में उसका सविभक्तिक रूप उसके पूर्ण विकास का चिह्न होता है। पर आजकल प्रारंभ विभक्ति-युक्त अवस्था से माना जाता है और उसका अंत प्रायः अयोगात्मक अवस्था में होता है। भाषा के अध्ययन में 'प्रायः' वाली बात न भूलनी चाहिए।

शब्द-भांडार की दृष्टि से आदिकालीन भाषा अधिक संपन्न थी—उसमें एक ही अर्थ के लिए अनेक ध्वनि-संकेत अर्थात् शब्द थे, पर अमूर्त पदार्थों के लिए निश्चय ही शब्द नहीं थे और न विकसित संस्कृति के बोधक शब्द ही उसमें थे। तथापि जितनी ही प्राचीन भाषा होती है उसके शब्दों में उतनी ही अधिक

(१) हिंदी में Isolating stage के वियोग, अयोग, विच्छेद अथवा धातु अवस्था, Agglutinating के योगात्मक, यौगिक, संयोग अथवा प्रत्यय अवस्था और Inflexional के विकृतावस्था अथवा विभक्ति-अवस्था आदि अनेक नाम चलते हैं।

कविता मिलती है अतः आदिकालीन भाषा में औपचारिक प्रयोग बहुत थे। सभ्यता शब्दों को प्रायः सुव्यवस्थित और सूखा बना देती है। अतः काव्य-भाषा गद्य की भाषा से प्राचीनतर मानी जाती है।

इसी प्रकार बच्चे के अध्ययन से यह भी कल्पना की जाती है कि भाषा को आदि मानव की क्रीड़ा ने जन्म दिया। जब वह किलकते शिशु की भाँति मस्त होकर गाने लगता था, वह अनेक व्यक्त ध्वनियों को जन्म देता था। इसी से विद्वान् कहते हैं कि मनुष्यों ने आपस में विचार-विनिमय करने के बहुत पहले अपने भावों को गाना सीख लिया था; और जिस प्रकार प्रारंभिक चित्र-लेखन से लेखन-कला का विकास हो गया उसी प्रकार प्रारंभिक गान से बोलने की कला का विकास सहज ही हो गया। यदि इसी उपमा को और बढ़ावें तो जिस प्रकार प्रारंभिक लेखन-प्रणाली में एक चित्र अथवा संकेत से एक वाक्य अथवा उससे भी अधिक का बोध होता था, पीछे धीरे धीरे एक शब्द के लिए एक संकेत बना और अंत में एक एक ध्वनि अर्थात् वर्ण के लिए संकेत की व्यवस्था हो गई, उसी प्रकार भाषा और भाषण की प्रवृत्ति भी विग्रह और विश्लेषण की ओर रही है। पहले एक ध्वनि बहुत कुछ एक वाक्य का काम देती थी। पीछे वाक्य के अवयव अलग होते होते शब्द और वर्ण के रूप में आ गये।

अब इन्हीं सब खोजों के आधार पर यह प्रश्न हल करना है कि भाषण की उत्पत्ति कैसे हो गई। प्रारंभ में मनुष्य क्रीड़ा और विनोद के लिए गाया करता हो, पर भाषण करने की—ध्वनि-संकेतों द्वारा व्यवहार करने की—प्रवृत्ति कैसे हुई? सार्थक शब्दों की उत्पत्ति कैसे हो गई? कुछ अनुकरणमूलक और विस्मयादि-बोधक शब्द अनायास बन सकते हैं, पर शेष शब्दकोष कैसे बना? प्रश्न बड़ा जटिल और कुटिल है। मनुष्य का तथा उसकी

कलाओं का विकास प्रायः जटिल और कुटिल मार्ग से ही हुआ है। अतः इस विषय में यह कल्पना की जाती है कि पहले मूर्त्त पदार्थों और विशेष व्यक्तियों के नाम बनते हैं और फिर धीरे धीरे जातिवाचक और भाववाचक नामों का विकास होता है। भाषाओं का इतिहास भी इस प्रकार के विकास का समर्थन करता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि भाषण वाक्य से प्रारंभ होता है और आदिकालीन मनुष्य बच्चे के समान उस वाक्य का प्रसंग और संकेत आदि के सहारे अर्थ लगा लेता था। अतः हम कह सकते हैं कि भाषा का प्रारंभ सस्वर और अखंड ध्वनि-संकेतों से होता है। ये ध्वनि-संकेत जो न पूरे वाक्य ही थे और न पूरे शब्द ही—एक व्यक्ति, एक वस्तु अथवा एक घटना का बोध कराते थे। इस समय भाषा बड़ी जटिल, यादृच्छिक और कठिन थी। विकसित होते होते वह स्पष्ट, सुषम, व्यवस्थित और सहज हो गई और हो रही है। कोई भाषा अभी तक पूर्ण नहीं हो पाई है, क्योंकि जो भाषा संस्कृत और सभ्य बनकर—कवियों और वैयाकरणों की सहायता से व्यवस्थितबुद्धि होकर—पूर्ण होने का यत्न करती है उससे इस अपूर्ण और परिवर्तनशील नर-समाज से पटती ही नहीं; वह तो सदा भाषा को अपनी अँगुलियों के इशारे पर नचाना चाहता है।

इस विवेचन में हम यह भी देख चुके हैं कि भाषा चाहे कुछ अंश तक व्यक्तिगत हो, पर भाषण तो सामाजिक और सप्रयोजन वस्तु है और विचार करने पर उसके तीन प्रयोजन स्पष्ट देख पड़ते हैं। प्रथम तो वक्ता श्रोता को प्रभावित करने के लिए बोलता है। विशेष वस्तुओं की ओर ध्यान आकर्षित करना भाषण का दूसरा प्रयोजन होता है। इन मुख्य प्रयोजनों ने भाषण को जन्म दिया, पर पीछे से भाषण का संबंध विचार से सबसे अधिक घनिष्ट हो गया। भाषण में विचार की कल्पना पहले से ही विद्यमान रहती है, पर यह भाषण की क्रिया

भाषण के प्रयोजन

का ही प्रसाद है जो मनुष्य विचार करना[1] सीख सका है और भाषा इन सब प्रकार के भाषणों की मा मानी जाती है, पर मा का विकास समझने के लिए उसकी बेटी को समझना आवश्यक होता है। किसी किसी समय तो अध्ययन में भाषा से भाषण अधिक सहायक होता है।

---

(१) देखो—A. H. Gardiner's Speech & Language, pp. 326-27.

तीसरा प्रकरण

भाषा का आकृतिमूलक वर्गीकरण

कुछ दिन पहले जो कल्पना असंगत प्रतीत होती थी वही आज सर्वथा सत्य और संगत मानी जाती है। ह्निटने[1] ने एक दिन कहा था कि वाक्य से भाषण का प्रारंभ मानना अनर्गल और निराधार है; शब्दों के विना वाक्य की स्थिति ही कैसी? पर आधुनिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भाषा के आदिकाल में वाक्यों अथवा वाक्य-शब्दों का ही प्रयोग होता है। बच्चे की भाषा सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यही बात स्पष्ट होती है कि वह पहले वाक्य ही सीखता है, वाक्य ही बोलता है और वाक्यों में ही सोचता-समझता है। धीरे धीरे उसे पदों और शब्दों का पृथक् पृथक् ज्ञान होता है। असभ्य और आदिम भाषाओं की परीक्षा ने भी इसी बात की पुष्टि की है कि भाषा पहले जटिल, संयुक्त तथा समस्त रहती है, धीरे धीरे उसका विकास होता है। उस प्रारंभिक काल के वाक्य निश्चय ही आजकल के ऐसे शब्दों-वाले वाक्य न रहे होंगे, जिनके पृथक् पृथक् अवयव देखे जा सकें, पर वे थे संपूर्ण विचारों के वाचक वाक्य ही। अर्थ के विचार से वे वाक्य ही थे, रूप की दृष्टि से वे भले ही एक ध्वनि-समूह जैसे रहे हों। धीरे धीरे भाषा और भाषण में वाक्य के अवयवों का विकास हुआ तथा वाक्यों का शब्दों में विश्लेषण संभव हुआ। यही स्थिति हमारे सामने है। आज[2] वाक्य और शब्द दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत हो चुकी है। साधारण व्यवहार में वाक्य एक

(१) Cf. American Journal of Philology, 338.

(२) Cf. Gardiner's Speech and Language, pp. 120-21.

शब्द-समूह ही माना जाता है। इस प्रकार यद्यपि व्यावहारिक तथा शास्त्रीय दृष्टि से शब्द भाषा का चरम अवयव होता है, तथापि तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य ही भाषा का चरमावयव सिद्ध होता है; स्वाभाविक भाषा अर्थात् भाषण में वाक्य से पृथक्[1] शब्दों की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं होती। एक एक शब्द में सांकेतिक अर्थ होता है, पर उनके पृथक् प्रयोग से किसी बात अथवा विचार का बोध नहीं हो सकता। केवल 'गाय' अथवा 'राम' कहने से कोई भी अभिप्राय नहीं निकलता। यद्यपि ये सार्थक शब्द हैं तथापि जब ये 'गाय है' अथवा 'राम है' के समान वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं तभी इनसे श्रोता को वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान होता है; और भाषा के व्यवहार का प्रयोजन वक्ता के तात्पर्य का प्रकाशन ही होता है। उच्चारण के विचार से भी शब्दों का स्वतंत्र अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। स्वर और लहजे के लिए श्रोता की दृष्टि पृथक् पृथक् शब्दों पर न जाकर पूरे वाक्य पर ही जाती है। यद्यपि लिखने में शब्दों के बीच स्थान छोड़ा जाता है तथापि वाक्य के उन सब शब्दों का उच्चारण इतनी शीघ्रता से होता है कि एक वाक्य एक ध्वनि-समूह कहा जा सकता है। जिस प्रकार एक शब्द का विश्लेषण वर्णों में किया जाता है, उसी प्रकार एक वाक्य का विश्लेषण उसके भिन्न भिन्न शब्दों में किया जाता है, पर विश्लेषण का यह कार्य वैज्ञानिक का है, वक्ता का[2] नहीं। वक्ता एक वाक्य का ही व्यवहार करता है, चाहे वह 'आ', 'जा' और 'हाँ' के समान एक अक्षर अथवा एक शब्द से ही क्यों न बना हो।

वाक्य के इस प्राधान्य को मानकर समस्त भाषाओं का वाक्यमूलक[3] अथवा आकृतिमूलक[4] वर्गीकरण किया जाता है। सबसे

(१) देखो—शब्दशक्ति-प्रकाशिका, कारिका १२—वाक्यभावमवाप्तस्य... इत्यादि अथवा वाक्यपदीय—वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन। (१।७७)

(२) भारतवर्ष के शब्द-शास्त्रियों ने भी वाक्य-स्फोट को अखंड माना है। देखो—वैयाकरण भूषण।

(३) Cf. Syntactical.

(४) Morphological के लिए हिंदी में आकृतिमूलक, रूपा-

पहले संसार की भाषाओं की रूप-रचना का विचार कर लेना सुविधाजनक होता है, इसी से यह रूपात्मक अथवा रचनात्मक वर्गीकरण विद्वानों को इतना प्रिय हो गया है। आकृति तथा रचना की दृष्टि से वाक्य चार प्रकार के होते हैं—समास-प्रधान[1], व्यास-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति-प्रधान। वाक्यों का यह भेद वाक्य-रचना अर्थात् वाक्य और उसके अवयव शब्दों के संबंध के आधार पर किया जाता है।

वाक्यों के चार भेद;—

१ समास-प्रधान वाक्य

जिस वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि के वाचक शब्द एक होकर समास का रूप धारण कर लेते हैं उसे समस्त अथवा समास-प्रधान वाक्य कहते हैं। प्रायः ऐसे वाक्य एक समस्त शब्द के समान व्यवहृत होते हैं। जैसे—मैक्सिको भाषा में 'नेवत्ल', 'नकत्ल' और 'क' का क्रमशः 'मैं', 'मांस' और 'खाना' अर्थ होता है। अब यदि इन तीनों शब्दों का समास कर दें तो नी-नक-क एक वाक्य बन जाता है और उसका अर्थ होता है 'मैं मांस खाता हूँ' अथवा उसी को तीन भाग करके भी कह सकते हैं जैसे निक्क इन नकत्ल। इस वाक्य में 'निक्क' एक समस्त वाक्य है जिसका अर्थ होता है मैं उसे खाता हूँ। उसी के आगे उसी के सामानाधिकरण्य से नये शब्दों को रखने से एक दूसरा वाक्य बन जाता है। उत्तर अमेरिका की चेरोकी भाषा में भी ऐसी ही वाक्य-रचना देख पड़ती है; जैसे—नातन (= लाना), अमोखल (= नाव) और निन (= हम)

त्मक तथा रचनात्मक आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। 'वाक्यमूलक' नाम वाक्य पर जोर देता है और 'आकृतिमूलक' नाम में प्राचीन भाषा-शास्त्रियों की शब्द-प्रधानता का भाव भरा है। आज व्यवहार में दोनों संज्ञाएँ समान अर्थ देती हैं।

(१) Incorporating, Isolating, Agglutinating and Inflecting.

का एक समास-वाक्य बनाकर 'नाधोलिनिन' कहने से यह अर्थ होता है कि 'हमें (हमारे लिए) एक नाव लाओ'[१]।

दूसरे प्रकार के वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें प्रवृत्ति व्यास की ओर अधिक रहती है। उनके यहाँ धातु जैसे शब्दों का प्रयोग होता है।

व्यास-प्रधान वाक्य

सभी शब्द स्वतंत्र होते हैं। उनके संघात से ही एक वाक्य की निष्पत्ति हो जाती है। वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि का संबंध स्थान, निपात अथवा स्वर के द्वारा प्रकट किया जाता है। ऐसी वाक्य-रचना में प्रकृति[२] और प्रत्यय का भेद नहीं होता; फलतः रूपावतार अर्थात् काल-रचना और कारक-रचना का यहाँ सर्वथा अभाव रहता है। चीनी, तिब्बती, बर्मी, स्यामी, अनामी आदि भाषाओं की वाक्य-रचना प्रायः ऐसी ही व्यास-प्रधान होती है। जैसे चीनी भाषा के 'न्गो ता नी' का अर्थ होता है—मैं तुम्हें मारता हूँ। न्गो और नी का क्रमशः मैं और तुम अर्थ होता है। यदि इन्हीं शब्दों का स्थान बदलकर कहें 'नी ता न्गो' तो वाक्य का अर्थ होगा—तुम मुझे मारते हो। इसी प्रकार 'कु ओक ता' का हिंदी अनुवाद होता है 'राज्य बड़ा है' पर क्रम उलट जाने पर 'ता कु ओक' का अर्थ होता है बड़ा राज्य। इस प्रकार ऐसे व्यास-प्रधान वाक्यों में स्थान-भेद से अर्थ-भेद होता है, शब्द के रूपों में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् शब्द सभी अव्यय होते हैं। कभी कभी इन शब्दों के अर्थ में निपात भी भेद उत्पन्न करता है जैसे चीनी में 'वांग पाओ मिन' = राजा लोगों की रक्षा करता है, पर 'वांग पाओ ची मिन' का अर्थ होता है राजा

(१) इन उदाहरणों से यह न समझना चाहिए कि ये शब्द इकट्ठे होकर वाक्यों को जन्म देते हैं प्रत्युत उन वाक्यों के प्रयोक्ता अन्वय व्यतिरेक द्वारा इन स्वतंत्र शब्दों की कल्पना कर लेते हैं। वास्तव में ऐसी भाषाओं में व्यस्त शब्दों का स्वतंत्र व्यवहार क्वचित् ही देखा जाता है।

(२) शब्द के साध्य अंश को प्रकृति और साधक अंश को प्रत्यय कहते हैं। विशेष विवेचन के लिए आगे देखो—'आकृतिमूलक विकास'।

के द्वारा रक्षित लोग। 'ची' संबंधवाचक निपात है; 'वांग पाओ' का अर्थ होता है राजा की रक्षा; इस प्रकार पूरे वाक्य का अर्थ होता है 'राजा की रक्षा के लोग' अर्थात् 'राजा द्वारा रक्षित लोग'। यहाँ स्पष्ट देख पड़ता है कि वही 'पाओ' स्थान और प्रसंग के अनुसार क्रिया और संज्ञा दोनों हो जाता है; रूप में कोई विकार नहीं होता। 'वांग' भी (राजा) कर्त्ता, संबंध आदि सभी अर्थों में आ सकता है। 'ची' के समान निपातों के बिना भी व्याकरणिक संबंध दिखाया जाता है। 'वांग पाओ' (राजा की रक्षा) इसका निदर्शन है। ऐसे वाक्यों में वाक्य-स्वर भी बड़ा अर्थ-भेद उत्पन्न करता है। जैसे—'क्वेइ कोक' का उच्चारण करने में यदि 'इ' पर उदात्त स्वर रहता है तो उसका अर्थ होता है 'दुष्ट देश' और यदि उसी 'इ' पर अनुदात्त रहता है तो उसका 'मान्य' अथवा 'विशिष्ट' देश अर्थ होता है।

३ प्रत्यय-प्रधान वाक्य

तीसरे प्रकार के वाक्यों में प्रत्ययों की प्रधानता रहती है। व्याकरण के कारक, लिंग, वचन, काल आदि के सभी भेद प्रत्ययों द्वारा सूचित किये जाते हैं। ऐसे वाक्यों के शब्द न तो बिलकुल समस्त ही होते हैं और न बिलकुल पृथक् पृथक्। शब्द सभी पृथक् पृथक् रहते हैं, पर कुछ प्रत्यय उनमें लगे रहते हैं और वे ही उनको दूसरे शब्दों से तथा संपूर्ण वाक्य से जोड़ते हैं। ऐसे वाक्य में एक शब्द से अनेक प्रत्यय लगाकर अनेक भिन्न भिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। उदाहरणार्थ बांटू परिवार की काफिर भाषा में "हमारा आदमी देखने में भला है"=उमुंतु वेतु ओमुचिल उयवोनकल। इसी का बहुवचन करने पर 'अवंतु वेतु अवचिल वयवोनकल' हो जाता है। यहाँ ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'न्तु' (आदमी), तु (हमारा), चिल (प्रियदर्शन अथवा देखने में भला) और यवोनकल (देख पड़ता है) शब्दों की प्रकृतियाँ हैं; उनको तनिक भी विकृत न करते हुए भी प्रत्यय अपना कारक और वचन का भेद दिखला

रहे हैं। इसी प्रकार टर्की भाषा में कारक, वचन आदि प्रत्येक व्याकरणिक कार्य के लिए पृथक् पृथक् प्रत्यय हैं, जैसे 'एव' का अर्थ घर होता है। बहुवचन का प्रत्यय जोड़ देने से 'एव लेर' (अनेक घर) बन जाता है; उसी में 'मेरा' का वाचक प्रत्यय जोड़ देने से एवलेरिम (मेरे घर) बन जाता है। इस शब्द की कारक-रचना देख लेने से प्रत्यय-प्रधानता स्पष्ट झलक जाती है।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	एव	एव-लेर
कर्म	एव-ई	एव-लेर-ई
संप्रदान	एव-ए	एव-लेर-ए
अपादान	एव-देन	एव-लेर-देन
संबंध	एव-इन	एव-लेर-इन
अधिकरण	एव-दे	एव-लेर-दे

इस प्रकार की प्रत्यय-प्रधानवाक्यों वाली भाषा में व्याकरण के नियम बड़े सरल, सुबोध और सुस्पष्ट होते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है मानो टर्की जैसी भाषा विद्वानों द्वारा गढ़ी कृत्रिम भाषा हो[1]।

६ विभक्ति-प्रधान वाक्य

चौथे प्रकार के वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें शब्द का परस्पर संबंध—उनका कारक, वचन आदि का व्याकरणिक संबंध—विभक्तियों द्वारा प्रकट किया जाता है। विभक्तियाँ परतंत्र और विकृत प्रत्यय कही जा सकती हैं। विभक्ति-प्रधान वाक्य में प्रत्यय संबंध का ज्ञान कराते हैं, पर वे स्वयं अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इसी से उनके इस विकृत रूप को विभक्ति[2] कहना अधिक अच्छा होता है। ऐसी विभक्ति-प्रधान

(१) Cf. Maxmuller's Science of Language, vol. 1. pp. 421-22.

(२) प्रत्यय का धात्वर्थ होता है किसी के प्रति जाना और विभक्ति का अर्थ होता है उसी का विभाग अथवा टुकड़ा। यद्यपि संस्कृत व्याकरण में विभक्तियाँ भी प्रत्यय के अंतर्गत मानी जाती हैं तथापि अर्थ और विज्ञान की दृष्टि से प्रत्यय में स्वतंत्रता और विभक्ति में परतंत्रता स्पष्ट देख पड़ती है।

वाक्य-रचना संस्कृत, अरबी आदि में प्रचुर मात्रा में मिलती है; जैसे 'अहं ग्रामं गतवान्' इस वाक्य में कारक अथवा लिंग के द्योतक प्रत्यय उनकी प्रकृति से अलग नहीं किये जा सकते। ऐसी रचना में अपवाद और व्यत्यय का साम्राज्य रहता है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि शब्द व्यावहारिक भाषा अर्थात् भाषण की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखते। उनकी रूप-रचना का वर्णन वाक्य-रचना में ही अंतर्भूत हो जाता है, पर वैज्ञानिक दृष्टि से शब्दों का भी इन चार भेदों में वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ शब्द एकाक्षर धातु के समान होते हैं, वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी अव्यय रहते हैं। कुछ शब्दों की रचना में प्रकृति और प्रत्यय का योग स्पष्ट देख पड़ता है। कुछ शब्दों की रचना में यह प्रकृति-प्रत्यय का योग विद्वानों की सूक्ष्म दृष्टि ही देख पाती है। अंत में ऐसे समस्त पद होते हैं जिनमें अनेक पद मिले रहते हैं। पहले प्रकार के शब्द धातु, प्रातिपदिक, एकाक्षर, निर्योग अथवा रूढ़ कहे जा सकते हैं; दूसरे प्रकार के शब्द यौगिक, संयोग-प्रधान, व्यक्तयोग अथवा प्रत्यय-प्रधान कहे जा सकते हैं; तीसरे प्रकार के शब्द विकारी, विकार-प्रधान, प्रकृति-प्रधान अथवा विभक्ति-प्रधान और चौथे प्रकार के शब्द संघाती, समस्त अथवा वाक्य-शब्द कहे जा सकते हैं।

शब्दों का चतुर्विध विभाग

साधारण दृष्टि से देखने पर इन चार प्रकार के शब्दों में विकास की चार अवस्थाएँ देख पड़ती हैं। पहले शब्द निर्योग अथवा धातु अवस्था में रहता है। थोड़े दिनों में कुछ शब्द घिसकर प्रत्यय बन जाते हैं और वे अकेले वाचक न होकर दूसरे शब्दों के साथ संयुक्त होकर उनके विशेष अर्थों का द्योतन करते हैं। इस अवस्था में प्राप्त शब्द को प्रत्यय-प्रधान कहते हैं क्योंकि उसकी विशेषता का द्योतक प्रत्यय

विकास की कल्पना

होता है। इसी अवस्था का अतिरेक[1] विभक्ति को जन्म देता है। जब प्रत्यय इतना परतंत्र हो जाता है कि प्रकृति में बिलकुल लीन हो जाता है और उसके कारण प्रकृति में भी कुछ विकार आ जाता है तब शब्द की विभक्ति-प्रधान अथवा विकृति-प्रधान अवस्था मानी जाती है। इस विभक्ति अवस्था का अतिरेक[2] समस्त शब्द में मिलता है। यह अंतिम समासावस्था शब्द की पूर्णावस्था सी प्रतीत होती है। जैसे 'राम' धातु अवस्था में, 'रामसहित' अथवा 'रामवत्' प्रत्यया-वस्था में, संस्कृत रूप 'रामाय' विभक्ति अवस्था में और 'अस्मि'[3] समासावस्था में माना जा सकता है। इसी प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार के वाक्यों में भी विकास की चार अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं। इसी कारण प्राचीन भाषा-शास्त्री चीनी भाषा को आदिम और अविकसित अवस्था का निदर्शन माना करते थे, पर आधुनिक खोजों ने इस क्रमिक विकास की कल्पना को निराधार[4] सिद्ध कर दिया है। अब तो स्यात् उसके विपरीत यह कहा जाना अधिक युक्तियुक्त होगा कि भाषा पहले समासावस्था में रहती है और धीरे धीरे विभक्ति और प्रत्यय की अवस्था में से होती हुई व्यास-प्रधान हो जाती है। वैज्ञानिकों ने इतना कहने का भी साहस नहीं किया है; वे केवल यह कहते हैं कि संसार की भाषाओं में चार प्रकार की वाक्य-रचना और चार प्रकार की शब्द-रचना देख पड़ती है, अतः रचना अथवा आकृति के आधार पर भाषाओं

(१) Cf. 'agglutination run mad' Sweet' Hist. of Lang. p. 65.

(२) Cf. 'incorporation or inflection run madder still.' ibid.

(३) 'अस्मि' का हिंदी भाषांतर होता है 'मैं हूँ' अर्थात् इस क्रिया में सर्वनाम भी छिपा रहता है और उद्देश्य और विधेय दोनों के अंतर्भूत होने से उसे वाक्य-शब्द कहा जा सकता है।

(४) देखो—Jesperson. p. 367-387. (1923 edition).

का चतुर्विध स्थूल वर्गीकरण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त और कुछ कहना आपत्ति बुलाना है।

भाषा-चक्र की कल्पना का निराकरण

इसी प्रकार पहले यह भी कहा जाता था कि भाषा एक बार वियोग से संयोग की ओर—व्यवहिति से संहिति की ओर—जाती है और फिर घूमकर संयुक्त और संहित भाषा व्यासोन्मुख हो जाती है। इस प्रकार भाषा-चक्र सतत घूमा करता है। पर यह काव्य-कल्पना ऐतिहासिक खोजों से पुष्ट नहीं हो सकी है, अतः विना आपत्ति के केवल इतना कहा जा सकता है कि भाषा की सामान्य प्रवृत्ति संहिति से व्यवहिति की ओर रहती है। भाषा प्रारंभिक काल में जटिल, समस्त और स्थूल रहती है; धीरे धीरे वह सरल, व्यस्त, सूक्ष्म और सुकुमार होती जाती है। इतिहास और विज्ञान एक से बिखरकर अनेक हो जाने की ही साक्षी देते हैं। यद्यपि अपवादों की भी कमी नहीं है अर्थात् यद्यपि ऐसे शब्दों का भी इतिहास उपलब्ध है जिनकी रचना संयोग और विकार से स्पष्ट देखी जाती है तथापि उनकी मात्रा अनुपात में इतनी अल्प होती है कि उन्हें अपवाद ही माना जा सकता है, सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक नहीं। यदि कोई ऊँची पहाड़ी से नीची भूमि की ओर उतरना प्रारंभ करता है तो कभी कभी ऊँचे जाकर फिर नीचे की ओर उतरता है; पर उसका मार्ग में इस प्रकार कहीं कहीं ऊपर की ओर चला जाना उसके अवतरण की प्रवृत्ति का ही द्योतक होता है, न कि किसी विपरीत कार्य का।

संहिति से व्यवहिति

भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसका ज्वलंत उदाहरण हैं कि किस प्रकार पहले वे संहिति-प्रधान थीं और पीछे धीरे धीरे पद-प्रधान अर्थात् व्यवहिति-प्रधान होती गईं। लिथुआनिअन भाषा आज भी पूर्ण रूप से संहित कही जा सकती है। उसकी तुलना वैदिक संस्कृत से की जा सकती है। उसकी आकृति और रचना कोई तीन हजार वर्ष

से ऐसी ही अपरिवर्तित और स्थिर मानी जाती है। इसका कारण देश की भौगोलिक स्थिति है। लिथुआनिआ की भूमि बड़ी आर्द्र और पंकिल है, दुर्लंघ्य पर्वतों के कारण आक्रमणकारी भी वहाँ जाने की इच्छा नहीं करते। उसका समुद्रतट भी व्यापार के काम का नहीं है; और न वहाँ की कोई उपज ही किसी व्यापारी अथवा विजेता के लिए प्रलोभन का कारण बन सकती है। इस विनिमय और संघर्ष के अभाव ने ही लिथुआनिअन भाषा को ऐसा अक्षुण्ण और अक्षत सा रहने दिया है।

हिब्रू और अरबी भाषाएँ एक ही परिवार की हैं और कोई दो हजार वर्ष पूर्व दोनों ही संहित और संयुक्त थीं; पर आज हिब्रू अरबी की अपेक्षा अधिक व्यवहित और व्यास-प्रधान हो गई है। यहूदी और अरब दोनों ही जातियाँ धर्म-प्रधान और सनातनी होने के कारण अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों की भाषा तो बिलकुल सुरक्षित रख सकी हैं, पर देश-काल के परिवर्तन के कारण दोनों जातियों की भाषाएँ कुछ व्यासोन्मुख हो गई हैं। यहूदी सदा विजित और त्रस्त होकर यहाँ से वहाँ फिरते रहे हैं, इससे उनकी भाषा अधिक संघर्ष के कारण अधिक विकसित और व्यवहित हो गई है, पर अरबी सदा विजेताओं की भाषा रही है; अरब लोग अपने धर्म और अपनी भाषा का बड़ी सावधानी से प्रचार करते रहे हैं। साथ ही अरबों में यहूदियों के समान प्रगतिशीलता भी नहीं लक्षित होती, इसी से उनकी अरबी आज भी बहुत कुछ संहित भाषा है।

फारसी भाषा का इतिहास भी इसी प्रवृत्ति का इतिहास है। प्राचीन भाषा का प्रथम उल्लेख ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व के एकीमीनिअन अभिलेखों में मिलता है। उस काल की भाषा वैदिक संस्कृत की नाईं संहित थी। फिर सिकंदर की चढ़ाई के कई शताब्दियों पीछे सैसैनिअन राजाओं के काल की मध्यकालीन फारसी मिलती है। वह बहुत कुछ व्यवहित और वियुक्त हो चुकी थी और उसका अंतिम रूप, अर्थात् फिरदौसी के शाहनामे की भाषा, पूर्णत: व्यास-

प्रधान और व्यवहित हो जाता है। आज तो आधुनिक फारसी भारोपीय परिवार की सबसे अधिक व्यवहित भाषा मानी जाती है। उसका व्याकरण इतना संक्षिप्त है कि कागज के एक 'शीट' पर लिखा जा सकता है।

संस्कृत और अवेस्ता का भी प्राचीन रूप बड़ा जटिल और संयुक्त था और धीरे धीरे वह सरल और वियुक्त होता गया। संस्कृत के विकसित रूप प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान देशभाषाओं में भी व्यास-प्रधानता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। इसका कारण भी विदेशियों और विजातियों का संसर्ग ही माना जाता है। अब तो चीनी भाषा तक में, जिसे कुछ लोग प्रारंभ से ही व्यवहित भाषा मानते थे, कुछ ऐसी खोजें हुई हैं जिनसे उसके प्राचीन काल में संहित और सविभक्तिक होने का पता लगता है। इस प्रकार इतिहास से संहित भाषाओं के बिखरने की कहानी सुनकर केवल एक ही निष्कर्ष निकल सकता है कि भाषा के विकास की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक संहित और दूसरी व्यवहित; और इस दृष्टि से सब भाषाओं के केवल ये ही दो वर्ग किये जा सकते हैं।

इस प्रकार यद्यपि आज विकास की दृष्टि से संहित और व्यवहित—ये ही दो अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं, तथापि वाक्य और शब्दों की आकृति का सम्यक् विवेचन करने के लिए भाषाओं का आकृतिमूलक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण अच्छा समझा जाता है। ऊपर जिन चार[1] प्रकार के वाक्यों तथा शब्दों का उल्लेख हो चुका है उन्हीं की रचना को ध्यान में रखकर आकृतिमूलक वर्गीकरण चार वर्गों में किया जाता है—व्यास-प्रधान[2], समास-प्रधान[3],

भाषाओं का वर्गीकरण

(१) देखो—पृष्ठ ८०।

(२) इसे लोग स्थान-प्रधान, एकाक्षर, एकाच्, धातु-प्रधान, निरिंद्रिय, निरवयव, निर्योग अथवा अयोगात्मक भी कहते हैं।

(३) इसे संघात-प्रधान, संघाती, बहुसंश्लेषात्मक (या बहुसंश्लेषणात्मक),

प्रत्यय-प्रधान[1] और विभक्ति-प्रधान[2]। इनमें से पहले वर्ग को निरवयव और अंतिम तीन को सावयव कहते हैं, क्योंकि पहले ढंग के अर्थात् व्यास-प्रधान वाक्य की रचना से ऐसा प्रतीत[3] होता है कि वाक्य और उसके अवयव शब्दों में अवयव-अवयवीभाव-संबंध नहीं है और अन्य तीन प्रकार के वाक्यों की रचना में यह संबंध स्पष्ट और प्रत्यक्ष रहता है। अतः सबसे पहले भाषाओं के दो भाग किये जाते हैं—निरवयव और सावयव। निरवयव के भेद नहीं होते। निर्योग अथवा व्यास-प्रधान उसी के नामांतर मात्र हैं। 'स्थान-प्रधान' आदि भेद विशेष महत्त्व के नहीं हैं; पर सावयव के तीन विभाग किये जाते हैं—समास०, प्रत्यय० और विभक्ति०। इनमें से प्रत्येक के कई उपविभाग किये जाते हैं। कोई भाषा पूर्णतः समास-प्रधान होती है और कोई अंशतः। प्रत्यय-प्रधान भाषाओं में से भी कोई पुरः-प्रत्यय-प्रधान होती है, कोई पर-प्रत्यय-प्रधान और कोई पुरः-प्रत्यय-पर-प्रत्यय-अंतः-प्रत्यय-प्रधान अर्थात् सर्व-प्रत्यय-प्रधान। कुछ ऐसी भी प्रत्यय-प्रधान भाषाएँ होती हैं जिनमें विभक्ति-प्रधानता, समास-प्रधानता अथवा व्यास-प्रधानता का भी पुट रहता है। इसी प्रकार विभक्ति-प्रधान भाषाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—अंतर्मुखी विभक्ति-प्रधान और बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान। इनमें से प्रत्येक के और दो उपभेद हो सकते हैं—संहित और व्यवहित[4]।

बहु-संहित, बहु-सम्मिश्रात्मक, वाक्य-शब्दात्मक, अव्यक्त योग अथवा Holophrastic भी कहते हैं।

(१) इसे संयोगी, संयोग-प्रधान, व्यक्तयोग, योगात्मक, उपचयात्मक, संचयात्मक, संचयोन्मुख अथवा प्रकृति-प्रत्यय-प्रधान भी कहते हैं।

(२) इसे विकारी विकृति-प्रधान, प्रकृति-प्रधान, विकार-प्रधान, संस्कार-प्रधान, सम्मिश्रात्मक (बहुसम्मिश्रात्मक नहीं) अथवा संश्लेष-प्रधान भी कहते हैं।

(३) वास्तव में वाक्य और शब्द में अवयव-अवयवी-भाव सदा रहता है पर यहाँ अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष रहता है।

(४) देखो—आगे का वृक्ष, पृष्ठ ९०।

प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति-प्रधान भाषाओं का एक और सामान्य विभाग[1] किया जाता है—बहु-संहित[2] और एक-संहित। तुर्की बहु-संहित भाषा है और अरबी एक-संहित। जैसे 'सेव्' का अर्थ होता है 'प्रेम करना'; उसमें मेक् प्रत्यय जोड़ने से हेत्वर्थ कृदंत का रूप 'सेव्मेक्' बनता है। यदि ऐसे ही शब्दों का तुर्की में प्राधान्य होता तो वह एक-संहित भाषा मानी जाती, पर उसमें तो सेविस्दिरिलेमेमेक (= एक दूसरे से प्रेम करवाये जाने के योग्य न होना) के समान बहु-संहित रूप भी बनते हैं अतः उसे बहुसंहित

भाषा

- निरवयव (Inorganic) (स्थान-प्रधान, निपात-प्रधान अथवा स्वर-प्रधान) (Positional or Isolating)
- सावयव (Organic)
  - विकारी अथवा विभक्ति-प्रधान (Inflected)
    - अंतर्मुखी विभक्ति-प्रधान
      - संहित (Synthetic)
      - व्यवहित (Analytic)
    - बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान
      - संहित
      - व्यवहित
  - संयोगी अथवा प्रत्यय-प्रधान (Agglutinating)
    - पुरः-प्रत्यय-संयोगी (Prefix-)
    - पर-प्रत्यय-संयोगी (Suffix-)
    - सर्वप्रत्यय-संयोगी (Prefix-Suffix-)
    - ईषत्-संयोगी (Partially-)
  - बहु-संहित अथवा समास-प्रधान
    - पूर्णतः समास-प्रधान (Completely Incorporating)
    - अंशतः समास-प्रधान (Partially Incorporating)

(१) देखो—Sweet's History of Language, p. 65.

(२) बहु-संहित (Polysynthetic) शब्द का व्यवहार अधिकतर समास-प्रधान के अर्थ में किया जाता है।

भाषा कहते हैं और अरबी जैसी भाषा में शब्द के भीतर ही इतने विकार हो सकते हैं कि उसमें एक पर एक प्रत्ययों की पूँछ जोड़ने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जैसे—'मुस्लिमतुन्' (= मुसलमानिन) में 'अत्' स्त्रीलिंग का और 'उन्' कर्त्ता कारक का द्योतक है। बस इससे अधिक प्रत्ययों की अरबी में जगह नहीं। सेमेटिक परिवार की सभी भाषाएँ प्रायः ऐसी ही एक-संहित हैं। पर भारोपीय परिवार की भाषाएँ न पूर्णतः बहु-संहित ही हैं और न पूर्णतः एक-संहित। फिनिश भाषा की भी यही दशा है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण का संक्षिप्त वर्णन तो हो चुका। अब उसका थोड़ा सोदाहरण और सविस्तर विवेचन भी आवश्यक जान पड़ता है।

व्यास-प्रधान अथवा व्यासोन्मुख वर्ग में अफ्रिका की सूडानी भाषा तथा पूर्व एशिया की चीनी, तिब्बती, बर्मी, अनामी, श्यामी, मलय आदि भाषाएँ आती हैं। वाक्य-रचना की दृष्टि से इनमें तीन बातों का विचार हो सकता है—शब्द-क्रम, निपात और स्वर। किसी भी व्यासोन्मुख भाषा में व्याकरणिक संबंध कुछ तो शब्दों के स्थान अथवा क्रम से सूचित होता है और कुछ निपातों की सहायता से। सूडानी भाषाओं में निपातों का अभाव सा है। वे स्थान-प्रधान भाषाएँ हैं। चीनी में निपात कुछ अधिक हैं तो भी उसमें स्थान और क्रम ही प्रधानतया वाक्य में संबंध को स्पष्ट करता है। बर्मी और तिब्बती आदि निपात-प्रधान भाषाएँ हैं। इनमें वाक्य का अन्वय स्थान पर नहीं, निपातों पर निर्भर रहता है। पर स्वर की विशेषता इन सभी भाषाओं में रहती है। वाक्य-स्वर और पद-स्वर दोनों से अर्थभेद हुआ करता है। एक सा वर्ण-विन्यास और एक सा आकार रहने पर भी एक शब्द के अनेक अर्थों का बोध इन्हीं स्वरों के सहारे होता है। अनामी जैसी सस्वर भाषा को रोमन लिपि में लिख सकना तक कठिन ही नहीं असंभव सा है।

व्यास-प्रधान

इन भाषाओं में वाक्य-विचार तो होता है पर शब्द-विचार अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विचार का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि भाषा के सभी शब्द स्वतंत्र होते हैं, धातु और प्रातिपदिक के समान निर्योग और प्रधान होते हैं। उनमें कभी कोई योग अथवा विकार होता ही नहीं, फिर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना ही कैसे हो सकती है? व्यास-प्रधान भाषा के वाक्य में स्वतंत्र और शुद्ध प्रकृति का ही व्यवहार होता है। जैसे हिंदी के 'मैं आम खाता हूँ' को चीनी में मैं, खाना और आम के लिए तीन निर्योग और निर्विकार शब्द अर्थात् प्रकृति रख देते हैं।

इन भाषाओं के शब्द प्रायः एकाच् अर्थात् एकाक्षर होते हैं। उनकी रचना एक अक्षर और एक अथवा अनेक व्यंजनों से होती है। यद्यपि मलय जैसी अनेकाक्षर भाषाएँ भी इस वर्ग में हैं तथापि इन व्यास-प्रधान भाषाओं की एकाक्षर होने की ही विशेष प्रवृत्ति देख पड़ती है।

व्यास-प्रधान रचना में वाक्य के सभी शब्द पृथक् पृथक् रहते हैं; समास-प्रधान रचना में बिल्कुल इसका उलटा होता है,

समास-प्रधान अथवा बहु-संहित

वाक्य में शब्द एक दूसरे से इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि वाक्य और शब्द में भेद करना कठिन हो जाता है। व्यास-प्रधान वाक्य में अनेक शब्दों से जो अर्थ निकलता है उसके लिए समास-प्रधान वाक्य में एक शब्द ही पर्याप्त होता है। पूर्णतः समास-प्रधान भाषा में तो वाक्य के सभी शब्दों के स्थान में एक शब्द प्रयुक्त होता है; जैसे—'नाधोलिनिन' इस एक शब्द से 'हम लोगों के लिए नाव लाओ' इतने बड़े वाक्य का अर्थ निकलता है। पूर्णतः समास-प्रधान भाषाओं में ऐसे ही वाक्य-शब्दों का प्रयोग होता है; और उनके अवयव शब्दों की कल्पना मात्र की जाती है, प्रत्येक वस्तु का वाचक शब्द क्वचित् ही मिलता है। दोनों अमेरिका की भाषाएँ इसी प्रकार की पूर्णतः समास-प्रधान भाषाएँ हैं।

कुछ भाषाएँ अंशतः ही समास-प्रधान होती हैं। सच्ची समस्त भाषा के एक ही शब्द में कर्त्ता, क्रिया, कर्म, विशेषण आदि सभी का समाहार रहता है, पर कुछ भाषाएँ ऐसी होती हैं जिनमें स्वतंत्र शब्द भी रहते हैं और वाक्य में वे पृथक् व्यवहृत भी होते हैं तो भी वे समास-प्रधान मानी जाती हैं, क्योंकि उनकी क्रिया अपने में कर्त्ता और कर्म के वाचक सर्वनामों का और कभी कभी अन्य शब्दों का भी समाहार कर लेती है। यूरोप की बास्क भाषा इसका सुंदर उदाहरण है। उसकी एक क्रिया 'दकर्किआत्' का अर्थ होता है 'मैं उसे उसके पास ले जाता हूँ'। इसी प्रकार 'नकसु' का अर्थ होता है 'तू मुझे ले जाता है'। इस प्रकार का आंशिक समास या समाहार तो प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति-प्रधान भाषाओं में भी काम में आता है; जैसे—संस्कृत का अस्मि (मैं हूँ), गच्छामि (मैं जाता हूँ) अथवा गुजराती का मकुंजे (= मे कह्यं जे = मैंने कहा कि)।

प्रत्यय-प्रधान भाषा

कुछ विद्वान् तो समास-प्रधान वर्ग का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार बहु-संहित[1] प्रत्यय-प्रधान शब्दों और वाक्यों से बहु-संहित समास-प्रधान शब्द और वाक्य भिन्न नहीं होते। पर यदि विचार कर देखा जाय तो संयोग और समास में अर्थात् प्रत्यय-प्रधान और समास-प्रधान रचना में दो स्पष्ट भेद हैं। संयोग में प्रत्येक अंश अथवा अंग पृथक् देख पड़ता है और प्रायः स्वतंत्र रूप से व्यवहार

(१) बहु-संहित विभक्ति रचना में भी कुछ समास-रचना का अंतर्भाव किया जाता है और कुछ लोग तो यहाँ तक कह डालते हैं कि जब तक भाषा में स्वतंत्र भाव-सूचक शब्दों का विकास नहीं होता तब तक व्याकरण और रचना की कल्पना ही न करनी चाहिए। समास-प्रधान भाषाओं में शब्द का वास्तविक विकास नहीं देख पड़ता। उसमें जो शब्द होते हैं वे वाक्य अथवा वाक्यांश के बराबर होते हैं अर्थात् ध्वनि के विचार से वे शब्द कहलाते हैं पर अर्थतः वे शब्द नहीं कहे जा सकते। अतः समास-प्रधान रचना का अधिक विचार ही नहीं हो सकता।

में आता है; समास में ऐसा[1] नहीं होता। दूसरा भेद यह है कि संयोग की पराकाष्ठा हो जाने पर भी वह शब्द-समुदाय कभी एक वाक्य-शब्द नहीं बनता पर समास में प्राय: वाक्य-शब्दों का ही व्यवहार होता है। अत: प्रत्यय-प्रधान रचना से समास-प्रधान रचना को अभिन्न मानना ठीक नहीं।

प्रत्यय-प्रधान भाषा में व्याकरणिक संबंध पुर:-प्रत्यय, अंत:-प्रत्यय अथवा पर-प्रत्यय के संयोग से सूचित किया जाता है। यद्यपि ये प्रत्यय सर्वांगपूर्ण शब्द नहीं कहे जा सकते तथापि इनका स्वतंत्र अस्तित्व सदा स्पष्ट रहता है; ये विभक्तियों के समान अपनी प्रकृति में सर्वथा लीन नहीं हो जाते। इनका संयोग, संचय अथवा उपचय इतना नियमित और व्यवस्थित होता है कि रचना बिलकुल पारदर्शी होती है और उसका व्याकरण सर्वथा सरल और सीधा होता है। तुर्की के समान पूर्णत: संयोग-प्रधान भाषा ऐसी अपवाद-रहित और ऋजुमार्गगामिनी होती है कि उसकी उपमा कृत्रिम, अंताराष्ट्रिय भाषा 'एस्पेरंतो'[2] से दी जा सकती है। एस्पेरंतो में बिल्ली को काट, स्त्री को 'इन्', बच्चे को इड्, छोटे को एट् कहते हैं और 'ओ' को सत्त्ववाचक चिह्न मानते हैं। अब इन्हीं संकेतों से कई शब्द बन सकते हैं। जैसे काटिनो (बिल्ली), काटिडो (बिल्ली का बच्चा), काटिडेटो (छोटा बिल्ली का बच्चा) इत्यादि। इसी प्रकार यदि तुर्की का एक शब्द सेव् (= प्रेम करना) ले लें तो उसमें प्रत्यय जोड़कर अनेक शब्द बनाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—सेव्-मेक् (प्यार करने के लिए), सेव्-मे-मेक् (प्यार नहीं करने के लिए), सेव्-इन्-मेक् (आत्मप्रेम करने के लिए अथवा आनंद लेने के लिए), सेव्-इश्-मेक् (एक दूसरे को परस्पर प्यार करने के लिए) इत्यादि। ऐसी साधारण रचना

(१) उदाहरण पीछे इसी प्रकरण में आ चुके हैं। देखो—पृ० ८० और ८६।

(२) Cf. Esperanto.

के अतिरिक्त सेव्-इश्-दिर्-इल्-मे-मेक् (परस्पर प्यार नहीं किये जाने के लिए) के समान बहु-संहित रूप भी सहज ही निष्पन्न हो जाते हैं।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यय-प्रधान भाषा में विभक्ति-प्रधान भाषा की भाँति प्रकृति और प्रत्यय का भेद सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता और न प्रत्यय में कोई विकार ही होता है। यदि संयोग के कारण किसी प्रत्यय में कोई विकार होता है तो वह भी स्वरों की अनुरूपता[1] के नियम से होता है। ऐसी भाषाओं में यह एक साधारण नियम है कि प्रत्यय का स्वर प्रकृति के अंतिम स्वर के अनुरूप होना चाहिए। जैसे अत् (घोड़ा) और एव (घर) में एक ही बहुवचन का प्रत्यय दो भिन्न रूपों में देख पड़ता है; जैसे—'अत्लर' (घोड़े) और 'एवलेर' (अनेक घर)।

प्रत्यय-प्रधान भाषाओं के चार उपविभाग किये जाते हैं—पुरः-प्रत्यय-प्रधान, पर-प्रत्यय-प्रधान, सर्वप्रत्यय-प्रधान और ईषत्-प्रत्यय-प्रधान। अफ्रीका की बांतू भाषाएँ पुरः-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। उनमें प्राय: प्रकृति के पूर्व प्रत्यय लगता है। उदाहरणार्थ—न्तु (आदमी), तु (हमारा), चिल (सुंदर, भला) और यबोनकल (मालूम होना)—इन चार शब्दों में पुरः-प्रत्ययों का योग कर देने से एक वाक्य बन जाता है 'उमुन्तु वेतु ओमुचिल उयबोनकल' अर्थात् हमारा आदमी भला लगता है। इन्हीं पुरः-प्रत्ययों में परि-वर्तन कर देने से वाक्य बहुवचन में हो जाता है। यथा—'अबंतु बेतु अबचिल बयबोनकल[2]'।

यूराल-आल्टिक और द्रविड़ परिवार की भाषाएँ पर-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। यूराल-आल्टिक परिवार की तुर्की भाषा के अनेक उदाहरण[2] पीछे आ चुके हैं। अतः द्रविड़ परिवार की कनाड़ी भाषा का एक उदाहरण पर्याप्त होगा और संस्कृत के

(१) Vowel harmony. (स्वर-संगति)
(२) देखो—पीछे पृष्ठ ८२।

सविभक्तिक रूपों से उसकी तुलना करना अधिक लाभकर होगा। इससे विभक्ति-प्रधान और प्रत्यय-प्रधान रचना का भेद भी स्पष्ट हो जायगा—

	संस्कृत (बहु०)	कनाड़ी[1] (बहु०)
कर्त्ता	सेवकाः	सेवक-रु
कर्म	सेवकान्	सेवक-रन्नु
करण	सेवकैः	सेवक-रिंद
संप्रदान	सेवकेभ्यः	सेवक-रिगे
अपादान	सेवकेभ्यः	×
संबंध	सेवकानाम्	सेवक-र
अधिकरण	सेवकेषु	सेवक-रल्ली

कनाड़ी के इन सब रूपों में 'र' बहुवचन का चिह्न है। उसके स्थान में 'न्' कर देने से एकवचन के रूप बन सकते हैं। इस परिवार का अध्ययन संस्कृत, प्राकृत, हिंदी आदि भारतीय भाषाओं के विद्यार्थी के लिए बड़े महत्त्व का होता है क्योंकि आर्य और द्रविड़ भाषाएँ परस्पर प्रभावित होती रही हैं।

मलयन और मेलनेशिया परिवार की भाषाएँ सर्व-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। उनकी रचना में पूर्व-प्रत्यय, पर-प्रत्यय और अंतः-प्रत्यय—सभी का संयोग देख पड़ता है।

जिन भाषाओं में प्रत्यय-प्रधानता के साथ व्यास, समास अथवा विभक्ति का भी पुट रहता है वे ईषत् प्रत्यय-प्रधान कहलाती हैं। इनमें अनेक भाषाएँ हैं। जापानी और काकेशी भाषाओं का विभक्ति की ओर झुकाव देख पड़ता है, हाउसा का व्यास की ओर और वास्क परिवार की भाषाओं का समास की ओर।

प्रत्यय-प्रधान भाषा की भाँति विभक्ति-प्रधान भाषा में भी प्रकृति और प्रत्यय का व्यवहार होता है अर्थात् विभक्ति-प्रधान भाषा में

(१) देखो—Spencer's Kanarese Grammar, p. 20.

भी प्रत्ययों के द्वारा ही व्याकरणिक संबंधों का बोध कराया जाता है। पर दोनों में एक बड़ा भारी अंतर यह है कि विभक्ति-प्रधान रचना में प्रकृति और प्रत्यय एक दूसरे में इतने अधिक मिले रहते हैं कि कभी कभी प्रत्यय का प्रत्यक्ष अस्तित्व भी नहीं प्रतीत होता। सच पूछा जाय तो सविभक्ति शब्दों में पाये जानेवाले प्रत्यय 'प्रत्यय[1]' ही नहीं हैं। उनका विभक्ति नाम ही उचित और अन्वर्थ है। प्रत्यय में संयोग का भाव रहता है और विभक्ति में 'विभक्त होने का'। जहाँ तक अभी खोज हो सकी है उससे यही सिद्ध होता है कि विभक्ति कहे जानेवाले प्रत्यय कभी स्वतंत्र शब्द नहीं रहे हैं, प्रत्युत वे अपनी प्रकृति के साथ ही उत्पन्न हुए हैं और पीछे से कभी कभी प्रकृति द्वारा उत्सृष्ट होकर पर-सर्ग[2] बन गये हैं। अतः यह साधारण कल्पना कि एक प्रकृति में अनेक विभक्तियाँ लगकर रूपावतार को जन्म देती हैं, सत्य नहीं है। वास्तव में रामः, रामौ, रामाः, रामं, रामान् आदि रूप ही पहले के हैं, पीछे से वैज्ञानिक विद्यार्थी ने इन भिन्न भिन्न शब्दों में एक समान प्रकृति 'राम' को देखकर उसमें जुड़े हुए अंशों को 'प्रत्यय' नाम दे दिया; पर साथ ही उन्हें विभक्ति प्रत्यय कहकर यह भी व्यंजित कर दिया कि ये प्रत्यय स्वतंत्र शब्द के घिसकर बने रूप नहीं, प्रत्युत अपनी प्रकृति के ही टूटे हुए (= विभक्त) भाग हैं। प्रत्यय-प्रधान भाषा में प्रकृति से प्रत्यय का संयोग होता है पर विभक्ति-प्रधान भाषा में प्रकृति से प्रत्यय के संयोग की कल्पना मात्र की जाती है। कोई भी आधुनिक वैज्ञानिक उसका यह अर्थ नहीं समझता कि ये विभक्तियाँ पहले स्वतंत्र प्रत्यय रही हैं और पीछे से प्रकृति में लीन हो गईं। प्रक्रिया-प्रधान वैयाकरण अपनी सुविधा के लिए अन्वय-व्यतिरेक द्वारा प्रकृतियों और विभक्तियों

विभक्ति-प्रधान भाषा

(१) प्रत्यय प्रति + अय् (इ = जाना), विभक्ति = वि + भक्ति (भज् = बाँटना, टूटना)। संस्कृत व्याकरण में भी प्रत्यय और विभक्ति महासंज्ञा मानी जाती हैं; और महासंज्ञाएँ सब अन्वर्थ और सार्थक होती हैं।

(२) देखो आगे 'रूप-विकार'।

की कल्पना कर लेता है और उन्हीं के सहारे शब्दों की सिद्धि सिखलाने का यत्न करता है। उसके इस विश्लेषण[1] का यह अभिप्राय कभी नहीं रहता कि पहले प्रकृति से भिन्न विभक्तियाँ स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त होती थीं और पीछे से उसी में मिल गईं। अत: विभक्ति-प्रधान भाषा का प्रधान लक्षण प्रकृति और प्रत्यय का अभेद है और इसी लिए ऐसी भाषा विकार-प्रधान अथवा विकृति-प्रधान भी कहलाती है। स्वभावत: ऐसी रचना अपवाद और व्यत्यय में बढ़ी-चढ़ी रहती है। पूर्णत: प्रत्यय-प्रधान भाषा में जितनी ही अधिक व्यवस्था और सरलता रहती है, पूर्णत: विभक्ति-प्रधान भाषा में उतनी ही अधिक विविधता और जटिलता रहती है। फलत: विभक्ति-युक्त भाषा का व्याकरण अधिक विशाल और विस्तृत होता है, इसी से इसका एक नाम संस्कार-प्रधान भी है।

ये विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—अंतर्मुखी और बहिर्मुखी। इसी भेद के आधार पर विभक्ति-प्रधान वर्ग के दो उपविभाग किये जाते हैं। सेमेटिक और हेमेटिक परिवार की भाषाएँ अंतर्मुखी-विभक्ति-प्रधान होती हैं और भारोपीय परिवार में बहिर्मुखी-विभक्तियों का ही प्राधान्य रहता है।

अंतर्मुखी-विभक्ति-प्रधान भाषाएँ

अंतर्मुखी-विभक्ति-संपन्न भाषा में पूर्व-विभक्तियाँ, अंत:-विभक्तियाँ और पर-विभक्तियाँ होती तो हैं, पर वास्तव में कारकादि व्याकरणिक संबंध शब्द के भीतर होनेवाले स्वर-परिवर्तन से ही सूचित होते हैं। जैसे 'क़्त्ल्' एक अरबी धातु है। उससे क़तल (उसने मारा), क़ुतिल (वह मारा गया); यक़्तुलु (वह मारता है), क़ातिल (मारनेवाला), क़ित्ल (शत्रु), क़ितल (प्रहार, चोट) इत्यादि अनेक रूप केवल स्वरों में परिवर्तन करने

(१) H. Sweet के समान वैयाकरण और भाषाविज्ञानी प्राय: यही मानता है कि स्वतंत्र शब्दों से स्वतंत्र प्रत्यय बने और फिर उनसे विभक्तियों का जन्म हुआ। वे विभक्ति को संयोग का अतिरेक मानते हैं, पर आधुनिक भाषा-शास्त्री और भारतीय वैयाकरण विभक्ति को संयोग नहीं, शास्त्रीय और कल्पित विभाग अथवा वियोग मानते हैं।

से बन जाते हैं; व्यंजन वही के वही रहते हैं। इसी से एक लेखक ने लिखा है कि ऐसी भाषा में कोष का संबंध केवल व्यंजनों से और व्याकरण का संबंध केवल स्वरों से रहता है। अर्थात् धातु स्वर-रहित तीन व्यंजनों से ही बन जाती है और उच्चारण के लिए जो स्वर प्रयुक्त होते हैं वे ही व्याकरणिक संबंध के द्योतक होते हैं। सेमेटिक परिवार के अतिरिक्त हेमेटिक परिवार में भी ये लक्षण बहुत कुछ घटते हैं। इन अंतर्मुखी-विभक्तिवाली भाषाओं में भी संहित से व्यवहित होने की स्पष्ट प्रवृत्ति देखी जाती है। आधुनिक हिब्रू का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है।

दूसरे उपविभाग में सुप्रसिद्ध भारोपीय परिवार आता है। यहाँ विभक्तियाँ बहिर्मुखी और प्राय: पर-वर्तिनी होती हैं। इन

बहिर्मुखी-विभक्ति-प्रधान भाषाएँ

भाषाओं की धातुएँ न तो त्रैवर्णिक (अर्थात् तीन व्यंजनों की) होती हैं और न उनका व्याकरणिक संबंध ही अंतरंग स्वर-भेद द्वारा सूचित होता है। इसी से उनमें पर-विभक्तियों का ही व्यवहार अधिक होता है। पर संहित से व्यवहित होने की प्रवृत्ति सेमेटिक परिवार की भाँति इस परिवार में भी स्पष्ट देख पड़ती है। विभक्तियाँ घिसते घिसते प्राय: लुप्त हो जाती हैं और फिर उनके स्थान में परसर्गों का व्यवहार होने लगता है। हमारी देश-भाषाओं तथा वर्त्तमान फारसी, अँगरेजी आदि का विकास इसी ढंग से हुआ है। इस परिवार की एक विशेषता अक्षरावस्थान[1] भी है और यह तो स्पष्ट ही है कि इस भारोपीय परिवार की विभक्तियों और प्रत्ययों की संपत्ति सबसे अधिक है। संस्कृत[2], लैटिन, ग्रीक आदि विभक्ति-प्रधान भाषाओं के उदाहरण गिनाने की आवश्यकता नहीं है, पर इतना

(१) Vowel-gradation अथवा Ablaut (अक्षरावस्थान) का वर्णन आगे आवेगा। इसका मूल कारण सुर अर्थात् 'स्वर-संचार' माना जाता है।

(२) भारोपीय भाषाओं के वर्णन में विभक्तिके अनेक उदाहरण मिलेंगे।

अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि इन प्राचीन भारोपीय भाषाओं के विकसित रूपों को विद्वान् पूर्णत: विभक्ति-प्रधान नहीं मानते।

वर्गीकरण में हिंदी का स्थान

अँगरेजी और हिंदी जैसी आधुनिक भारोपीय भाषाएँ इतनी व्यवहित हो गई हैं कि उनमें व्यास और संयोग के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। इसी से स्वीट[1] जैसे विद्वान् अँगरेजी को व्यवहित विभक्ति-प्रधान भाषा कहना उचित समझते हैं। पर एडमंड्स[2] जैसे व्यावहारिक विद्वान् सीधे सीधे यही कहना अच्छा समझते हैं कि अँगरेजी में व्यास और प्रत्यय-संयोग के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं; विभक्ति के लक्षण थोड़े ही मिलते हैं। हिंदी के विषय में ठीक वही कहा जा सकता है जो अँगरेजी के विषय में कहा गया है।

यद्यपि इन चारों भेदों से भाषा के विकास-क्रम से कोई संबंध नहीं है और यद्यपि इस भ्रम-मूलक कल्पना का पिछले विवेचन में निराकरण भी हो चुका है, तथापि यह बात कि प्रत्येक भाषा इन चारों अवस्थाओं में अथवा कम से कम व्यास, संयोग और विभक्ति—इन तीन अवस्थाओं में अवश्य कभी न कभी रहती है बुद्धि को इतनी सुंदर और व्यवस्थित लगती है कि स्वीट[3] जैसे वैयाकरण उसे छोड़ना नहीं चाहते। अत: उस सिद्धांत के प्रधान तथ्यों को समझ लेना चाहिए।

पहले लोग समझते थे कि चीनी भाषा की व्यास-प्रधानता अनादि-काल से चली आ रही है, अत: प्रत्येक भाषा का अविकसित रूप ऐसा ही व्यास-प्रधान रहा होगा, पर अब खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चीनी भी विकसित भाषा है और यह भी

(१) देखो—Sweet's History of Lang, p. 68-70.
(२) देखो—Introduction to Comp. Philology by Edmonds, p. 13-14.
(३) देखो—Sweet's Hist. of Lang, p. 67

साथ ही सिद्ध हो गया है कि भाषा[1] की प्रारंभिक अवस्था, अधिक संभव है, समास-प्रधान और जटिल रही होगी। इतनी बात स्वीट ने भी मान ली है पर वह दूसरा तर्क देता है कि प्रत्यय और विभक्तियाँ स्वतंत्र शब्दों के ही बिगड़े हुए रूप हैं जैसे अँगरेजी का Godly में ly 'like' से और हिंदी की 'का' विभक्ति 'कृत' अथवा 'केर' से स्पष्ट ही बिगड़कर बनी है। आज इस दूसरे तर्क का भी निराकरण हो गया है। थोड़े से प्रत्यय अवश्य इस ढंग से बने हैं पर उन प्रत्ययों, विभक्तियों और परसर्गों की संख्या अधिक है जो इस ढंग से नहीं बने हैं[2]।

इस सिद्धांताभास का सबसे बड़ा पोषक तर्क-शास्त्र का चिंतनाणुवाद[3] है। उसके अनुसार शब्द भाव का[4] और वाक्य (भावों के समूह) विचार[5] का प्रतिरूप समझा जाता है; पर अब इस वाद का भी निराकरण हो गया है। अतः अब अधिक लोग भाषा की अवस्थाओं के इस सिद्धांत को अच्छा नहीं समझते।

अंत में इस आकृतिमूलक अथवा वाक्यमूलक वर्गीकरण के लाभालाभ का भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। भाषाओं की रचना समझने में इससे स्पष्ट ही लाभ पहुँचता है। पर साथ ही इसे हम व्यवहार के अधिक उपयुक्त नहीं कह सकते। पहले तो परस्पर कोई संबंध न रखनेवाली अनेकानेक भाषाओं को एक वर्ग में इकट्ठा कर देने से अध्ययन में वास्तविक सुविधा नहीं होती। विभक्ति-प्रधान वर्ग को छोड़कर अन्य वर्गों में प्रायः

(१) देखो—पीछे 'उत्पत्ति का प्रकरण'।

(२) देखो—आगे 'रूप-विकार'।

(३) Cf. Atomism of thought, (इसका संक्षिप्त वर्णन डा० मंगलदेव के भाषा-विज्ञान में भी है।)

(४) Idea, इस ग्रंथ में भाव emotion. अथवा मनोवेग के अर्थ में अधिक आया है, पर प्रायः लोग हिंदी में idea के लिए 'भाव' का प्रयोग कर देते हैं।

(५) Thought.

बिलकुल असंबद्ध भाषाएँ संगृहीत होती हैं और विभक्तिवाली भाषाओं में भी सेमेटिक और भारोपीय परिवारों में कोई विशेष संबंध नहीं है। इस वर्गीकरण का दूसरा दोष यह है कि यह बड़ा स्थूल है। एक ही भाषा में, जैसा हम देख चुके हैं, व्यास, संयोग (=प्रत्यय) और विभक्ति के लक्षण मिलते हैं। अतः इससे कोई बहुत अधिक लाभ नहीं होता।

रचना की दृष्टि से जो प्रक्रिया में लाभ पहुँचता है वह केवल इतना ही है कि हम वाक्य-विचार और प्रकृति-प्रत्यय-विचार की व्याकरणिक उपयोगिता समझने लगते हैं, पर भाषा-विज्ञान की यह साधारण बात हमें कभी न भूलनी चाहिए कि न तो ये चार प्रकार की वाक्य-रचनाएँ किसी विकास की सूचक हैं और न यह प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन इस बात का द्योतक है कि भाषा में किसी समय केवल धातु ही का प्रयोग होता था।

चौथा प्रकरण

भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

पिछले प्रकरण में आकार-प्रकार, गठन और स्वभाव के अनुसार भाषाओं का वर्गीकरण हो चुका है। उससे भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती, अतः भाषाओं का दूसरा वर्गीकरण उनके इतिहास और उत्पत्ति के आधार पर किया जाता है। कुछ भाषाओं के शब्द-भांडार, वाक्यान्वय, प्रकृति-प्रत्यय-रचना आदि में इतना साम्य रहता है कि उनकी सजातीयता अर्थात् उनकी एक मूल से उत्पत्ति थोड़े विचार से ही स्पष्ट हो जाती है। जैसे भारत की पंजाबी, हिंदी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं की परस्पर तुलना से सहज ही यह बात ध्यान में आ जाती है कि ये सब सजातीय भाषाएँ हैं, इनकी उत्पत्ति एक समान मूल से हुई है, केवल देश, काल और परिस्थिति के भेद से इनमें परस्पर कुछ भेद हो गया है। इसी प्रकार अँगरेजी, जर्मन, डच और डैनिश आदि भाषाओं की तुलना करने से उनके एक स्रोत की कल्पना होती है और खोज करने से ट्यूटानिक अथवा प्राचीन जर्मन भाषा से उन सब की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है; अथवा फरासीसी, इटालियन और स्पेनी आदि रोमांस भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा करने से उनके आदिस्रोत के एक होने का अनुमान होता है और खोज करने पर लैटिन से उन सब का संबंध स्थापित हो जाता है। इसी प्रक्रिया से एक पग और आगे बढ़ने पर इन तीनों मूल-भाषाओं का भी एक मूल खोजा जा सकता है। इस प्रकार तुलना और इतिहास के सहारे मूल और उत्पत्ति की खोज करके अनेक भाषाओं

पारिवारिक वर्गीकरण

के एक परिवार[1] की कल्पना की जाती है। अभी तक जितना अन्वेषण और अध्ययन हो सका है उसके अनुसार विश्व की भाषाओं के कोई सत्रह-अठारह परिवार माने गये हैं। इनमें से भी किसी किसी में परस्पर संबंध[2] पाया जाता है, पर अभी तक उनकी औत्पत्तिक एकता सिद्ध नहीं हो सकी है। उनमें भारोपीय, सैमेटिक, हैमेटिक, यूराल-अल्ताई, द्रविड़, एकाक्षर (अर्थात् चीनी परिवार), काकेशश, बांतू आदि प्रसिद्ध भाषा-परिवार हैं।

इस प्रकार पारिवारिक (अथवा ऐतिहासिक) वर्गीकरण करके भाषाओं का अध्ययन करने में स्पष्टता, सरलता और सुविधा के लिए उनकी भौगोलिक स्थिति का विचार कर लेना अच्छा होता है; और इस दृष्टि से विश्व के चार खंड[3] किये जाते हैं—(१) दोनों अमेरिका, (२) प्रशांत महासागर, (३) अफ्रीका और (४) यूरेशिया। दोनों अमेरिका भाषा की दृष्टि से शेष जगत् से सर्वथा भिन्न माने जा सकते हैं। यद्यपि इस भूखंड की भाषाओं में अनेक परिवारों के लक्षण मिलते हैं, तथापि उन सब में यह एक साधारण विशेषता पाई जाती है कि वे सब रचना में समास-प्रधान अर्थात् संघाती होती हैं। उनमें

अमेरिका-खंड

(१) भाषा की एकता से और मनुष्य-जाति (नस्ल) की एकता से कोई संबंध नहीं होता। भाषा अर्जित संपत्ति है, जन्म-प्राप्त नहीं। पुराने विद्वानों ने भाषाओं और जातियों का संबंध जोड़कर बड़ा भ्रम फैला दिया था। आज जो लोग आर्य भाषा बोलते हैं, संभव है, वे कभी दूसरी भाषा बोलते रहे हों और वास्तविक आर्य्य भाषा के बोलनेवाले नष्ट ही हो गये हों। इसका ठीक निश्चय नहीं है

(२) भारोपीय और सेमेटिक परिवारों में कई बातें समान मिलती हैं और इसी से विद्वानों ने उनके मूलान्वेषण के लिए बड़ा श्रम किया है, पर अभी तक मूल की एकता सिद्ध नहीं हो सकी है।

(३) यद्यपि प्रत्येक खंड में अनेक विभिन्न परिवार सम्मिलित हैं तथापि इतना निश्चित है कि इन भाषाओं ने एक दूसरे पर बड़ा प्रभाव डाला है। उदाहरणार्थ—द्रविड़ और आर्य्य-परिवार का परस्पर आदान-प्रदान किसी से छिपा नहीं है।

समास और संघात की सभी अवस्थाएँ पाई जाती हैं। किसी भाषा में केवल वाक्य-शब्द ही पाये जाते हैं और किसी किसी में शब्द-वाक्यों तथा शब्द-वाक्यांशों के साथ ही ऐसे शब्द भी पाये जाते हैं जिनका स्वतंत्र प्रयोग होता है। इन सब भाषाओं का यथोचित अध्ययन और वर्गीकरण अभी तक नहीं हो सका है, तो भी उनमें से कुछ प्रधान विभाषाओं का इस प्रकार स्थूल वर्गीकरण किया जा सकता है—
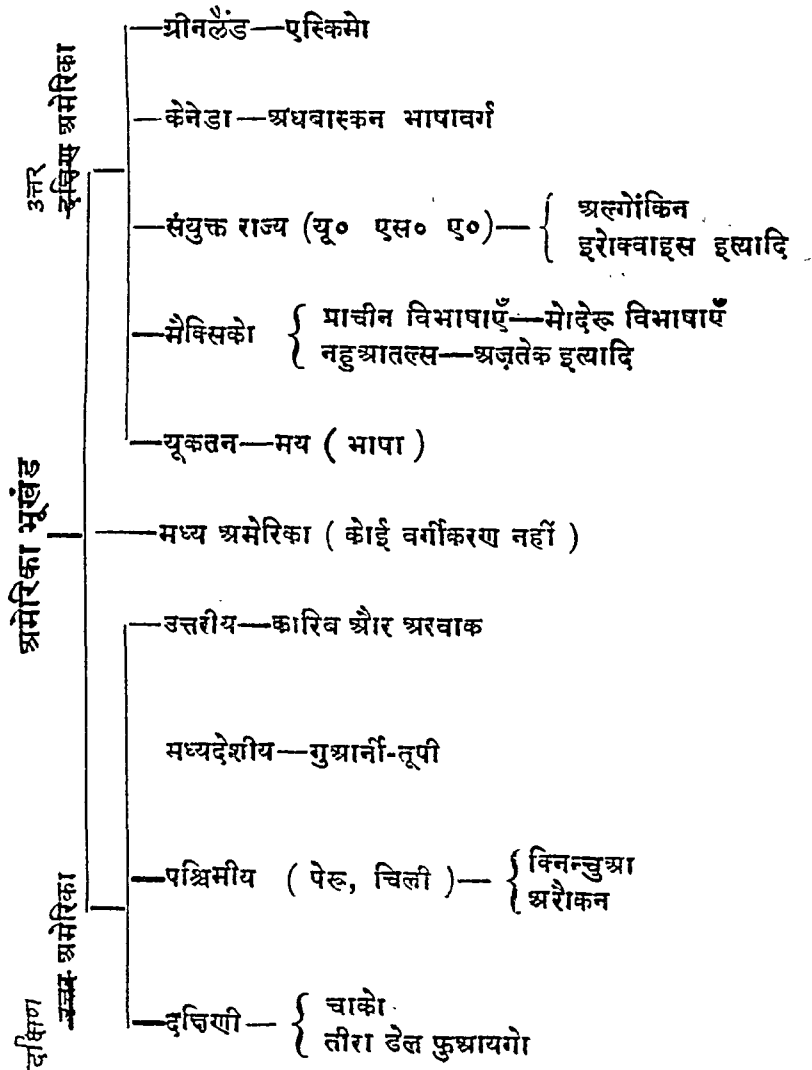
इन भाषाओं में तीराडेल फुआयगो जैसी असंस्कृत बोलियों से लेकर मय और नहुआतलस जैसी साहित्यिक और संस्कृत भाषाएँ भी हैं जो प्राचीन मैक्सिको-साम्राज्य में व्यवहृत होती थीं।

प्रशांत महासागर-खंड

दूसरे भाषा-खंड में अर्थात् प्रशांत महासागरवाले भूखंड में भी अनेक भाषाएँ, विभाषाएँ और बोलियाँ हैं। वे सब प्राय: संयोग-प्रधान होती हैं। उनके पाँच मुख्य परिवार माने जाते हैं। मलयन, मेलानेसिअन और पालीनेसिअन—ये तीन बड़े और पापुअन तथा आस्ट्रेलियन—ये दो छोटे परिवार हैं। कई विद्वान् प्रथम तीन को और कई सभी को 'मलय-पालीनेसिअन' परिवार के नाम से पुकारते हैं। इनमें से मलय वर्ग की भाषाएँ मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्निओ, फिलिपाइंस, निकोबार, फार्मूसा आदि द्वीपों में, मेलानेसिअन भाषाएँ न्यू-गिनी से लेकर फिजी तक, पालीनेसिअन न्यू-जीलैंड में, आस्ट्रेलियन आस्ट्रेलिया महाद्वीप में और पपुअन भाषाएँ न्यू-गिनी के कुछ भागों में बोली जाती हैं[1]।

अफ्रीका-खंड

तीसरे भूखंड में अफ्रीका की सब भाषाएँ आती हैं। उनमें पाँच मुख्य[2] भाषा-परिवार माने जाते हैं—(१) बुशमान वर्ग[3], (२) बांटू परिवार, (३) सूडान परिवार, (४) हैमेटिक और (५) सैमेटिक परिवार। इन अफ्री-

(१) देखो—(विस्तार के लिए) A. C. Tucker's Introduction to Natural History of Languages; or Taraporewala's Elements of the Science of Language, pp. 79-83.

(२) The Language Families of Africa में श्रीमती A. Werner ने इस विषय का सुंदर और सविस्तर वर्णन किया है।

(३) बुशमान वर्ग में कई ऐसी भाषाएँ हैं जिनका एक मूल निश्चित नहीं हो सका है, अतः इस समुदाय को परिवार कहना उचित नहीं है।

कन भाषाओं का अध्ययन बड़ा मनोरम और महत्त्वपूर्ण होता है। वे भाषा के विकास और विदेशी प्रभाव आदि के प्रश्नों पर बड़ा प्रकाश डालती हैं। इनमें दक्षिण अफ्रीका की 'बुशमान' सबसे अधिक प्राचीन और जंगली भाषाएँ मानी जाती हैं। वे संयोग-प्रधान से व्यास-प्रधान हो रही हैं। उनकी व्यंजन ध्वनियाँ कुछ निराली होती हैं, जिनका उच्चारण विदेशियों के लिए बड़ा कठिन होता है; उनमें लिंगभेद सजीव और निर्जीव का भेद सूचित करता है और बहुवचन बनाने के लिए इन भाषाओं में कोई पचास-साठ विधियाँ प्रचलित हैं।

दक्षिण अफ्रीका के अधिकांश में अर्थात् भू-मध्यरेखा के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम तक बांतू परिवार की भाषाएँ पाई जाती हैं। ये भाषाएँ प्रायः पूर्व-प्रत्यय-प्रधान होती हैं और उनमें व्याकरणिक लिंग-भेद का अभाव रहता है। भू-मध्य-रेखा के उत्तर में किनारे किनारे पूर्व से पश्चिम तक सूडान परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें विभक्तियाँ प्रायः बिलकुल नहीं पाई जातीं, वे व्यास-प्रधान होती हैं, उनकी धातुएँ एकाक्षर होती हैं और इनमें भी लिंग-भेद का अभाव रहता है। इन नीग्रो भाषाओं का पढ़ना भी बड़ा सरस और शिक्षा-प्रद होता है।

अफ्रीका का चौथा भाषा-परिवार हैमेटिक है। यह उत्तर अफ्रीका के संपूर्ण प्रदेश में फैला हुआ है। इस परिवार की बोलियाँ बोलनेवाली कुछ जातियाँ अफ्रीका के मध्य और दक्षिण में भी दूर तक पहुँच गई हैं। मध्य अफ्रीका की मसाइ और दक्षिण की नम जातियाँ इसके उदाहरण-स्वरूप हैं। उनकी बोलियाँ इसी हैमेटिक परिवार की हैं। इस परिवार की अनेक भाषाएँ नष्ट और लुप्त हो गई हैं और कुछ केवल प्राचीन अभिलेखों में मिलती हैं। उन सबका साधारण वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—

- हैमेटिक परिवार
  - मिस्रदेशी शाखा
    - प्राचीन मिस्री (भाषा)
    - काप्टिक
  - इथिओप शाखा
    - बेदौय (नील नदी और लालसागर के बीच में)
    - खामीर (एबीसीनिया)
    - सोमाली
    - गल्ला (पश्चिमी सोमाली देश में)
    - सहो (अदन के ठीक सामनेवाले लालसागर के प्रदेश में)
    - अन्य बोलियाँ
  - (शाखा)
    - लिबिअन
    - नुमिदिअन
    - बर्बर बोलियाँ (अफ्रीका के उत्तरी किनारों में)
    - टावारेक (सहारा)
    - शिल्हा (पश्चिमी मरक्को)
  - मिश्रित और विकृत बोलियाँ
    - हाउसा (नाइजर और लेक तेहाद के बीच में)
    - मसाइ (भूमध्य रेखा के पास झीलों के किनारे)
    - नम (सुदूर दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका में)
  - फूला भाषाएँ (सीरालोन से फ्रेंच गिनी तक)

इनमें से मिस्री शाखा की प्राचीन मिस्री और उससे निकली हुई काप्टिक भाषा दोनों ही अब प्राचीन लेखों में रक्षित हैं। वे अब बोली नहीं जातीं। उनके क्षेत्र में अब सेमेटिक परिवार की अरबी भाषा बोली जाती है। यद्यपि काप्टिक भाषा भी सत्रहवीं शताब्दी में ही व्यवहार से उठ गई थी तो भी उसमें लिखा ईसाई साहित्य अभी तक मिलता है। इसी के आधार पर प्राचीन मिस्री का पुनरुद्धार हुआ है। इसी प्रकार लिबिअन और नुमिदिअन बोलियाँ भी अब जीवित नहीं हैं; उनका अस्तित्व केवल शिलालेखों में पाया जाता है। शेष बोलियाँ तथा भाषाएँ अभी तक बोली जाती हैं। कुछ बोलियाँ व्यवहार में आते आते पड़ोसी और विदेशी बोलियों से इतनी प्रभावित हो गई हैं कि उन्हें इस परिवार में रखने में भी किसी किसी विद्वान् को संकोच होता है। उदाहरणार्थ, फूला भाषाएँ 'हैमेटिक' और 'बांतू' दोनों का समन्वय सा मालूम पड़ती हैं। इसी प्रकार मध्य अफ्रीका की चलती राष्ट्र-भाषा 'हाउसा' में सूडानी परिवार के अनेक लक्षण मिलते हैं।

इस परिवार के सामान्य लक्षणों[1] में विभक्ति, काल, लिंग, वचन आदि का नाम लिया जा सकता है। इन भाषाओं में पूर्व-विभक्तियाँ और पर-विभक्तियाँ दोनों ही होती हैं। लिंग भी सेमेटिक परिवार की नाईं व्याकरणिक होता है अर्थात् लिंग-भेद का कोई प्राकृतिक कारण होना आवश्यक नहीं होता। इन भाषाओं में बहुवचन के भिन्न भिन्न रूप तो होते ही हैं, किसी किसी भाषा में द्विवचन भी देख पड़ता है। इस प्रकार अनेक बातों में ये भाषाएँ सेमेटिक भाषाओं से मिलती हैं; इसी से कई विद्वान् हैमेटिक और सेमेटिक दोनों परिवारों में समान मूल की कल्पना करने लगते हैं।

अफ्रीका का पाँचवाँ भाषा-परिवार है सेमेटिक। इस परिवार की अरबी भाषा मुसलमान विजेताओं के साथ उत्तर अफ्रीका में आई थी और अब वह मरक्को से लेकर स्वेज़ तक और सारे मिस्र देश में बोली जाती है। अलजीरिया और मरक्को में वही राज-काज की भाषा है। इस भाषा ने अफ्रीका की अन्य भाषाओं पर भी बड़ा प्रभाव डाला है। मुसलमानों के पहले भी यहाँ सेमेटिक भाषा आ गई थी, जिसकी वंशज भाषाएँ एबीसीनिया और कार्थेज में मिलती हैं। इस परिवार का सविस्तर वर्णन आगे यूरेशिया-खंड में किया जायगा, क्योंकि वहीं इसका उद्भव और पूर्ण विकास हुआ है।

यूरेशिया[2]-खंड की भाषाएँ सबसे अधिक महत्त्व की हैं। यहाँ की भाषाओं में संसार की बड़ी बड़ी उन्नत जातियों की सभ्यता और संस्कृति

यूरेशिया-खंड

निहित है। इन भाषाओं में ही संसार का प्राचीनतम साहित्य पाया जाता है। ये अतीत में भी और आज भी विश्व-भाषा अथवा संसार के सबसे बड़े जन-समुदाय की राष्ट्रभाषा होने का पद प्राप्त कर चुकी हैं।

(१) साधारण परिचय के लिए देखो—Taraporewala's Elements of the Science of Language; और सविस्तर वर्णन के लिए देखो—Werner अथवा Tucker.

(२) यूरोप + एशिया = यूरेशिया।

यहाँ की प्राय: सभी भाषाएँ संस्कृत और साहित्यिक रूप में मिलती हैं और उनके वर्तमान बोले जानेवाले रूप भी प्राय: मिलते हैं। इन भाषाओं का अध्ययन और अनुशीलन भी अधिक हुआ है और इसलिए उनका सविस्तर वर्गीकरण किया जा सकता है, फिर भी कुछ ऐसी भाषाएँ और बोलियाँ मिलती हैं जो किसी एक परिवार के अंतर्गत नहीं आ सकतीं। ऐसी मृत और जीवित सभी भाषाओं को एक विविध समुदाय में रख दिया जाता है और इस प्रकार यूरेशिया में निम्न-लिखित सात प्रधान भाषा-परिवार माने जाते हैं—

(१) विविध समुदाय—(अ) प्राचीन
(क) एट्रूस्कन
(ख) एकेडिअन (अथवा सुमेरिअन)
(आ) आधुनिक
(क) बास्क
(ख) जापानी
(ग) कोरियाई
(घ) हाइपर बोरी समुदाय
(२) यूराल अल्ताई परिवार
(३) एकाक्षर अथवा चीनी परिवार
(४) द्रविड़ परिवार
(५) काकेशस परिवार
(६) सेमेटिक परिवार
(७) भारोपीय (अथवा भारत-योरोपीय) परिवार

(१) विविध समुदाय

विविध समुदाय में वे ही भाषाएँ आती हैं जो किसी ज्ञात परिवार में नहीं रखी जा सकतीं अर्थात् वे सबकी सब भिन्न भिन्न परिवारों की प्रतिनिधि हैं, पर एक व्यक्ति के समान एक भाषा को एक भाषा-परिवार कहना उचित नहीं है, इससे ये सब अनमेल भाषाएँ एक समुदाय में रख दी जाती हैं। इस समुदाय में दो प्राचीन और मृत भाषाएँ भी आती हैं। उनमें से पहली एट्रूस्कन

इटली की प्राचीन भाषा है। रोम की स्थापना के पहले वहाँ इसका व्यवहार होता था। इस भाषा में लिखे कुछ शिलालेख और एक पुस्तक भी मिलती है। पहले तो कुछ विद्वान् इसे भारोपीय भाषा की सजातीय समझते थे, पर अब उस प्राप्त पुस्तक ने संदेह उत्पन्न कर दिया है[1]।

ऐसी ही दूसरी प्राचीन भाषा सुमेरिअन है। यद्यपि यह भाषा ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व ही मृतप्राय हो चुकी थी तथापि उसका विशाल साहित्य एसीरिअन विद्वानों की कृपा से रक्षित रह गया। सुमेरिअन लोग बेबीलोन के शासक थे और उनकी संस्कृति और सभ्यता इतनी सुंदर थी कि उनके उत्तराधिकारी असीरिअन लोगों ने भी उसका त्याग नहीं किया। असीरिअन विद्वानों ने उनके विशाल वाङ्मय का अध्ययन किया और टीका, टिप्पणी के अतिरिक्त उस भाषा के व्याकरण और कोष भी लिखे, अतः असीरिअन अनुवाद सहित अनेक सुमेरिअन ग्रंथ आज भी मिलते हैं। यह भाषा प्रायः प्रत्यय-प्रधान है और इसमें अनेक ऐसे लक्षण मिलते हैं जिनसे इसका यूराल-अल्ताई परिवार से संबंध प्रतीत होता है पर अभी तक यह सिद्ध नहीं हो सका है।

आधुनिक जीवित भाषाओं में से बास्क भाषा (फ्रांस और स्पेन की सीमा पर) वेस्ट पिरेनीज में बोली जाती है। उसमें कम से कम आठ विभाषाएँ स्पष्ट देख पड़ती है। यह भाषा भी प्रत्यय-प्रधान अर्थात् संयोग-प्रधान है किंतु उसकी क्रिया थोड़ी बहुसंहित होती है। इस भाषा की प्रधान विशेषताएँ ये हैं—

(१) उपपद (article) परसर्ग के समान प्रयुक्त होता है; जैसे—ज़ल्दी=घोड़ा; ज़ल्दी-अ = वह घोड़ा (the horse)

(२) सर्वनाम सेमेटिक और हैमेटिक सर्वनामों से मिलते से हैं।

(३) लिंग-भेद केवल क्रियाओं में होता है।

(१) देखो—Ency. Brit., Art. on 'Philology.'

(४) क्रिया के रूप बड़े जटिल होते हैं क्योंकि उनमें सर्वनाम का भी प्राय: संघात अथवा समाहार रहता है।

(५) समास बनते हैं पर समास-प्रधान भाषाओं की नाईं इसके समासों में भी समस्त शब्दों के कई अंश लुप्त हो जाते हैं।

(६) शब्द-भांडार बहुत छोटा और हीन है क्योंकि अमूर्त वस्तुओं के लिए शब्द बिलकुल ही नहीं हैं और कभी कभी बहन के समान संबंधियों के लिये भी शब्द नहीं मिलते।

(७) वाक्य-विचार बड़ा सरल होता है। क्रिया प्राय: अंत में आती है।

इस समुदाय की दूसरी जीवित भाषा जापानी है। इसे कुछ लोग यूराल-अल्ताई परिवार में रखते हैं। इसमें पर-प्रत्यय-प्रधानता तो मिलती है पर दूसरे लक्षण नहीं मिलते। यह बड़ी उन्नत भाषा है। इस पर चीनी भाषा और संस्कृति का प्रभाव पड़ा है।

इसी प्रकार कोरियाई भाषा भी यूराल-अल्ताई परिवार में निश्चित रूप से नहीं रखी जा सकती। यद्यपि कोरिया की राज-भाषा तो चीनी है पर लोकभाषा यही कोरियाई है।

इस समुदाय की कुछ भाषाएँ जिन्हें 'हाइपर बोरी' कहते हैं एशिया के उत्तर-पूर्वी किनारे पर लेना नदी से सखालिन तक व्यव-हार में आती हैं।

(२) यूराल-अल्ताई परिवार

भाषा-विज्ञान के प्रारंभिक काल में विद्वानों ने भारोपीय (इंडो-यूरोपियन) और सेमेटिक के अतिरिक्त एक तीसरे परि-वार 'तूरानी' की कल्पना की थी और इस तीसरे परिवार में वे तुर्की, चीनी आदि उन सभी भाषाओं को रख देते थे जो उन दो परिवारों में नहीं आ सकती थीं, पर अब अधिक खोज होने पर यह नाम (तूरानी) छोड़ दिया गया है और अब तुर्की-भाषा से संबंध रखनेवाले परिवार का दूसरा नाम यूराल-अल्ताई[1] परिवार ठीक समझा जाता है, क्योंकि

(१) इस परिवार का तूरानी के अतिरिक्त सीदिअन नाम भी था।

विद्वानों के अनुसार इस परिवार का मुख्य स्थान यूराल और अल्ताई पर्वतों के मध्य का प्रदेश समझा जाता है। आज दिन इस परिवार की भाषाएँ अटलांटिक महासागर से लेकर ओखोटस्क सागर तक फैली हुई हैं और उसकी कुछ शाखाएँ भू-मध्यसागर तक पहुँच गई हैं। वास्तव में इस परिवार में इतनी भाषाएँ सम्मिलित कर ली गई हैं कि इसे परिवार की अपेक्षा समुदाय कहना ही अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है। यद्यपि इन सब भाषाओं का परस्पर संबंध स्थिर करना कठिन है तो भी उन सबमें दो साधारण लक्षण पाए जाते हैं--पर-प्रत्यय-संचयन और स्वरों की अनुरूपता। तुर्की इसका प्रधान उदाहरण है और हम पीछे[1] देख चुके हैं कि उसमें किस प्रकार एक पर एक प्रत्यय का उपचय संभव है और कैसे प्रकृति का स्वर प्रत्यय के स्वर[2] को अपने अनुरूप बना लेता है।

इस परिवार के पाँच मुख्य समुदाय होते हैं जिनमें और भी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं, अतः नीचे स्थूल वर्गीकरण का निर्देश कर दिया जाता है—

- यूराल[3]-अल्ताई परिवार
  - (१) फिनो-अग्रिक
    - फिनिक — फिनिश, लैपिक और अन्य विभाषाएँ
    - परमिअन (यूरोपीय रूस के यूराल पर्वत के पास)
    - व्हालगा-फिनिक (बलगेरिया में)
    - अग्रिक
      - व्होगुल (सैबीरिया के पश्चिमोत्तर)
      - मेग्यर (हंगरी में)
  - (२) समोयेड् (आर्कटिक सागर के किनारे सैबीरिया की पश्चिमी सीमा पर बोली जानेवाली बोलियाँ)
  - (३) टुंगूज (ओखोटस्क सागर के पास और मंचूरिया में)
  - (४) मंगोलिअन (मंचूरिया, मंगोलिआ आदि के कुछ भागों में)
  - (५) टर्को-टार्टार (तुर्की-तातार) — तुर्की, याकूत आदि कई भाषाएँ और बोलियाँ

(१) देखो—पृष्ठ ८२-८३ (तीसरा प्रकरण)।

(२) देखो—एव-लेर और आत-लार में स्वर का परिवर्तन।

(३) इस परिवार की फ़िनिश, मेग्यर और तुर्की में अच्छा उन्नत साहित्य मिलता है।

(३) एकाक्षर अथवा चीनी परिवार

यूराल-अल्ताई परिवार के क्षेत्र से आगे बढ़कर एशिया के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग की ओर जाने पर भूखंड का एक बड़ा भाग मिलता है, जहाँ एकाक्षर भाषाएँ बोली जाती हैं। भारोपीय परिवार को छोड़कर इसी परिवार की भाषाओं के वक्ता संख्या में सबसे अधिक हैं। यह परिवार बड़ा ही संहित और संश्लिष्ट भाषा-समुदाय है, क्योंकि भौगोलिक एकता के साथ ही इसके वक्ताओं में सांस्कृतिक और धार्मिक एकता भी है। इस परिवार में चीनी भाषा प्रधान होने से उसी के नाम से इस परिवार का नाम पड़ गया है और कुछ भाषाओं के भारत में होने से इस परिवार को लोग 'भारत-चीनी' (Indo-Chinese) भी कहते हैं। इसके मुख्य भेद तथा उपभेद ये हैं—

एकाक्षर अथवा चीनी परिवार
- (१) अनामी (टोन्किन, कोचीन-चीन, कंबोडिया में)
- (२) स्यामी अथवा थाई
- (३) तिब्बत-बर्म्मी
  - तिब्बती
  - बर्मी
  - अन्य छोटी छोटी विभाषाएँ तथा बोलियाँ
- (४) चीनी
  - कंटूनी, हक्का, पेकिंगी इत्यादि

इनमें से अनामी और स्यामी पर चीनी का बहुत प्रभाव पड़ा है और चीनी के समान ही वे एकाक्षर, स्थान-प्रधान तथा स्वर-प्रधान भाषाएँ हैं। तिब्बती और बर्म्मी भाषाओं पर भारतीय भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है। उनकी लिपि तक ब्राह्मी से निकली है और तिब्बती (भोट) भाषा में तो संस्कृत और पाली के अनेक ग्रंथ अनुवादित भरे पड़े हैं। इनका सविस्तर वर्णन भारत की भाषाओं में आवेगा। इन तीनों वर्गों की अपेक्षा चीनी का महत्त्व अधिक है। वही एकाक्षर और व्यास-प्रधान भाषा का आदर्श उदाहरण मानी जाती है। वह पाँच हजार वर्षों की

पुरानी संस्कृति और सभ्यता का खजाना है, उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों और भावों तक के अभिव्यक्त करने की शक्ति है। उसकी लिपि भी निराली ही है। उसमें एक शब्द के लिये एक प्रतीक होता है (Ideography); उसमें व्याकरण की प्रक्रिया का भी अभाव ही है। स्वर और स्थान का प्राधान्य तो चीनी का साधारण लक्षण है। उसकी व्यास-प्रधानता आदि अन्य विशेषताओं का वर्णन पीछे हो चुका है।

(४) द्रविड परिवार

द्रविड परिवार भारत में ही सीमित है। भारत की अन्य भाषाओं से उसका इतना घनिष्ठ संबंध है कि उसका वर्णन भारत की भाषाओं के प्रकरण में ही करना अच्छा होगा।

(५) काकेशस परिवार

काकेशस परिवार की भाषाएँ पूर्व-प्रत्यय और पर-प्रत्यय दोनों का संचय करती हैं, अतः अब निश्चित रूप से वे संयोग-प्रधान भाषाएँ मानी जाती हैं। इनकी रचना ऐसी जटिल होती है कि पहले विद्वान् इन्हें विभक्ति-प्रधान समझा करते थे और इनकी विभाषाएँ तथा बोलियाँ एक दूसरी से इतना कम मिलती हैं कि कभी कभी यह संदेह होने लगता है कि ये एक परिवार की हैं या नहीं। इस परिवार का वर्गीकरण नीचे दिया जाता है—
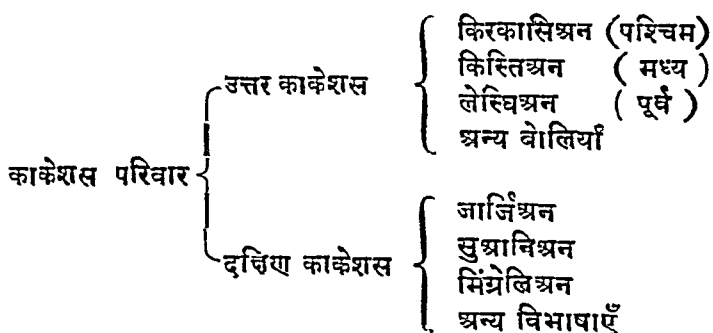
वक्ताओं की दृष्टि से चीनी परिवार बड़ा है पर राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक दृष्टि से सेमेटिक परिवार उससे भी अधिक

महत्त्व का है। केवल भारोपीय परिवार सभी बातों में इससे बड़ा है। सेमेटिक परिवार की भाषाओं ने संसार की अनेक जातियों को लिपि की कला सिखाई है। केवल भारत और चीन की लिपि अपनी निजी और स्वदेशी कही जा सकती है। भारत की भी खरोष्ठी आदि कई लिपियाँ सेमेटिक मूल से निकली हैं और कुछ विद्वान् तो ब्राह्मी तक को सेमेटिक से उत्पन्न बताते हैं। कुछ भी हो, सेमेटिक भाषाओं का महत्त्व निर्विवाद है। इन भाषाओं की सबसे पहली विशेषता यह है कि इनकी धातुएँ तीन व्यंजनों से बनती हैं, उनमें स्वर एक भी नहीं रहता; और उच्चारण के लिये जिन स्वरों अर्थात् अक्षरों का व्यवहार होता है वे ही वाक्य-रचना को जन्म देते हैं। इन भाषाओं के रूप स्वरों के विकार से ही उत्पन्न होते हैं। इन स्वरों के द्वारा ही मात्रा, संख्या, स्थान, कारक आदि बातों का बोध होता है; अर्थात् इन सेमेटिक भाषाओं में विभक्तियाँ अंतर्मुखी होती हैं। अंत:विभक्तियों के साथ ही पूर्व और पर-विभक्तियों का भी व्यवहार होता है। जैसे 'क्त्ब्' (लिखना) तीन व्यंजनों की एक धातु है इससे अक्तब (उसने लिखवाया), कतवत् (उसने लिखा), तक्तुबू (वह लिखती है), कतबूना (हमने लिखा) और नाक्तूबू (हम लिखते हैं) आदि अनेक रूप बन जाते हैं।

(६) सेमेटिक परिवार

इन भाषाओं की एक विशेषता यह भी है कि इनमें हैमेटिक और भारोपीय परिवार की नाईं व्याकरणिक लिंग-भेद होता है। इनमें कारक तीन ही होते हैं—कर्त्ता, कर्म और संबंध। अंतिम दो कारकों की विभक्तियों द्वारा सभी अवशिष्ट विभक्तियों का काम चल जाता है। सेमेटिक की एक विचित्रता यह भी है कि कुछ सर्वनाम क्रियाओं के अंत में जोड़ दिए जाते हैं; जैसे—दरब-नी (उसने मुझे मारा), कतब-इ (मेरी किताब) इत्यादि। पर सेमेटिक में वैसे समास नहीं बनते जैसे भारोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं। इस परिवार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी

भाषाओं में परस्पर बहुत कम अंतर पाया जाता है। अन्य परिवार की भाषाएँ एक दूसरी से बहुत दूर जा पड़ती हैं पर इस परिवार की भाषाओं में थोड़े ध्वनि-विकार-जन्य भेदों को छोड़कर कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। कुछ भाषाएँ बहुसंहित से व्यवहित हो गई हैं पर इससे कोई बड़ा अंतर नहीं हो गया है।

सेमेटिक परिवार का वंश-वृत्त इस प्रकार बनाया जा सकता है—
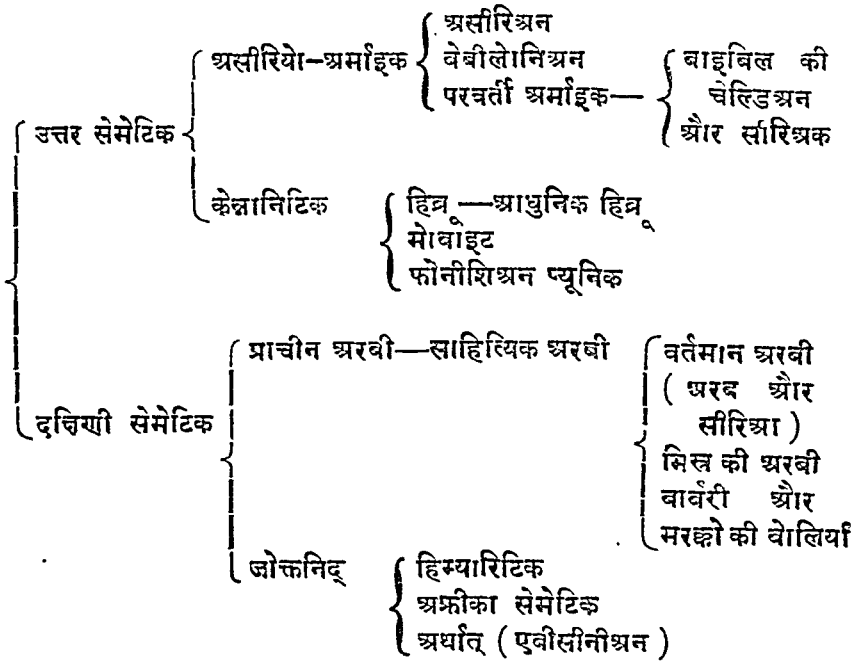
प्राचीन काल में लगभग ईसा से ८०० वर्ष पूर्व अर्माइक भाषा सीरिया, मेसोपुटेमिया और चेल्डिया में बोली जाती थी। असीरिअन और बेबीलोनिअन साहित्यिक भाषाएँ हैं और उनमें अंतर भी बहुत कम पाया जाता है। असीरिअन भाषा में सेमेटिक के आर्ष रूप देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार हिब्रू अथवा इब्रानी में वर्तमान हिब्रू का प्राचीन रूप मिलता है। इसी प्राचीन हिब्रू में ईसाइयों का प्राचीन विधान (Old Testament) लिखा गया था। वर्तमान हिब्रू तो विचित्र खिचड़ी है। उसमें अर्माइक, ग्रीक, लैटिन और प्राचीन हिब्रू के अतिरिक्त कुछ उन भाषाओं की भी सामग्री

मिलती है जिन भाषाओं के संपर्क में यहूदी लोग रहते हैं। प्रसिया में बोली जानेवाली 'यिडिश' इसका एक उदाहरण है। मोवाइट भाषा ईसा से ६०० वर्ष पूर्व के शिलालेख में ही मिलती है। इसी प्रकार प्यूनिक भाषा का भी शिलालेखों से ही पता चलता है। वह कार्थेज (अफ्रीका) में बोली जाती थी। साहित्यिक अरबी वास्तव में सेमेटिक भाषा की प्रतिनिधि है। यह मध्य अरब की कुरया जाति की बोली थी। इसको कुरान और इस्लाम धर्म ने अधिक उन्नत और साहित्यिक बना दिया। आज भी प्रांतीय भेदों को छोड़ दें तो अरबी अरब, सीरिया, मेसोपुटेमिया, मिस्र और उत्तर अफ्रीका में बोली जाती है। पर इस्लाम धर्म के पहले, फोनीसिअन व्यापारियों की कृपा से, जो सेमेटिक भाषा अफ्रीका पहुँच गई थी वह अब कहीं नहीं बोली जाती। हिम्यारिती केवल शिलालेखों में रह गई है और एबीसीनिअन एबीसीनिआ के केवल धर्म-कृत्यों में व्यवहृत होती है। धार्मिक दृष्टि से इस परिवार की एक और भाषा महत्त्व की है। वह है सीरिएक। इसी सीरिएक में ईसाई-धर्म का प्राचीन साहित्य पाया जाता है। कोई २०० ईसवी में प्राचीन विधान (Old Testament) का हिब्रू से और नव विधान (New Testament) का ग्रीक से इसी भाषा में अनुवाद किया गया था। वे अनुवाद आज तक विद्यमान हैं। दूसरा धार्मिक साहित्य भी इसमें मिलता है। अपभ्रष्ट और विकृत रूप में यह भाषा आज भी मेसोपुटेमिया और कुर्दिस्तान के कुछ भागों में बोली जाती है।

अब यूरेशिया का ही नहीं, विश्व का भी सबसे बड़ा भाषा-परिवार सामने आता है। इस भारोपीय (भारत-योरोपीय)

(७) भारोपीय परिवार

परिवार के बोलनेवाले भी सबसे अधिक हैं और उसका साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व भी सबसे अधिक है। इस परिवार का अध्ययन भी सबसे अधिक हुआ है। इसके मुख्य और सामान्य लक्षण ये हैं—

(१) विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और प्रकृति के अंत में अर्थात् पर में लगती हैं।

(२) इस परिवार की प्रायः सभी भाषाएँ संहित से व्यवहित हो रही हैं।

(३) धातुएँ एकाच् (अर्थात् एकाक्षर) होती हैं, उनमें कृत् और तद्धित प्रत्यय लगने से अनेक रूप बनते हैं।

(४) इसमें पूर्व-विभक्तियाँ अथवा पूर्व सर्ग नहीं होते। 'उपसर्ग'[1] होते हैं पर उनका वाक्य के अन्वय से कोई संबंध नहीं होता। पर सेमेटिक भाषाओं में ऐसी पूर्व-विभक्तियाँ होती हैं जो वाक्य का अन्वय सूचित करती हैं।

(५) इस परिवार में समास-रचना की विशेष शक्ति पाई जाती है जो अन्य सेमेटिक आदि परिवारों में नहीं होती।

(६) इसी प्रकार अक्षरावस्थान इस परिवार की अपनी विशेषता है। यद्यपि सेमेटिक में भी इससे मिलती-जुलती बात 'स्वरानुरूपता' में देख पड़ती है पर दोनों के कारणों में बड़ा अंतर होता है। भारोपीय भाषा के अक्षरावस्थान का कारण स्वर अथवा बल होता है और सेमेटिक स्वरानुरूपता वाक्य के अन्वय से संबंध रखती है।

(७) इस परिवार की भाषाओं में सभी प्रकार के संबंधों के लिये विभक्तियाँ आवश्यक होने के कारण विभक्तियों का भी अनुपम बाहुल्य हो गया है। इस परिवार में सेमेटिक के समान एकता होने के कारण उन विभक्तियों में नित नूतन परिवर्तन होते रहते हैं। इससे इनमें विभक्तियों की संपत्ति बहुत अधिक बढ़ गई है।

इस परिवार के नाम भी अनेक प्रचलित हैं। पहले मेक्समूलर प्रभृति लेखकों ने उसे 'आर्य' नाम दिया, पर अब 'आर्य' शब्द से केवल भारत-ईरानी वर्ग का बोध होता है। कुछ दिनों तक इंडो-जर्मन अथवा भारत-जर्मनीय नाम व्यवहार में आता था और

(१) पूर्वसर्ग, परसर्ग और उपसर्ग में बड़ा अंतर होता है। उपसर्ग संस्कृत व्याकरण में गृहीत अर्थ में ही यहाँ लिया गया है।

जर्मनी देश में आज भी यह नाम चलता है, पर सब से अधिक प्रचलित नाम भारोपीय (अथवा भारतयोरोपीय) ही है। जर्मनी को छोड़ सभी योरोपीय देशों तथा भारत में भी यह नाम स्वीकृत हो चुका है। वह इस परिवार की भाषाओं के भौगोलिक विस्तार का भी निर्देश कर देता है। इनके अतिरिक्त इंडो-कैल्टिक, सांस्कृतिक काकेशसियन और जैफेटिक नाम भी प्रयोग में आए, पर इनका कभी प्रचार नहीं हुआ और न इनमें कोई विशेषता ही है। यद्यपि इंडो-केल्टिक नाम में इस भाषा-क्षेत्र के दोनों छोर आ जाते हैं तो भी वह नाम चल न सका।

परिवार का नामकरण

इस भारोपीय परिवार में प्रधान नव परिवार अथवा शाखाएँ मानी जाती हैं—कैल्टिक, जर्मन, इटालिक (लैटिन), ग्रीक (हैलेनिक), तोखारी, अल्बेनिअन (इलीरिअन), लैटोस्टाव्हिक (बाल्टोस्लाव्हिक), आर्मेनिअन और आर्य (हिंदी-ईरानी)। इसके अतिरिक्त डेसिअन, थ्रेसिअन, फ्रीजिअन, हिट्टाइट आदि परिवारों का शिलालेखों से पता लगता है; इनमें से अधिक महत्त्व का परिवार हिट्टाइट है पर उसके विषय में बड़ा मतभेद है। एशिया-माइनर के बोगाजकुई में जो ईसा से पूर्व चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के इस हिट्टाइट भाषा के शिलालेख मिले हैं उनकी भाषा, प्रो० साइस के अनुसार, सेमेटिक है; उस पर थोड़ा भारोपीय परिवार का प्रभाव पड़ा है, पर प्रो० ह्राजनी और कई भारतीय विद्वान् कहते हैं कि वह भाषा वास्तव में भारोपीय है जिस पर सेमेटिक का प्रभाव पड़ा है। जो हो, यह भाषा सेमेटिक और भारोपीय के सम्मिश्रण का सुंदर उदाहरण है। इस भाषा का भी थोड़ा वर्णन आगे किया जायगा।

विद्वानों की कल्पना है कि प्रागैतिहासिक काल में भी इस भारोपीय भाषा में दो विभाषाएँ[1] थीं, इसी से उनसे निकली हुई

(१) देखो—Uhlenbeck: A Manual of Sanskrit Phonetics.

भाषाओं की ध्वनियों में पीछे भी भेद लक्षित होता है। ग्रीक लैटिन आदि कुछ भाषाओं में प्राचीन मूल भाषा के 'चवर्ग[1]' ने कवर्ग का रूप धारण कर लिया है और संस्कृत, ईरानी आदि में वही चवर्ग 'घर्षक ऊष्म' बन गया है

केंटुम् और शतम् वर्ग

अर्थात् कुछ भाषाओं में जहाँ कवर्ग का कंठ्य वर्ण देख पड़ता है वहीं (उसी शब्द में) दूसरी भाषाओं में ऊष्म वर्ण पाया जाता है; जैसे लैटिन में केंटुम्, आक्टो, डिक्टिओ, गेनुस रूप पाए जाते हैं पर उन्हीं के संस्कृत प्रतिशब्द शतम्, अष्टौ, दिष्टि:, जन:[2] आदि में ऊष्म वर्ण देख पड़ते हैं[3]। इसी भेद के आधार पर इन भारोपीय भाषाओं के दो वर्ग माने जाते हैं—एक केंटुम् वर्ग और दूसरा शतम् (अथवा सतम्) वर्ग। सौ का वाचक शब्द सभी भारोपीय भाषाओं में पाया जाता है अत: उसी को भेदक मानकर यह नामकरण किया गया है। यथा—मूल भा०[4] कॅंतोम् (km̥tom); लै० केंटुम्, (Centum), ग्री० ह्यकतोम्, (ἑ—κατον) प्राचीन आयरिश केत्, गाथिक ख़ुंद (hund), तोखारी कंध; और दूसरे वर्ग की संस्कृत में शतम्, अवेस्ता में सतम्, लिथु० (शितस्) स्ज़िम्तस्, रूसी स्तो। पहले-पहल जब अस्कोली ने १८७० ई० में

(१) यह चवर्ग k̑, k̑h, g̑, g̑h, इस प्रकार लिखा जाता है और यह संस्कृत के तालव्य चवर्ग से कुछ भिन्न माना जाता है। संस्कृत में उस प्राचीन चवर्ग के स्थान में श, ज अथवा ह ध्वनियाँ आती हैं।

(२) जन: का ज प्राचीन ऊष्म ज़ (Spirant z) का प्रतिनिधि है। देखो अवस्ता का ज़न्।

(३) देखो—डा० मंगलदेव का भाषा-विज्ञान, पृ० ३०६-३१२। वहाँ इस भेद को ग्रीक और संस्कृत के उदाहरण देकर सविस्तर समझाया गया है।

(४) मूल (काल्पनिक) भारोपीय भाषा अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक लिपि में लिखी जाती है अत: उसी का व्यवहार करना सुविधाजनक होता है; इसी प्रकार ग्रीक लिपि को हिंदी में लिखना उतना सुंदर नहीं होता इसीसे नागरी उच्चारण भी दे दिया गया है। जर्मन में कभी कभी 'ह' का उच्चारण ख होता है अत: वह भी रोमन लिपि में लिख दिया गया है। यथास्थान कारणवश विभिन्न लिपियों का प्रयोग करना ही पड़ता है। गाथिक में 'क' का 'ख' होना ग्रिम-सिद्धांत के अनुकूल है।

इस भेद की खोज की थी और फान ब्राडके[1] ने यह द्विधा वर्गीकरण किया था, तब यह समझा जाता था कि केंटुम् वर्ग पश्चिमी और शतम् वर्ग पूर्वी देशों में प्रचलित हुआ है, पर अब एशिया-माइनर की हिट्टाइट (हित्ती) और मध्य-एशिया (तुरफान) की तोखारिश भाषाओं की खोज ने इस पूर्व और पश्चिम के भेद को भ्रामक सिद्ध कर दिया है; ये दोनों भाषाएँ पूर्वीय होती हुई भी केंटुम् वर्ग की हैं। इस वर्गीकरण की विशेषता यह है कि किसी भी वर्ग की भाषा में दोनों प्रकार की ध्वनियाँ नहीं मिलतीं अर्थात् कभी नियम का अतिक्रमण नहीं होता और न भेद अस्पष्ट होता है। दोनों वर्गों में भाषाओं के निम्नलिखित उप-परिवार आते हैं—

यूरेशिया के पश्चिमी कोने में कैल्टिक शाखा की भाषाएँ बोली जाती हैं। एक दिन था जब इस शाखा का एशिया-माइनर में गेलेटिआ तक प्रसार था पर अब तो वह यूरोप के पश्चिमोत्तरी कोने से भी धीरे धीरे लुप्त हो रही है। इस शाखा का इटालियन

(१) देखो—Von Bradke; Ueber methode ergebnisse derareschen (Giessen 1890)

(२) हिट्टाइट को यहाँ रख दिया है, क्योंकि भारतीय विद्वान् उसे भारोपीय वर्ग में ही मानते हैं।

(३) इस वर्गीकरण में पश्चिम से पूर्व की ओर भौगोलिक स्थिति का संकेत भी किया गया है।

शाखा से इतना अधिक साम्य[1] है कि स्यात् उतना अधिक साम्य भारतीय और ईरानी को छोड़कर किन्हीं दो भारोपीय शाखाओं में न मिल सकेगा। इटालियन शाखा की ही

कैल्टिक शाखा[1]

नाईं कैल्टिक में उच्चारण-भेद के कारण दो विभाग किए जाते हैं—एक क-वर्गीय कैल्टिक और दूसरी प-वर्गीय कैल्टिक; एक वर्ग की भाषाओं में जहाँ 'क' पाया जाता है, दूसरे वर्ग में वहीं 'प' मिलता है। जैसे 'पाँच' के लिये वेल्श में पंप पाया जाता है और आयरिश में कॉड्क। इन दो वर्गों के साथ ही प्राचीन काल के विशाल राज्य गाल की भाषा 'गालिश' अथवा 'गालिक' जोड़ देने से इस शाखा के तीन मुख्य वर्ग हो सकते हैं—

(क) गालिश—स्थानों के नामों, सिक्कों तथा शिलालेखों से यह पता लगता है कि जिन गाल लोगों को सीजर ने जीता था उन्हीं की यह भाषा थी और उन्हीं के कारण यह ईसा से २८० वर्ष पूर्व एशिया-माइनर तक पहुँच गई थी। अब मुख्य गाल देश में रोमांस[2] भाषा बोली जाती है।

(ख) गायलिक अथवा गायडेलिक में तीन भाषाएँ मानी जाती हैं—स्काच गायलिक, मैंक्स और आयरिश। स्काच गायलिक स्काटलैंड में ग्यारहवीं ईस्वी में बोली जाती थी। अब तो वह नष्ट हो गई है। मैंक्स भी नष्टप्राय है, कुछ थोड़े से लोग 'आइल आफ़ मैन'[3] में उसका व्यवहार करते हैं। केवल आयरिश भाषा ऐसी है जिसे कुछ लाख वक्ता काम में लाते हैं। अब आयर्लैंड की देशभक्ति ने उसे थोड़ा प्राण-दान दे दिया है।

(१) देखो—Encyl. Brit. article on Celtic Languages.

(२) फ्रेंच, प्राव्हेंसल, इटाली, पुर्तगाली, स्पेनी, रोमांश (Roumansch) और रूमानिअन—इतनी भाषाएँ रोमांस (Romance) भाषाएँ कहलाती हैं। रोमांश पूर्वी स्विजरलैंड की भाषा है और रोमांस इन सभी भाषाओं की साधारण संज्ञा है।

(३) Isle of Man.

(ग) ब्रिटानिक अथवा सीमेरिक वर्ग में भी तीन भाषाएँ आती हैं—वेल्श, कार्निश और ब्रेटन। ये तीनों प-वर्गीय कैल्टिक हैं। इनमें सबसे अधिक साहित्यिक और महत्त्वपूर्ण वैल्स (अथवा सीमेरिक) है। आठवीं सदी से आज तक उसकी श्रीवृद्धि होती ही जा रही है। आज भी लाखों आदमी उसे व्यवहार में लाते हैं और उसमें ही इस शाखा के सब लक्षण स्पष्ट देख पड़ते हैं।

कार्निश भाषा का अंतिम वक्ता अठारहवीं शताब्दी में ही मर गया था। केवल इस भाषा का थोड़ा प्राचीन साहित्य उपलब्ध है।

ब्रेटन (ब्रिटानी की बोली)—प्राचीन कार्निश की ही एक विभाषा है, पर वह आज भी पश्चिमोत्तर फ्रांस के कुछ प्रदेशों में बोली जाती है।

कैल्टिक शाखा
- गेयलिक (गायडेलिक) अर्थात् क-वर्गीय कैल्टिक — स्काचगेअलिक, मैंक्स, आयरिश
- गालिक (अथवा प्राचीन गालिश)—लुप्त
- ब्रिटानिक अथवा सीमेरिक (प-वर्गीय) — सीमेरिक(वैल्श), कार्निश, ब्रेटन

जर्मन अथवा ट्यूटानिक शाखा—भारोपीय परिवार की यह बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसका प्रसार और प्रचार दिनों-दिन बढ़ रहा है। इसी शाखा की अँगरेजी भाषा विश्व की अंतर्राष्ट्रीय भाषा हो रही है। इस शाखा का इतिहास भी बड़ा मनोहर तथा शिक्षापूर्ण है। प्राचीन काल से ही इस शाखा की भाषाओं में संहित से व्यवहित होने की प्रवृत्ति रही है और इन सभी भाषाओं में प्रायः आद्यक्षर पर 'बल' का प्रयोग होता है। केवल स्वीडन की भाषा स्वीडिश इसका अपवाद है। उसमें (गीत) स्वर का प्रयोग होता है। इन सब भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता है उनका निराला वर्ण-परिवर्तन। प्रत्येक भाषा-विज्ञानी ग्रिम-सिद्धांत[1] से परिचित रहता है। वह इन्हीं भाषाओं की विशेषता है। पहला वर्ण-परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ था।

(१) देखो—आगे 'ध्वनि और ध्वनि-विकार' का प्रकरण।

ग्रिम-सिद्धांत उसी का विचार करता है। इस वर्ण-परिवर्तन के कारण ही जर्मन-शाखा अन्य भारोपीय शाखाओं से भिन्न देख पड़ती है। दूसरा वर्ण-परिवर्तन ईसा की सातवीं शताब्दी में पश्चिमी जर्मन भाषाओं में ही हुआ था और तभी से लो-जर्मन और हाई-जर्मन का भेद चल पड़ा। वास्तव में हाई-जर्मन जर्मनी की उत्तरीय हाईलैंड्स की भाषा थी और लो-जर्मन दक्षिण जर्मनी की लो-लैंड्स में बोली जाती थी। उस निरपवाद ग्रिम-सिद्धांत की यह सब कथा बड़ी सुंदर होती है।

इस शाखा के दो मुख्य विभाग होते हैं—पूर्वी जर्मन और पश्चिमी जर्मन। पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी जर्मन का प्रचार अधिक है; उसमें अधिक भाषाएँ हैं। नीचे उन सबका वर्णन दिया जाता है—
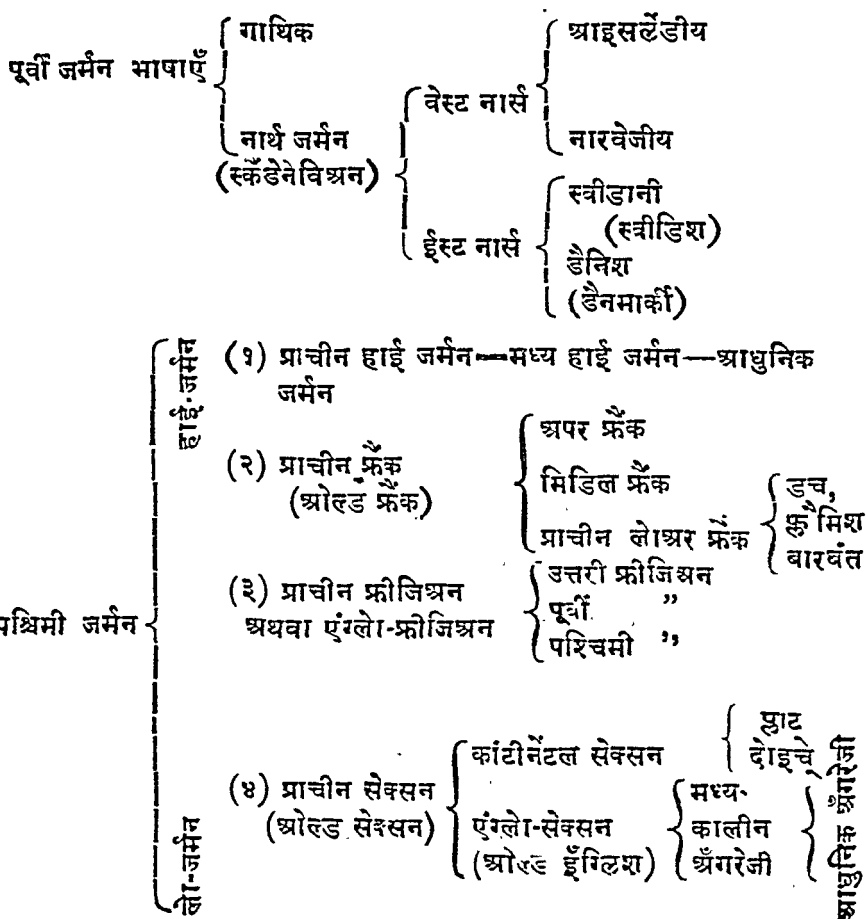
गाथिक सबसे प्राचीन जर्मन भाषा है जिसमें पादरी बुलफिला ने बाइबिल लिखी थी। यह ईसा की चैाथी सदी का ग्रंथ जर्मन भाषा का प्राचीनतम साहित्य है। इसकी भाषा बड़ी संहित है। उसमें नाम और क्रिया की विभक्तियों का बाहुल्य है। उसमें द्विवचन का भी प्रयोग होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस शाखा की यही भाषा ऐसी है जो रचना में संस्कृत से सबसे अधिक समानता रखती है। पर यह बोलचाल से बहुत पहले से ही उठ गई है। आजकल यहाँ स्कैंडेनेविअन भाषाएँ बोली जाती हैं।

पूर्वी जर्मन

पश्चिमी जर्मन भाषाओं में से ओल्ड हाई-जर्मन की प्रतिनिधि आजकल की जर्मन भाषा है और ओल्ड सैक्सन से निकली दो प्रसिद्ध भाषाएँ हैं—एक तो अँगरेजी जो लंडन-विभाषा का साहित्यिक और राष्ट्रीय रूप है और दूसरा प्लाट् दोइच् जो उत्तरी जर्मन के संपूर्ण प्रदेश में व्यवहृत होती है। प्लाट दोइच् के अंतर्गत हालैंड और पश्चिमोत्तर जर्मनी की फ्रीजिअन भाषा भी प्रायः मान ली जाती है। इस प्रकार इस भाषा का भी क्षेत्र विशाल हो जाता है। फ्रीजिअन भाषा अब लुप्तप्राय हो रही है और उसके स्थान पर ओल्ड फ्रैंकिश से निकली सभी भाषाएँ बोली जाती हैं।

पश्चिमी जर्मन

इन सब पश्चिमी भाषाओं के दो भेद किए जाते हैं—हाई-जर्मन और लो-जर्मन। माडर्न जर्मन, और अपर फ्रैंकिश तो निश्चय हाई-जर्मन की वंशज मानी जाती है, पर मिडिल फ्रैंकिश में हाई और लो दोनों प्रकार की जर्मन के लक्षण मिलते हैं। शेष सब भाषाएँ लो-जर्मन के अंतर्गत आती हैं।

इटाली शाखा की लैटिन प्रधान साहित्यिक भाषा होने से इस शाखा का नाम लैटिन शाखा अथवा लैटिन भाषा-वर्ग भी है। कैल्टिक के समान इस शाखा के भी उच्चारण-संबंधी दो भाषा-वर्ग होते हैं—प-वर्ग और क-

इटाली शाखा

वर्ग; अर्थात् जहाँ प-वर्ग की ओस्कन में पंपेरिअस होता है वहाँ क-वर्ग की लैटिन में किंक होता है। राजनीतिक कारणों से रोम की क-प्रधान विभाषा का प्रसार इतना बढ़ा कि प-वर्ग की भाषाओं का लोप ही हो गया; अब अम्ब्रिअन, ओस्कन आदि का शिलालेखों से ही पता लगता है। इस शाखा के भेद-उपभेद नीचे दिखाए जाते हैं—

इन सबमें प्रधान लैटिन ही है। यद्यपि वह ग्रीक भाषा से रूपों और विभक्तियों में बराबरी नहीं कर सकती तो भी उसके प्राचीन संहित रूपों में भारोपीय परिवार के लक्षण स्पष्ट देख पड़ते हैं। इसकी एक विशेषता बल-प्रयोग भी है। लैटिन के जो प्राचीन लेख हैं उनमें भी बल-प्रयोग ही मिलता है और वह उपधा वर्ण पर ही प्राय: रहता है। अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति लैटिन की भी संहिति से व्यवहिति की ओर प्रवृत्ति हुई है; और सबसे अधिक महत्त्व की बात लैटिन का इतिहास है। जिस प्रकार एक लैटिन से इटाली, फ्रेंच आदि अनेक रोमांस भाषाएँ विकसित हुई हैं उसी प्रकार मूल भारोपीय भाषा से भिन्न भिन्न कैल्टिक, ग्रीक, लैटिन आदि शाखाएँ निकली होंगी। कई विद्वान् इस लैटिन के इतिहास

(१) रेटिआ रोम का एक प्रांत था। आज यह भाषा स्विजरलैंड के पश्चिमी भाग में बोली जाती है।

से भारतीय देश-भाषाओं के विकास-क्रम की तुलना करते हैं। इस प्रकार यह रोमांस भाषाओं का इतिहास भाषा-विज्ञान में एक माडल[1] सा हो गया है। यहाँ उसका संक्षिप्त विवेचन कर देना आवश्यक है।

ईसा से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व के शिलालेखों से प्राचीन लैटिन के रूपों का परिचय मिलता है। उसी का विकसित और संस्कृत रूप रोमन साम्राज्य की साहित्यिक लैटिन में मिलता है। सिसरो और आगस्टस के काल में, जब लैटिन का स्वर्ण-युग था, लैटिन के दो स्पष्ट रूप मिलते हैं—एक लेखकों की संस्कृत लैटिन और दूसरी इटाली की लोक-भाषा अर्थात् प्राकृत[2] लैटिन (व्हलगर अथवा पापुलर लैटिन)। रोमन-विजय के कारण स्वभावतः यह लौकिक लैटिन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा अथवा लिंगुआ रोमाना बन गई। उस एकच्छत्र साम्राज्य के दिनों में भी इस लिंगुआ रोमाना में प्रांतीय भेदों की गंध आने लगी थी। एकता का सूत्र टूटने पर अर्थात् रोम-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर यह प्रांतीयता और भी अधिक बढ़ गई और उसने प्रसिद्ध रोमांस भाषाओं को जन्म दिया। इस प्रकार मध्ययुग में एक ही प्राकृत लैटिन ने भिन्न भिन्न देशों और परिस्थितियों में भिन्न भिन्न रूप धारण किये और आज उन्हीं का विकसित रूप इटाली, स्पेन, फ्रेंच, पुर्तगाली, रौमांश और रोमानी आदि सजातीय भाषाओं में मिलता है।

ये सब रोमांस भाषाएँ यूरोप के स्पेन, फ्रांस, पुर्तगाल, बेलजिअम, स्विजरलैंड, रोमानिआ, सिसली और इटली आदि देशों के अतिरिक्त, अमेरिका, अफ्रीका आदि अन्य महाद्वीपों में भी बोली जाती हैं। स्पेनी और पुर्तगाली दक्षिण और मध्य

(१) 'माडल' = आदर्श; माडल-ड्राइंग आदि शब्द इतने अधिक प्रयुक्त होते हैं कि उन्हें हिंदी ही कहना चाहिए।

(२) वास्तव में साहित्यिक लैटिन का बहुत कुछ वही संबंध अपनी विभाषाओं से था जो भारत में संस्कृत का अपनी प्राकृतों से था।

अमेरिका तथा अफ्रीका और वेस्ट इंडीज के कई भागों में बोली जाती हैं।

इन रोमांस भाषाओं में सबसे प्रधान फ्रेंच भाषा है। फ्रांस देश में लैटिन के दो रूप प्रधान हुए। एक तो प्राव्हेंशल भाषा है। वह दक्षिणी फ्रांस में बोली जाती है। उसमें सुंदर साहित्य-रचना भी हुई है पर आजकल के साहित्य और राष्ट्र की भाषा फ्रेंच है। वह पेरिस नगर की विभाषा का विकसित रूप है। यह पहले से फ्रांस की राजभाषा रही है और कुछ ही दिन पहले तक समस्त शिक्षित यूरोप की साधारण भाषा थी। आज भी इसका संसार की भाषाओं में प्रमुख स्थान है।

फ्रेंच

इटाली देश की संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से इटाली भाषा का महत्त्व सबसे अधिक है। रोमन-साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर प्रांतीयता का प्रेम बढ़ गया था। कवि और लेखक प्राय: अपनी विभाषा में ही रचना किया करते थे। इटाली के तेरहवीं शताब्दी के महाकवि दांते (Dante) ने भी अपनी जन्मभूमि फ्लारेंस की विभाषा में ही अपना अमर काव्य लिखा। इसके पीछे रिनेसाँ (जागर्ति) के दिनों में भी इस नगर की भाषा में बड़ा काम हुआ। इस सब का फल यह हुआ कि फ्लारेंटाइन अथवा फ्लारेंस भाषा इटाली की साहित्यिक भाषा बन गई। पुस्तक, समाचार-पत्र आदि आज इसी भाषा में लिखे जाते हैं। इस प्रकार इटाली में एक साहित्य-भाषा आज प्रचलित है। तो भी वहाँ की विभाषाएँ एक दूसरे से बहुत भिन्न पाई जाती हैं, उनका अपना अपना साहित्य भी परस्पर भिन्न रहता है और उनमें परस्पर अनवबोध्यता साधारण बात है।

इटालियन

पुर्तगाली और स्पेनी में अधिक भेद नहीं है। केवल राजनीतिक कारणों से ये दोनों भिन्न भाषाएँ मानी जाती है। रैमांश अथवा रेटोरोमानिक पूर्वी स्विजरलैंड की भाषा है और रोमानी

भाषा इस रोमांस वर्ग की सबसे अधिक पूर्वीय भाषा है, वह रोमा-निआ की प्रधान भाषा है।

अब इन रोमांस भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के साथ भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की तुलना[1] करें तो कई बातें एक सी मिलती देख पड़ती हैं। जिस प्रकार प्राचीन परिष्कृत लैटिन, बोलचाल की लोकभाषा के बदल जाने पर भी, शिक्षितों, साहित्यिकों और धर्माचार्यों के व्यवहार में प्रतिष्ठित रही उसी प्रकार अनेक शताब्दियों तक संस्कृत भी अमर हो जाने पर अर्थात् बोलचाल में प्राकृतों का चलन हो जाने पर भी भारत की 'भारती' बनी रही। जिस प्रकार एक दिन लैटिन रोमन-साम्राज्य की राष्ट्रभाषा थी, उसी प्रकार संस्कृत (वैदिक संस्कृत अथवा आर्ष अप-भ्रंश) आर्य भारत की राष्ट्रभाषा[1] थी। लैटिन और संस्कृत दोनों में ही प्रांतीय विशेषताएँ थीं पर वे उस समय नगण्य थीं। और जिस प्रकार वास्तविक एकता के नष्ट हो जाने पर और प्रांतीयता का बोलबाला हो जाने पर भी लैटिन धर्म और संस्कृति के द्वारा अपने अधीन प्रांतीय भाषाओं पर शासन करती रही है उसी प्रकार संस्कृत ने भी सदा प्राकृतों और अपभ्रंशों पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखा है; आज भी देशभाषाएँ संस्कृत से बड़ी सहायता ले रही हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही शाखाओं में आधुनिक भाषाओं ने प्राचीन भाषा को पदच्युत कर दिया है; यूरोप में अब इटाली, फ्रेंच आदि का प्रचार है, न कि लैटिन का, उसी प्रकार भारत में आज हिंदी, मराठी, बँगला आदि देशभाषाओं का व्यवहार होता है, न कि संस्कृत का। और जिस प्रकार रोमांस भाषाओं के विकास में उच्चारण और व्याकरण-संबंधी विकार देख पड़ते हैं वैसे ही विकार भारतीय प्राकृतों के इतिहास में भी पाये जाते हैं अर्थात् लैटिन से तुलना करने पर जो ध्वनि और रूप के परिवर्तन उससे निकली इटालियन, फ्रेंच आदि में देख

(१) देखो—डा० मंगलदेव शास्त्री का भाषा-विज्ञान, पृ० २६५-६६।

पड़ते हैं, वैसे ही परिवर्तन संस्कृत से प्राकृतों तथा आधुनिक भाषाओं की तुलना करने पर दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे लैटिन और संस्कृत में जहाँ दो विभिन्न व्यंजनों का संयोग मिलता है वहाँ इटाली और प्राकृत में समान व्यंजनों का संयोग हो जाता है उदाहरणार्थ— लैटिन का सेप्टम् (Septem) और ओक्टो (Octo) इटाली में सेत्ते (Sette) और ओत्तो (Otto) हो जाते हैं उसी प्रकार संस्कृत के सप्त और अष्ट पाली में सत्त और अट्ठ हो जाते हैं।

इसी प्रकार की अनेक समानताओं को देखकर विद्वान् लोग जहाँ कहीं भारतीय देशभाषाओं के संबद्ध इतिहास की एकाध कड़ी टूटती देखते हैं, लिखित साक्षी का अभाव पाते हैं, वहाँ उपमान के बल से उसकी पूर्ति करने का यत्न करते हैं। उनके उपमान का आधार प्राय: यही रोमांस वर्ग का इतिहास हुआ करता है।

ग्रीक भाषा का प्राचीनतम रूप होमर की रचनाओं में मिलता है। होमर की भाषा ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व की मानी जाती है। उसके पीछे के भी लेख, ग्रंथ और शिलालेख आदि इतनी मात्रा में उपलब्ध होते हैं कि उनसे ग्रीक भाषा का साधारण परिचय ही नहीं, उसकी विभाषाओं तक का अच्छा ज्ञान हो जाता है। अत: ग्रीक भाषा का सुंदर इतिहास प्रस्तुत हो जाता है और वह भाषा-विज्ञान की सुंदर सामग्री उपस्थित करता है, क्योंकि ग्रीक के प्राचीन रूप में भारोपीय भाषा के अनेक लक्षण मिलते हैं और व्याकरणिक संपत्ति में ग्रीक ही वैदिक संस्कृत से सबसे अधिक मिलती-जुलती है। दोनों की तुलना से अनेक शिक्षाप्रद और महत्त्वपूर्ण बातें सामने आती हैं।

ग्रीक

ग्रीक भाषा में संस्कृत की अपेक्षा स्वरवर्ण अधिक हैं, ग्रीक में संध्यक्षरों का बाहुल्य है, इसी से विद्वानों[1] का मत है कि भारोपीय भाषा के स्वरों का रूप ग्रीक में अच्छी तरह सुरक्षित है, पर संस्कृत

(१) देखो—Uhlenbeck : Manual of Sanskrit Phonetics.

की अतुल व्यंजन-संपत्ति ग्रीक को नहीं मिल सकी। मूल भाषा के व्यंजनों की रक्षा संस्कृत ने ही अधिक की है। दोनों भाषाओं

ग्रीक और संस्कृत की तुलना

में एक घनिष्ठ समानता यह है कि दोनों ही सस्वर भाषाएँ हैं, दोनों में स्वर (गीतात्मक स्वराघात) का प्रयोग होता था और पीछे से दोनों में बल-प्रयोग का प्राधान्य हुआ। रूप-संपत्ति के विषय में यद्यपि दोनों ही संहित भाषाएँ हैं तथापि संस्कृत में संज्ञाओं और सर्वनामों के रूप अधिक हैं; काल-रचना की दृष्टि से भी संस्कृत अधिक संपन्न कही जा सकती है, पर ग्रीक में अव्यय कृदंत, क्रियार्थक संज्ञाएँ आदि अधिक होती हैं। संस्कृत के परस्मैपद और आत्मनेपद के समान ग्रीक में भी एक्टिव (active) और मिडिल (middle) वॉइस (voice) होते हैं। दोनों में द्विवचन पाया जाता है; दोनों में निपातों की संख्या भी प्रचुर है और दोनों में समास-रचना की अद्भुत शक्ति पाई जाती है[1]।

ग्रीक भाषा के विकास की चार अवस्थाएँ स्पष्ट देख पड़ती हैं—होमरिक (प्राचीन), संस्कृत और साहित्यिक, मध्यकालीन और आधुनिक। इसका साधारण वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) देखो—Taraporewala's Elements of Science of Language, pp. 140-41.

विचारपूर्वक देखा जाय तो प्राचीन काल के ग्रीस (=यूनान) में कई भाषाएँ तथा विभाषाएँ व्यवहार में आती थीं। उन सबको मिलाकर एक भाषा-वर्ग कहना चाहिए, न कि एक परिवार। वे सब एक दूसरी से ध्वनि, विभक्ति, वाक्य-रचना, शब्द-भांडार आदि सभी बातों में भिन्न देख पड़ती हैं, तो भी विद्वान् उनका केवल दो उपवर्गों में विभाग करते हैं। एक उपवर्ग में डोरिक, एओलिक, साइपीरिअन आदि वे विभाषाएँ आती हैं जिनमें मूल भारोपीय 'आ' रक्षित रह सका है जैसे मातर (μα'τηρ) और दूसरे में आयोनिक और एटिक आती हैं जिनमें 'आ' परिवर्तित होकर 'ए' (ē) हो जाता है जैसे मेतर μητηρ। यद्यपि साहित्य और अभिलेख इन सभी भाषाओं में उपलब्ध होते हैं तथापि दूसरे उपवर्ग की आयोनिक और एटिक का महत्त्व अधिक है।

प्राचीन आयोनिक में होमर ने अपनी काव्य-रचना की थी। जो होमर की मूलभाषा आयोनिक नहीं मानते उन्हें भी उस काव्य के वर्तमान रूप को आयोनिक मानना ही पड़ता है अर्थात् प्रागैतिहासिक काल में ही आयोनिक काव्य-भाषा बन चुकी थी। उसके पीछे आर्कीलोकस, मिमनर्मस आदि कवियों की भाषा मिलती है। इसे मध्यकालीन आयोनिक कहते हैं। आयोनिक का अंतिम रूप हेरोडोटस की भाषा में मिलता है। यह नवीन आयोनिक कहलाती है।

इससे भी अधिक महत्त्व की विभाषा है एटिक। साहित्यिक ग्रीक की कहानी वास्तव में इसी एटिक विभाषा की कहानी है। उसी विभाषा का विकसित[1] और वर्तमान रूप आधुनिक ग्रीक है। क्लैसिकल (प्राचीन) और पोस्ट-क्लैसिकल (परवर्ती) ग्रीक (१) पेगन (Pagon) और (२) निओहैलैनिक (अर्वाचीन) तथा आधुनिक भाषा (३) क्रिश्चिअन ग्रीक कही जा सकती हैं। प्राचीन साहित्यिक ग्रीक वह है जिसमें एस्काइलस, सोफोक्लीज, प्लेटो और अरिस्टाटिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे हैं। इसका काल ईसा के पूर्व ५००-३००

(१) देखो—History of Greek in Edmonds' Intro. to Comp. Philology, pp. 98-103.

माना जाता है इसके पीछे सिकंदर की विजय ने एटिक को निश्चित रूप से राष्ट्रीय बना दिया और वह तभी से ἡ κοινὴ διάλεκτος काइन डायलेक्टोस् (=Common dialect) कही जाने लगी। इस प्रकार जब एटिक ग्रीस देश भर की लोक-व्यवहार की भाषा हो गई थी तब वह हेलेनिस्टिक ग्रीक कहलाने लगी थी। उसका विशेष वर्धन अलेक्जेंड्रिया में हुआ था। इसी भाषा में ईसाइयों की धर्म-पुस्तक न्यू टेस्टामेंट (नव विधान) लिखी गई थी, पर यह परवर्ती ग्रीक भी पेगन ही थी। वह धर्म-भाषा तो ईसा के ३०० वर्ष पीछे बनी। इसी धार्मिक और कृत्रिम ग्रीक का विकसित रूप निओ-हेलेनिक कहलाता है। इस पर लोक-भाषा की भी छाप स्पष्ट देख पड़ती है। यही भाषा मध्ययुग में से होती हुई आज आधुनिक ग्रीक कहलाती है। १४५० ई० के पीछे की भाषा आधुनिक कही जाती है।

मध्ययुग में बोलचाल की भाषा का इतना प्राधान्य हो गया था कि उस समय की ग्रीक सामयिक बोली का ही साहित्यिक रूप थी, पर अब फिर ग्रीक में प्राचीन एटिक शब्दों के भरने की प्रवृत्ति जाग उठी है। तो भी आधुनिक ग्रीक और प्राचीन एटिक ग्रीक में बड़ा अंतर हो गया है। आज की ग्रीक में कई समानाक्षरों और संध्यक्षरों का लोप हो गया है। व्यंजनों के उच्चारण में भी कुछ परिवर्तन हो गया है। χ, θ, φ प्राचीन ग्रीक में संस्कृत के ख्, थ्, फ् के सदृश उच्चरित होते थे, पर आधुनिक ग्रीक में उनका उच्चारण क्रमशः loch में ch, thing में th और fine में f की नाईं होने लगा है अर्थात् वे बिलकुल 'ऊष्म' (spirants) बन गये हैं। आधुनिक ग्रीक में न तो अक्षरों की मात्रा का विचार रहता है और न स्वर-प्रयोग ही होता है। इस बल-प्रयोग के प्राधान्य से कभी कभी कर्णकटुता भी आ जाती है। इसके अति-रिक्त बहुत सी विभक्तियाँ भी अब लुप्त अथवा विकृत हो गई हैं और विभक्त्यर्थ अव्ययों का प्रयोग अधिक हो गया है। क्रियाओं में

प्राय: सहायक क्रियाओं ने विभक्तियों का स्थान ले लिया है। शब्द-भांडार भी बढ़ गया है। अनेक नये शब्द गढ़ लिये गये हैं और वहुत से विदेशी शब्द अपना लिये गये हैं। यदि प्राचीन संस्कृत और वर्तमान हिंदी की तुलना की जाय तो ऐसी ही अनेक समान वातें मिलेंगी।

एक बात और ध्यान देने की यह है कि आज तो ग्रीक अपने ही छोटे से देश में बोली जाती है पर रोमन-साम्राज्य के समय में वह भूमध्यसागर के चारों ओर आधी दुनिया पर राज्य करती थी। यद्यपि उस समय राज-भाषा लैटिन थी पर राष्ट्र तथा वाणिज्य की भाषा ग्रीस, एशिया-माइनर, सीरिया और मिस्र आदि देशों में ग्रीक ही थी। ईसा से २५० वर्ष पूर्व भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर भी ग्रीक बोली जाती थी। इस प्रकार उस समय की संसार-भाषाओं में ग्रीक का एक विशिष्ट स्थान था, पर सीरिया और मिस्र में अरबी ने और कुस्तुनतुनिया में तुर्की ने इसको पदच्युत करके प्रभुत्व छीन लिया।

हिट्टाइट शाखा

एशिया-माइनर के वोगाजकुई में जो खुदाई और खोज हुई है उससे एक हिट्टाइट राज्य का पता लगा है। इसका काल ईसा से कोई चौदह-पंद्रह शताब्दी पूर्व माना जाता है। उसी काल की भाषा हिट्टाइट (अथवा हित्ती) कही जाती है। प्रो० साइस उसे सेमेटिक समझते हैं, पर प्रो० हाजनी उसे निश्चित रूप से भारोपीय परिवार की भाषा मानते हैं। नीचे लिखे लक्षणों से प्रो० हाजनी[1] (Hrozny) के मत का ही पोषण होता है—

(१) संस्कृत के गच्छन्, गच्छंत: के समान हिट्टाइट में da-a-an और da-an-te-es होते हैं। अन्य विभक्तियों में भी ऐसा ही साम्य पाया जाता है।

(१) देखो—Taraporewala's Elements of Science of Language, p. 146.

(२) संज्ञाओं की कारक-रचना बहुत कुछ भारोपीय है। केवल इतना अंतर है कि सात कारकों के स्थान में इसमें छः ही कारक होते हैं।

(३) सर्वनामों में भी बड़ी समानता पाई जाती है; जैसे—

हिट्टाइट	**भारोपीय**
उग (मैं)	लैटिन इगो (ego)
तत् (वह)	सं० तत्
कुइस् (कौन)	सं० कः और लै० किस (quis)
कुइद् (क्या)	सं० कतरत् लै० किड (quid)
वेदर (पानी water)	सं० उद (र्)

(४) क्रियाओं में भी बहुत साम्य है; जैसे—

हिं० i-ia-mi	सं० यामि
i-ia-si	यासि
i-ia-zi	याति

(५) निपात भी इसी प्रकार समान रूपवाले मिलते हैं।

(६) यह केंटुम् वर्ग की भाषा है और लैटिन के अधिक सन्निकट जान पड़ती है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त हिट्टाइट में कुछ सेमेटिक लक्षण भी पाये जाते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि इस भारोपीय भाषा पर किसी सेमेटिक भाषा का प्रभाव पड़ा है, पर प्रो० साइस के अनुसार वह वास्तव में सेमेटिक परिवार की है और उस पर भारोपीय छाप लग गई है।

हिट्टाइट के समान ही यह भी केंटुम् वर्ग की भाषा है और आधुनिक खोज का फल है। यह सेंट्रल एशिया के तुरफान की भाषा है। इसका अच्छा अध्ययन हुआ है और वह निश्चित रूप से भारोपीय मान ली गई है। उस पर यूराल-अल्ताई प्रभाव इतना अधिक पड़ा है कि अधिक विचार करने पर ही उसमें भारोपीय लक्षण देख पड़ते हैं।

तुखारी

यद्यपि सर्वनाम और संख्यावाचक सर्वथा भारोपीय हैं तथापि उसमें संस्कृत की अपेक्षा व्यंजन कम हैं और संधि के नियम भी सरल हो गये हैं। संज्ञा के रूपों की रचना में विभक्ति की अपेक्षा प्रत्यय-संयोग ही अधिक मिलता है और क्रिया में कृदंतों का प्रचुर प्रयोग होता है। पर शब्द-भांडार बहुत कुछ संस्कृत से मिलता है; जैसे—

सं०	तुखारी
पितृ	पाचर्
मातृ	माचर्
भ्रातृ	प्राचर
वीर	वीर
श्वन्	कु

यद्यपि इस भाषा का पता जर्मन विद्वानों ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में लगाया है तथापि प्राचीन ग्रीक लोगों ने एक तोखारोइ जाति का और महाभारत[1] ने भी एक तुखार जाति का वर्णन किया है।

एल्बेनिअन शाखा

एल्बेनिअन भाषा का भाषा-वैज्ञानिकों ने अच्छा अध्ययन किया है और अब यह निश्चित हो गया है कि रूप और ध्वनि की विशेषताओं के कारण इसे एक भिन्न परिवार ही मानना चाहिए। पर कुछ शिलालेखों को छोड़कर इस भाषा में कोई प्राचीन साहित्य नहीं है। किसी समय की विशाल शाखा इलीरिअन की अब यही एक छोटी शाखा बच गई है और उसका भी सत्रहवीं ईसवी से पूर्व का कोई साहित्य नहीं मिलता। वह आजकल बालकन प्रायद्वीप के पश्चिमोत्तर में बोली जाती है।

लैटोस्लाव्हिक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं—लैटिक और स्लाव्हिक। लैटिक (या बाल्टिक) वर्ग में

(१) देखो—Grierson's Article in Ind. Antiquary, vol. 43, p. 146.

तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड प्रशिअन) नष्ट हो गई है। शेष दो लिथुआनिअन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती हैं। इनमें से लिथुआनी सबसे अधिक आर्ष है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। उसमें आज भी esti (सं० अस्ति), gyvas (सं० जीव:) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और उसकी एक विशेषता यह है कि उसमें वैदिक-भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है।

लैटो-स्लाव्हिक शाखा

स्लाव्हिक अथवा स्लैव्होनिक इससे अधिक विस्तृत भाषा-वर्ग है। उसमें रूस, पोलेंड, बुहेमिया, जुगो-स्लाव्हिया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं। उनके मुख्य भेद ये हैं—

इनमें से प्रशिअन तो सत्रहवीं शताब्दी में ही मर गई थी। पर लिथुआनिअन और लैटिक (बाल्टिक) आज भी रूस की पश्चिमी सीमा पर बोली जाती हैं। रूसी भाषाओं में 'वड़ी रूसी' साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण भाषा अठारहवीं से

ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं; और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च स्लाव्हिक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है; उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरिअन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनिअन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गये हैं। सर्वोक्रोत्सिअन और स्लोव्हेनिअन जुगोस्लाव्हिया में बोली जाती हैं। इनका दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। ज़ेक और स्लोव्हाकिआ ज़ेकोस्लोव्हाकिया के नये राज्य में बोली जाती है; स्लोव्हाकिअन ज़ेक की ही विभाषा है। सोरेबिअन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाबिश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर साहित्य-संपन्न भाषा है।

इस शाखा की आधुनिक भाषाओं में भी प्राचीनता के अनेक चिह्न मिलते हैं। लिथुआनिअन और रूसी भाषा की संहित रचना बड़ी प्रसिद्ध बात है। इन भाषाओं का उचित अनुशीलन अभी तक नहीं हो सका है।

आर्मेनिअन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिह्न मिलते हैं पर आजकल इसमें चौथी-पाँचवीं शताब्दी के बाद का ईसाई साहित्य ही उपलब्ध होता है; वास्तव में इस भाषा के प्रामाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाये जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनिअन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनिअन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे किनारे बोली जाती है। फ्रीजिअन भी इसी आर्मेनिअन शाखा

आर्मेनिअन शाखा

से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजिअन के अतिरिक्त लिसिअन और थ्रेसिअन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टोस्लाव्हिक शाखा से आर्मेनिअन का संबंध जोड़नेवाली थीं। आर्मेनिअन स्वयं स्लाव्हिक और भारत-ईरानी (आर्य) परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम्-वर्ग की भाषा है पर उसमें ह्रस्व ए और ओ मिलते हैं जो शतम्-वर्ग की भाषाओं में नहीं मिलते।

अभी तक यद्यपि आर्मेनिअन का सम्यक् अनुशीलन नहीं हो सका है तो भी यह निश्चित हो गया है कि वह रचना में भारोपीय है और अन्य किसी परिवार में नहीं आ सकती। अब पहले का यह भ्रम दूर हो गया है कि स्यात् वह फारसी अर्थात् ईरानी भाषा है। उसमें ऐसे स्पष्ट लक्षण मिलते हैं जिससे उसे उच्चारण और व्याकरण दोनों की दृष्टि से भारत-ईरानी परिवार से भिन्न ही मानना चाहिए। इस ईरानी मिश्रण के अतिरिक्त उस पर अनार्य प्रभाव भी पड़ा है। जिस प्रकार ईरान के राजनैतिक प्रभुत्व ने उसमें ईरानी[1] शब्द भर दिये हैं उसी प्रकार अरब जाति की विजय ने इस पर अरबी प्रभाव डाला था; पड़ोसी सीरिएक और तारतारी भाषाओं ने भी कुछ शब्द-भांडार की अभिवृद्धि की है पर इन आर्य, अनार्य सब भाषाओं का प्रभाव अधिक शब्द-भांडार पर ही पड़ा है।

आर्मेनिअन
- (१) फ्रीजिअन[2]
- (२) प्राचीन आर्मेनिअन
  - अर्वाचीन आर्मेनिअन
    - अराराट (एशिया)
    - स्तंबुल (यूरोप)

(१) Cf. Ency. Brit. on 'Armenian language'.

(२) 'फ्रीजिअन' (Phrygian) आर्मेनिअन से संबद्ध रही होगी, ऐसी कल्पना है। यह अँगरेजी से संबद्ध हालैण्ड की वर्तमान फ्रिज़िअन (Frisian) से भिन्न एक दूसरे परिवार की भाषा है।

भारोपीय परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। स्यात् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और उसी के अध्ययन से भारोपीय भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। भारोपीय परिवार की यह बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जिनसे वे परिवार की अन्य भाषाओं से भिन्न मानी जाती हैं। मुख्य विशेषताएँ निम्न-लिखित[1] हैं—

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ सभी रूपों के स्थान में, आर्य भाषाओं में आकर, केवल 'अ' अथवा 'आ' रह गया है; जैसे—

भारोपीय	लै०	सं०	अवेस्ता
* ékwos	equus	अश्वः	अस्पो
* nébhos	लै० nebula ग्री० νeφos	नभस्	नबह्
* ósth	लै० Os ग्री० 'οστεον	अस्थि	अस्ति
* róthos	लै० rota	रथः	रथो
* apó	ग्री० 'από	आपः	अप
* yág	ग्री० 'α'ζομαι (अज़ोमाइ)	यज	यज़्
* ésti	लै० est	←	अस्ति

(१) Cf. Uhlenbeck's Manual of S. Phonetics for details; and Taraporewala's Elements, p. 153, for a summary view.

मानी जाती है। आजकल ईरान में प्रधान फारसी के अतिरिक्त कई प्रांतीय बोलियाँ प्रचलित हैं; उनके अतिरिक्त ओसेटिक कुर्दी, गालचा, बलूची, पश्तो आदि अन्य आधुनिक विभाषाएँ ईरानी भाषा-वर्ग में मानी जाती हैं।

फारसी के इन तीन रूपों का इतिहास फारस के राजनीतिक इतिहास से बहुत कुछ संबंध रखता है। प्राचीन फारसी और ऐकीमेनिड (Achaemenid) साम्राज्य का समय ईसा के पूर्व ५५० से ३२३ तक है[1]। इसमें एक विशाल धार्मिक साहित्य की रचना हुई थी पर जब सिकंदर ने ३२३ ई० पू० में पारसी-पोलिस को जलाया था, उसका अधिकांश नष्ट हो गया था। फिर सेसेनीअन वंश के राजाओं ने साहित्य की उन्नति की। २२६ ईस्वी से ६५१ ई० तक उनका राज्य रहा और यही मध्य फारसी अथवा पहलवी के विकास का समय है। यह सब साहित्य भी ६५१ ई० की अरब-विजय ने नष्ट कर दिया। मुसलमानों के आश्रय में फिर से फारसी पनपी और ईसा की दसवीं शताब्दी के कवि फिरदौसी में उसका पूर्ण यौवन देख पड़ता है। इसी काल में लगभग ११०० ई० के उमर खय्याम ने अपनी रुबायात भी लिखी थीं।

इस आर्य उप-परिवार की दूसरी गोष्ठी भारतीय-आर्य-भाषा-गोष्ठी कही जाती है। इसमें वैदिक से लेकर आजकल की उत्तरापथ की सभी देशभाषाएँ आ जाती हैं। इसी में भारोपीय परिवार का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद पाया जाता है। उस समय की विभाषाओं का भी इस विशाल ग्रंथ से कुछ पता लगता है। इस छंदस अथवा काव्य की भाषा की समकालीन प्राकृतों का कोई

(१) इस प्राचीन फारसी के नमूने इस काल के एकीमेनिअन राजाओं Achaemenian kings) के अभिलेखों में मिलते हैं। हखमानिअन (एकीमेनिअन) वंश के प्रतिष्ठापक कुरुश (kurush or cyrus) से लेकर पीछे तक ये लेख मिलते हैं। इन सबमें बेहिस्तुन राकवाला दारिअस (५२२-४८६ ई० पू०) का लेख अधिक बड़ा, सुरक्षित और सुप्रसिद्ध है।

इतिहास अथवा साहित्य तो नहीं उपलब्ध है तो भी अर्थापत्ति से विद्वानों ने उन प्राथमिक प्राकृतों की कल्पना कर ली है। उसी काल की एक विभाषा का विकसित, राष्ट्रीय और साहित्यिक रूप पाणिनि की भाषा में मिलता है। इसी अमर भारती में हिंदुओं का विशाल वाङ्मय प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन प्राकृतों का साहित्य भी छोटा नहीं है। पाली, प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची), गाथा और अपभ्रंश सभी मध्य-प्राकृत (या मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ) कही जाती हैं और तृतीय प्राकृतों अथवा आधुनिक प्राकृतों में अपभ्रंश के अर्वाचीन रूप, अवहट्ट और देशभाषाएँ आती हैं। इन प्राकृतों और देश-भाषाओं के बहिरंग और अंतरंग भेद किये जाते हैं। इस सबका पाँचवें प्रकरण में विशेष वर्णन आवेगा।

ईरानी और भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त एक ऐसा भाषावर्ग भी है जो काश्मीर के सीमांत से भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत तक बोला जाता है। उसे दारदीय भाषा-वर्ग कहते हैं। ग्रियर्सन तथा अन्य अनेक विद्वान् इसे दोनों वर्गों की संधि मानते हैं। ये दरद भाषाएँ निश्चय ही मिश्र और संधिज हैं, क्योंकि इनमें भारतीय और ईरानी दोनों के लक्षण मिलते हैं। इन्हें ही स्यात् भारत के प्राचीन वैयाकरणों ने 'पैशाच' नाम दिया था। इस भारत-ईरान-मध्यवर्ती भाषावर्ग में (काफिरिस्तान की बोली) बशगली, खोवार (या चित्राली), शीना और पश्चिमी काश्मीरी मुख्य बोलियाँ हैं। इन्हें कुछ लोग काफिर भाषा भी कहते हैं।

प्राचीन काल से लेकर आज तक ईरानी भाषाओं का भारत से बड़ा संबंध रहा है। मुसलमान काल में तो उन्हीं में से एक भारत की राजभाषा भी हो गई थी। अतः उसका संक्षिप्त वर्णन भारतीय भाषाओं के विद्यार्थी के लिये परमावश्यक होता है। भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में फारसी संसर्ग

के अनेक चिह्न मिलते हैं। ईरानी वर्ग में निम्न-लिखित मुख्य भाषाएँ आती हैं—

ईरानी भाषाएँ
- पूर्वी
  - ....सोग्दिअन.........
  - अवेस्ता गाथा–परवर्ती अवेस्ता(?)...
  - { (१) पामीरी बोलियाँ (२) अफगानी या पश्तो (३) बलूची }
- पश्चिमी
  - .... { मध्यवर्तिनी विभाषाएँ, कास्पिअन विभाषाएँ, कुर्दी, ओसेटिक }
  - मीडिअन (?)......................
  - प्राचीन फारसी { पहलवी (मध्यकालीन फारसी) } { हुजवरेश, पाजंद } आधुनिक फारसी

ईरान देश के दो भाग किये जाते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी भाग की सबसे प्राचीन भाषा अवेस्ता कहलाती है। संस्कृत अभ्यस् (अभि + अस्) धातु से मिलती-जुलती धातु से यह शब्द बना है और 'वेद' के समान उसका शास्त्र[1] अथवा 'ग्रंथ' अर्थ होता था पर अब यह उन पारसी शास्त्रों की भाषा के लिए प्रयुक्त होता है। जेंद (या जिंद) उसी मूल अवेस्ता की टीका का नाम था जो टीकाएँ पहलवी में लिखी गई हैं। इससे अवेस्ता को जेंद भाषा भी कहते हैं। इसी भाषा को पुराने विद्वान् 'प्राचीन बेक्ट्रिअन' भी कहते थे, क्योंकि यह बैक्ट्रिया की एक बार राजभाषा रह चुकी है; पहले पहल बैक्ट्रिया के महाराज ने ही

(१) देखो—Jackson's Avesta Grammar : Introduction, p. xii. पहलवी में अवेस्ता का भाष्य मिलता है, उसी भाषा का एक प्रचुर प्रयुक्त वाक्यांश है Avistak va Zand (Avesta and Zand) अर्थात् अवेस्ता और जेंद (वेद और उसका भाष्य); कुछ लोग भ्रम से उस धर्म-ग्रंथ के लिये 'जेंदावेस्ता' एक समास का प्रयोग करने लगे; कुछ लोग उसकी भाषा के लिए जेंद और कुछ लोग अवेस्ता का प्रयोग करने लगे। आजकल 'अवेस्ता' शब्द ही अधिक प्रचलित है।

जरथुस्त्र का धर्म ग्रहण किया था। पर इस भाषा की सीमा वैक्ट्रिया से बाहर भी थी, इससे अब यह नाम अच्छा नहीं समझा जाता। जो अवेस्ता का साहित्य उपलब्ध है उसमें कई कालों की भाषाएँ हैं। उनमें से सबसे प्राचीन 'गाथा' कहलाती है। उसी में जरथुस्त्र के वचनों का संग्रह है। किसी किसी के अनुसार जरथुस्त्र का जन्म ईसा से १४०० पूर्व हुआ था। गाथा की भाषा भारोपीय भाषाओं में वैदिक को छोड़कर सबसे प्राचीन है। परवर्ती अवेस्ता (या यंगर अवेस्ता) इतनी अधिक प्राचीन नहीं है; उसमें लिखे व्हेंदीदाद के कुछ भाग ईसा के समकालीन माने जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि वर्तमान अफगानी उसी प्राचीन अवेस्ता की वंशज है।

पूर्वी ईरानी की एक और प्राचीन भाषा सोग्दी अथवा सोग्दि-अन है। यह परवर्ती अवेस्ता से भी अर्वाचीन मानी जाती है। इसकी अभी इसी शताब्दी में खोज हुई है; तुरफान के यात्रियों ने इसका भी पता लगाया था। अब रावर्ट गौथिआत (Robert Gauthiot) ने उसका सम्यक् अनुशीलन करके एक सुंदर और व्यवस्थित व्याकरण प्रकाशित किया है। विद्वानों की कल्पना है कि आधुनिक पामीरी विभाषाएँ इसी सोग्दी (Sogdian) से निकली हैं।

बलूची भाषा की उत्पत्ति का अनुमान भी नहीं किया जा सका है पर ग्रे ने लिखा है कि आधुनिक ईरानी भाषाओं में यह सबसे अधिक असंस्कृत[1] और अविकसित है।

नाम के अतिरिक्त मीडिअन भाषा का कुछ पता नहीं है। तारापुरवाला ने लिखा है कि हेरोडेटस के लेख से इस भाषा के 'स्पाक' (कुत्ता) शब्द का पता मिलता है। ईरान की अन्य विभाषाएँ[2]

(१) देखो—Gray's Indo-Iranian Phonology; Introduction.

(२) सोग्दियाना, जैवुलिस्तान और हिरात आदि की बोलियों का लेखों में उल्लेख मिलता है और सोग्दियाना की सोग्दी जो मध्य एशिया में

भी सर्वथा लुप्त हो गई हैं। ये मीडिअन आदि पश्चिमी ईरान की विभाषाएँ थीं। फारस प्रांत की विभाषा राजाश्रय पाकर इतनी बढ़ी कि अन्य विभाषाओं और बोलियों का उसने उन्मूलन ही कर दिया। इस फारसी का अवश्य एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है। एकेमेनिअन अथवा एकीमीनिड राजाओं के शिलालेख जिस भाषा में मिलते हैं उसे प्राचीन फारसी कहते हैं। ये शिलालेख ईसा से ५२१ वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं; इसी से प्राचीन फारसी प्राचीनता में अवेस्ता के बराबर ही समझी जाती है। वह अन्य कई बातों में भी अवेस्ता से इतनी मिलती है कि फारसी शब्दों के प्राचीन रूप खोजते हुए कभी कभी विद्वान् अवेस्ता का शब्द ही उद्धृत[1] कर देते हैं क्योंकि प्राचीन फारसी का अधिक साहित्य उपलब्ध नहीं है।

प्राचीन फारसी की वर्णमाला अवेस्ता से अधिक सरल मानी जाती है। उदाहरणार्थ अवेस्ता में ह्रस्व ĕ ए और ओ ĕ होते हैं पर प्राचीन फारसी में उनके स्थान में संस्कृत की नाईं a अ ही होता है; जैसे जहाँ अवेस्ता में Yĕzi होता है; वहाँ संस्कृत में यदि और प्रा० फा० में Yadiy होता है। इसी प्रकार प्राचीन फा० व्यंजनों में भी परिवर्तन देख पड़ता है। उदाहरणार्थ अवेस्ता में भारोपीय ज़ z (घोष ज) पाया जाता है पर प्राचीन फा० में उसके स्थान में द हो जाता है और संस्कृत में ऐसे स्थानों में 'ह' पाया जाता है, जैसे—

भा०	सं०	अवेस्ता	प्रा० फा०	सं०	अ०	प्रा०फा०
eyom,	अहम्,	azem,	adam	हस्त	zasta	dasta

दूर तक प्रचलित थी पीछे वर्णित भी हो चुकी है, पर अन्य बोलियों का कुछ पता नहीं लगता। सिथियन और लिसियन आदि का तो ईरानी से संबंध भी निश्चित नहीं हो सका है।

(१) पर इसका यह अर्थ नहीं है कि अवेस्ता से फारसी निकली है। अवेस्ता और फारसी दोनों सजातीय भाषाएँ हैं, पर एक से दूसरी का जन्य-जनक-संबंध नहीं है।

प्राचीन फारसी में प्राकृतों की नाईं पदांत में व्यंजन प्रायः नहीं रहते। ऐसे उदाहरण वैदिक में भी मिलते हैं पर प्राचीन फारसी में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ गई है। जहाँ सं० में अभरत् और अवेस्ता में abarat आता है, प्रा० फा० में abara (अबर) आता है। इन्हीं बातों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अवेस्ता और वैदिक प्रा० फा० से प्राचीनतर हैं।

फिर कोई ५०० वर्ष तक कोई साहित्य नहीं मिलता। ईसा की तीसरी शताब्दी में फिर मध्यकालीन फारसी अथवा पहलवी के लेख तथा ग्रंथ मिलते हैं। सेसेनिअन राजाओं के उत्कीर्ण लेखों के अतिरिक्त इस भाषा में पारसियों का धार्मिक साहित्य भी मिलता है। अवेस्ता का पहलवी अनुवाद आज भी उपलब्ध है। भाषा में विकास के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। जैसा प्राचीन फा० में व्याकरणिक रूपों का बाहुल्य था वैसा इस मध्य फारसी में नहीं पाया जाता। विभक्तियों के स्थान में पर-सर्गों का प्रयोग होने लगता है। लिंग-भेद का भी समीकरण अथवा लोप प्रारंभ हो गया है जैसे एक avo (अव्हो) सर्वनाम संस्कृत के सः, सा और तद् तीनों के लिये प्रयुक्त होता है। अर्थात् इस मध्यकालीन फारसी में अपभ्रंश भाषा के अधिक लक्षण मिलते हैं; और उसमें तथा अर्वाचीन फारसी में वही भेद है जो परवर्ती अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में। जिस प्रकार वही अपभ्रंश की धारा आज हिंदी में विकसित हो गई, उसी प्रकार पहलवी का ही विकसित रूप आधुनिक फारसी है। अर्थात् विकास की दृष्टि से पहलवी[1],

(१) पहलवी अथवा मध्यकालीन फारसी में कुछ सेमेटिक अंश भी आ गया था, इसी से परवर्ती फारसी में दो भेद प्रचलित थे। एक उच्च हिंदी (High Hindi) के समान पाजंद अथवा पारसी भाषा थी जिसमें कोई भी विदेशी शब्द स्थान नहीं पाता था और दूसरी पुरानी परंपरागत व्यवहार की मिश्रित भाषा थी। वह हुजवारेश (Huzvāresh) कहलाती थी।

अर्वाचीन[1] फारसी और आधुनिक फारसी की अपभ्रंश, पुरानी हिंदी और आधुनिक हिंदी से तुलना कर सकते हैं।

अर्वाचीन फारसी हिंदी की नाईं ही वहुत कुछ व्यवहित हो गई है और उसका आधुनिक रूप तो जीवित भारोपीय भाषाओं में सबसे अधिक व्यवहित माना जाता है। इस पर अरबी का विशेष प्रभाव पड़ा है। फिरदौसी (९४०-१०२० ई०) के शाहनामे में अरबी की छाप इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी पीछे के फारसी साहित्य में है। अर्वाचीन फारसी की वाक्य-रचना तक पर अरबी का प्रभाव पड़ा है। भारत में यही अरबी से प्रभावित फारसी पढ़ी पढ़ाई जाती है। इस आर्वाचीन फारसी में ध्वनि और रूप का भी कुछ विकास तथा विकार हुआ है। मध्यकालीन फारसी की अपेक्षा उसके रूप कम और सरल हो गये हैं तथा उसके ध्वनि-विकारों में मुख्य यह है कि प्राचीनतर क k, त t, प p, और च c के स्थान में ग g, द d, व b, और ज़ z, हो जाता है।

प्रा० फा०	पहलवी	अर्वाचीन फा०	सं०
mahrka	mark	marg मर्ग	मृत्युः (मार्तंडः)
hvato	khōt	khod खुद	स्वतः
āp	āp	āb आब	आपः
raucoh	rōj	roz रोज़ (दिन)...........	

इसी प्रकार प्राचीनतर य y के स्थान में j ज हो जाता है—

अवेस्ता	अर्वा० फा०
yāma याम	jām जाम (शीशे का प्याला)
yātu यातु	jādu जादू

(१) यद्यपि अर्वाचीन और आधुनिक पर्याय हैं तथापि व्यवहारानुरोध से आधुनिक से कुछ प्राचीनतर रूप को अर्वाचीन कहा जाता है। अर्वाचीन, 'मध्यकाल' और 'आधुनिक' के बीच का सूचक है। अँगरेजी में अर्वाचीन और आधुनिक फारसी दोनों को Modern Persian कहते हैं।

शब्दों के आदि में संयुक्त व्यंजन भी इस काल में नहीं देख पड़ता। अवेस्ता और प्रा० फा० के sta (ठहरना) के स्थान में अर्वा० फा० में sitadan (सितादन) या istādan (इस्तादन) आने लगता है। इसी प्रकार प्राचीन रूप bratar (भाई) के स्थान में अर्वा० फा० biradar (बिरादर) आता है। अर्थात् प्राकृतों की भाँति यहाँ भी युक्त-विकर्ष और अक्षरागम की प्रवृत्ति देख पड़ती है।

अधिक व्यवहार में आने और विदेशी संपर्क से भाषा कैसे व्यवहित और रूपहीन हो जाती है इसका सबसे अच्छा उदाहरण फारसी है। यह मुस्लिम दरबार की भाषा थी और एक समय समस्त एशिया की राजनैतिक भाषा थी। इसी प्रकार की दशा प्राचीन काल में संस्कृत की और आजकल अँगरेजी की है। फलतः इन दोनों की भी प्रवृत्ति व्यवहिति और रूप-त्याग की ओर स्पष्ट देखी जाती है।

अन्य विभाषाएँ और बोलियाँ

आधुनिक फारसी और उसकी प्रांतीय विभाषाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भाषाएँ भी बोली जाती हैं जिनका संबंध ईरानी वर्ग की किसी अन्य प्राचीन भाषा से है। सुदूर उत्तरी पहाड़ी में बोली जानेवाली गालचा आदि पामीरी बोलियाँ सोग्दी से और पश्तो (अफगानी) अवेस्ता से निकली मानी जाती हैं। बलोचिस्तान की बलूची का भी इसी पूर्वी वर्ग से संबंध है पर अभी निश्चय नहीं हो सका है कि इसकी पूर्वज कौन है, क्योंकि इसने अर्वाचीन फारसी से बड़ी घनिष्ठता कर ली है। इनके अतिरिक्त ओसेटिक, कुर्दी (कुर्दिश) और कई कास्पिअन बोलियाँ भी मिलती हैं। ओसेटिक काकेशश के एक प्रांत की भाषा है। इस पर अनार्य भाषाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा है। कुर्दी पर अर्वाचीन फारसी की छाप लगी है। अन्य बोलियों का विशेष अध्ययन नहीं हो सका है[1]।

(१) देखो—विशेष अध्ययन के लिए (१) T.G. Tucker: Natural History of Languages. (२) डा० मंगलदेव शास्त्री का भाषा विज्ञान, पृ० २३८-४०. अथवा (३) Gray's Indo-Iranian

इस प्रकार ईरानी वर्ग का थोड़ा अध्ययन करने से भी कुछ ऐसी ध्वनि-संबंधी सामान्य विशेषताएँ देख पड़ती हैं जो उसकी सजातीय भाषा संस्कृत में नहीं मिलतीं। जैसे भारोपीय मूल-भाषा का स् S संस्कृत में ज्यों का त्यों सुरक्षित है पर ईरानी में उसका विकार ह होता है।

ईरानी भाषावर्ग की सामान्य विशेषताएँ

(१) सं०	अवेस्ता	प्रा० फा	अर्वा० फा०	
सिंधु	hindu	hindu	hind	हिंद
सर्व	haurva	haurva	har	हर
सप्त	हप्त	...	हफ़्ता	
सचा	हचा (साथ)	...	......	

(२) भारोपीय घ gh, ध dh, भ bh, के स्थान में ईरानी ग, द, ब आते हैं। यथा—

सं०	अवे०	प्रा० फा०	अ० फा०	हिंदी
घर्म	garma	garma	garm (गर्म)	घाम
धित (हित)	dāta	dāta	dād (दाद)	(गर्म
भूमि	būmi	būmi	būm (बूम)	विदेशी है)

(३) भारोपीय सघोष ज़ Z आदि के समान अनेक वर्ण ईरानी में मिलते हैं पर संस्कृत में उनका सर्वथा अभाव है—

सं०	अवे०	प्रा० फा०	अ० फा०
असुरो महान् or मेधास्	Ahurōmazdae	Auramazdā	Ormuzd (ओरमुज़्द)
बाहु	bāzu	...	bāzū बाज़ू
जानु	zānu	...	zānū ज़ानू

इसके अतिरिक्त भी अनेक विशेषताएँ ईरानी भाषावर्ग में पाई जाती हैं पर वे अवेस्ता में ही अधिक मिलती हैं और अवेस्ता

Phonology में Middle और New Iranian dialects का नामोद्देश तथा ध्वनि-संबंधी वर्णन मिलेगा।

तो संस्कृत से इतनी अधिक समान है कि थोड़े ध्वनि-परिवर्तनों को छोड़ दें तो दोनों एक ही भाषा प्रतीत होती हैं[1]। अब तो तुलनामूलक भाषा-विज्ञान, वंशान्वय-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि के अध्ययन ने इन दोनों के एक होने की कल्पना को ठीक मान लिया है। अतः अवेस्ता भाषा का संक्षिप्त परिचय और उसका संस्कृत से भेद और ऐक्य जानना प्रत्येक भाषा-विज्ञानी के लिए आवश्यक हो जाता है; क्योंकि इसका महत्त्व ईरान और भारत के लिए ही नहीं, प्रत्युत भारोपीय परिवार मात्र के लिए है। वाकरनेगल और बारथोलोमी ने इन प्राचीन ईरानी भाषाओं का सुंदर तुलनात्मक अध्ययन किया है।

अवेस्ता भाषा का संक्षिप्त परिचय

अवेस्ता भारोपीय परिवार के शतम्-वर्ग की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। उसका यह वर्तमान नाम पहलवी Abistāk से निकला है। उसकी प्राचीन लिपि का कुछ पता नहीं है। अब वह सेसेनिअन पहलवी से उत्पन्न दाहिने से बायें को लिखी जानेवाली एक लिपि में लिखी मिलती है। इस भाषा में संस्कृत के समान दो अवस्थाएँ भी पाई जाती हैं—पहली *गाथा* की अवेस्ता वैदिक के समान आर्ष है और दूसरी परवर्ती (younger यंगर)। अवेस्ता लौकिक संस्कृत के समान कम आर्ष मानी जा सकती है। गाथा अवेस्ता में कभी कभी तो वैदिक से भी प्राचीन रूप या उच्चारण मिल जाया करते हैं। सामान्य रूप से गाथा अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में थोड़े ध्वनि-विकारों को छोड़कर कोई भी भेद नहीं पाया जाता। अवेस्ता का वाक्य सहज ही में वैदिक संस्कृत बन जाता है। जैसे अवेस्ता का—

(१) देखो—Jackson's Avesta Grammar, Introduction § 55. और Taraporewala's article "A Sanskrit Version of Yasna IX" in the Ashutosh Silver Jubilee Volume (Orientalia, part 2).

तं	अमवन्तं	यज़तम
təm	amavantəm	yazatəm
सूरं	दामोहू	शविस्तम्
sūrəm	dāmōhu	səvištəm
मिथ्रम्	यज़ै	ज़ोथ्राव्यो
mithrəm	yazāi	zaothrābyō

का संस्कृत पाठ इस प्रकार होगा—

तम्	अमवंतं	यजतम्
शूरं	धामसु	शविष्ठम्
मित्रं	यजै	होत्राभ्यः

(अर्थात् मैं उस मित्र की आहुतियों से पूजा करता हूँ जो शूर,......शविष्ठ......है[1] ।)

इस प्रकार सामान्यतया अवेस्ता की ध्वनियाँ वैदिक के समान ही होती हैं पर अवेस्ता में 'अ' के स्थान में ह्रस्व ऍ और ऑ का विशेष प्रयोग होता है। किसी किसी की कल्पना[2] है कि वैदिक में भी ऐसे ह्रस्व स्वर मिलते हैं, पर अभी तक यही माना जाता है कि संस्कृत और प्रा० फा० में ह्रस्व ऍ और ऑ नहीं होते (तेषां ह्रस्वाभावात्—सिद्धांतकौमुदी)। उदाहरणार्थ संस्कृत के यदि, संति आदि और प्रा० फा० के yadiy, hantiy आदि में जहाँ अवर्ण मिलता है वहीं अवेस्ता के yezi hənt में ह्रस्व ऍ, अर्धमात्रिक अ (ə), आदि मिलते हैं। कोई आठ स्वर अवेस्ता में ऐसे मिलते हैं जिनके स्थान में संस्कृत में केवल अवर्ण का (अर्थात् अ अथवा आ का) प्रयोग किया जाता है।

(१) देखो—Jackson's Avesta Grammar, Introduction, p. XXXII. अवेस्ता का यह संक्षिप्त परिचय भी Jackson के ही आधार पर लिखा गया है। देखो—Introduction, pp.30-33.

(२) पस्पशाह्निक (महाभाष्य) में तो स्पष्ट लिखा है कि सामवेद में ह्रस्व अर्धमात्रिक ए और ओ होते हैं।

अवेस्ता[1] में शब्दों के अंत में दीर्घ ओ को छोड़कर अन्य कोई दीर्घ अक्षर नहीं आता। अवेस्ता में स्वरों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें संयुक्ताक्षर (या संध्यक्षर) संस्कृत की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं। इनमें से कुछ तो स्वर-संकोचन, स्वर-विस्तार (अर्थात् प्लुतीकरण), अपिनिहिति आदि से बन जाते हैं, पर कुछ सच्चे संध्यक्षर होते हैं। उनकी भी संख्या छः से अधिक मानी जाती है। संस्कृत ए के स्थान में अवेस्ता में aē ōi, ē और सं० ओ के स्थान में अवे० aō, əu, ō होते हैं; जैसे—सं० वेनेते=अवे० vaēnōiqe (व्हएनोइथे[2]) और सं० ओजस्, ओजो=अवे० aojō और सं० क्रतोस्=अवे० hratəus (खतउस्[3]) । अवेस्ता में एक संयुक्ताक्षर å (आओ) होता है जो सं० के आस् और आन्त् के स्थान में आता[4] है—

सं०	अवे०
देवासः	daevånghe
महांतम्	mazåⁿtəm
पांतः	påtnlō

अवेस्ता में आदि-विस्तार (अथवा आदि-आगम) अक्षरापिनिहिति,[5] स्वर-भक्ति और युक्त-विकर्ष की भी प्रवृत्ति बढ़ी पाई जाती है; यथा—

(१) ऐसा परवर्ती अवेस्ता में होता है। पर प्राचीन गाथा में सदा पदांत में दीर्घ अक्षर ही रहता है।

(२) हिंदी लिपि में उसका ठीक उच्चारण प्रकट नहीं किया जा सकता इसी से अवेस्ता लिपि ही काम में लाई जाती है। इस शब्द का अर्थ है वे (दो) देखे जाते हैं।

(३) cf. क्रतुः=बुद्धि, बल।

(४) cf. Jackson's A. Grammar, § 43 and 44.

(५) Prothesis, Epenthesis, Anaptyxis आदि का वर्णन आगे छठे प्रकरण में आवेगा। पृष्ठ १५६ में १ आदि-विस्तार (Prothesis) का, २, ३, ४ अपिनिहिति Epenthesis के और शेष स्वर-भक्ति और युक्त विकर्ष के उदाहरण हैं।

सं०	अवे०
(१) रिणक्ति	irinaxti
(२) अश्वेभ्यः	aspaēibyo
(३) भरति	baraiti
(४) मन्युः	mainyəus
(५) वक्त्र (मुख)	vaxədra
(६) सव्य	hāvōya
(७) घर्म	garəma
(८) कृणोति	kərənaoiti

इन्हीं उदाहरणों से यह भी विदित होता है कि तीन अक्षरों के भी संध्यक्षर होते हैं और ऋ का अवेस्ता में संप्रसारण जैसा व्यवहार होता है। (कृणोति की ऋ = ərə)। सं० ऋत का अवे० में अष तो और भी विचित्र प्रतीत होता है।

संस्कृत के क्, त्, प् (अल्पप्राण श्वासवर्ण) अवेस्ता में x, θ, f ख, थ, फ हो जाते हैं। ये ख, थ, फ कभी घर्षक[1] होते हैं और कभी महाप्राण नादरहित अर्थात् श्वास वर्ण। यथा—

सं०	अवे०
क्रतुः	Xratuś
सत्यः	haiθyō
स्वप्नम्	Xafnəm
सखा	haxa हख
गाथा	gaθa
कफम्	kafəm

संस्कृत के महाप्राण घ, ध, भ् अवे० में अल्पप्राण ग्, द्, व् हो जाते हैं। और परवर्ती गाथा में कभी कभी वर्षक वर्ण (ग़्, द़्, व़्; γ, δ, ω) भी मिलते हैं।

(१) संप्रसारण, श्वास, नाद, घर्षक आदि की परिभाषा छठें प्रकरण में मिलेगी।

सं०	अवे०
जंघा	zanga
धारयत्	dārayat
भूमि	būmi
दीर्घः	δarəyō
अश्वानम्	aδwanəm
अभ्रम्	awrəm

अवेस्ता में सं० छ और झ का कोई प्रतिनिधि ही नहीं है और सं० 'स' का सदा ह हो जाता है; जैसे—सिंधु, सर्व, सकृत् आदि का हिंदु, हौर्व, हकरत् आदि।

पर संस्कृत के अस् और आस् के स्थान में कभी ह (h) और ngh ङ्घ पाया जाता है; जैसे—सं० असु का अवे० में अहु और अंघु दो रूप होते हैं। पर यही अस् और आस् जब पद के अंत में आते हैं तो अवेस्ता में ओ (ō) अथवा आओ (å) हो जाते हैं। यथा—

सं०	अवे०
असुरः	Ahurō
अश्वः	aspo
गाथाः	gāθå
सेनायाः	haēnayå

सघोष ऊष्म z और z' अवेस्ता में ही पाये जाते हैं, संस्कृत में नहीं; जैसे—

सं०	अवे०
हस्तः	zasto
अहम्	azem
अहिः	azis

सं० व्यंजनों के पाँच वर्गों में से मूर्धन्य अवेस्ता में नहीं होता और तालव्य वर्ग में केवल च् और ज् होते हैं। अनुनासिक वर्ण

पाँच तो होते हैं पर सब संस्कृत के समान ही नहीं होते। जिस प्रकार प्राचीनतर वैदिक में ल का अभाव है उसी प्रकार अवेस्ता में भी ल बिलकुल ही नहीं मिलता। पर संस्कृत की नाईं अवे० सस्वर[1] नहीं है, अवेस्ता में उदात्त बल का प्रयोग[2] होता है। रूप-संपत्ति वैदिक और अवेस्ता में एक समान ही पाई जाती है। दोनों में तीन वचन, तीन लिंग और आठ विभक्तियाँ होती हैं। हाँ, एकाध विभक्ति 'आत्' के समान अवेस्ता में अधिक व्यापक हो गई है; जैसे—संस्कृत में पंचमी का आत् केवल अकारांत शब्दों में लगता है पर अवेस्ता में विश् और द्विष्यंत् जैसे शब्दों में भी वह लगता है। उदाहरणार्थ—

सं०	अवे०
क्षत्रात्	Xsaθrat
विशः	visat
द्विषतः	tbisyantat

अवेस्ता धातुएँ भी संस्कृत की नाईं एकाक्षर होती हैं और उनमें सभी रूप पाये जाते हैं, केवल द्वित्व-जन्य (periphrastic) रूप अवेस्ता में नहीं पाये जाते।

अवेस्ता में तद्धित, कृदंत, समास आदि सब संस्कृत जैसे ही होते हैं। केवल वाक्य-संधि का अभाव पाया जाता है और इसी से अवेस्ता में प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द से बिंदु के द्वारा पृथक् लिखा जाता है। छंद भी वैदिक छंदों से मिलते हैं। वाक्य-रचना में भी बहुत कम भेद पाया जाता है।

(१) स्वर और बल का वर्णन—देखो ना० प्र० प० में वैदिक स्वर का एक परिचय; और इसी ग्रंथ का छठा प्रकरण।

(२) अवेस्ता का प्राप्त अंश अधिक बातों में पाणिनि की भाषा से मिलता है। बल-प्रयोग अवस्ता और इस भाषा में साधारण घात है। पाणिनि की भाषा ऋग्वेद और रघुवंश के बीच की भाषा है।

इस प्रकार अवेस्ता वैदिक भाषा से इतनी अधिक मिलती है कि उसका अध्ययन संस्कृत भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए बड़ा लाभ-कर होता है; और इसी प्रकार प्राचीन फारसी प्राकृत और पाली से, मध्य फारसी अपभ्रंश से और आधुनिक फारसी आधुनिक हिंदी से बराबरी पर रखी जा सकती है। यह अध्ययन बड़ा रोचक और लाभकर होता है। ग्रे (Gray) ने अपने Indo-Iranian Phonology में इसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

उपसंहार

पाँचवाँ प्रकरण

भारतवर्ष की भाषाएँ

भारतवर्ष यूरेशिया खंड में ही अंतर्भूत हो जाता है पर कई ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से भाषा-विज्ञानी को—विशेषकर भारतीय भाषा के विद्यार्थी को—भारतवर्ष की भाषाओं का विवेचन पृथक् और सविस्तर करना पड़ता है। भारत की भाषाओं ने भाषा-विज्ञान में एक ऐतिहासिक कार्य किया है; इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का देश एक पूरा महादेश अथवा महाद्वीप जैसा है। उसमें विभिन्न परिवार की इतनी भाषाएँ और बोलियाँ इकट्ठी हो गई हैं कि उसे एक पृथक् भाषा-खंड ही मानना सुविधाजनक और सुंदर होता है। पाँच से अधिक आर्य तथा अनार्य परिवारों की भाषाएँ इस देश में मिलती हैं। दक्खिन के साढ़े चार प्रांतों अर्थात् आंध्र, कर्णाटक, केरल, तामिलनाड और आधे सिंहल में सभ्य द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं; भारत के शेष प्रांतों में आर्य भाषाओं का व्यवहार होता है; आंध्र, उड़ीसा, बिहार, चेदि-कोशल, राजस्थान और महाराष्ट्र के सीमांत पर वन्य प्रदेशों में और सिंध की सीमा के पार कलात में भी कुछ अपरिष्कृत द्रविड़ बोलियाँ पाई जाती हैं। इन प्रधान भाषाओं और बोलियों के अतिरिक्त कुछ अप्रधान बोलियाँ भी हिमालय और विंध्य-मेखला के पड़ोस में बोली जाती हैं। इनके बोलनेवालों की संख्या लगभग एक करोड़ है; उसमें से कोई बयालीस लाख आस्ट्रिक (अथवा आग्नेय) परिवार की बोलियाँ है; शेष सब तिब्बत-बर्मी अर्थात् चीनी परिवार की हैं। आस्ट्रिक परिवार की मुख्य भाषा-शाखा मुंडा ही भारत में है और वह भी मुख्यत: झाड़खंड में। तिब्बत-बर्मी भाषाएँ केवल हिमालय के ऊपरी भाग में पाई जाती हैं। कुछ ऐसी भाषाएँ भी ब्रह्मा देश

में पाई जाती हैं जिनका किसी परिवार में निश्चित रूप से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इन सबका सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—

१—आस्ट्रिक परिवार—

(क) इंडोनेशिअन (मलयद्वीपी अथवा मलायुद्वीपी)

(ख) आस्ट्रो-एशियाटिक—(१) मॉन ख्मेर,

(२) मुंडा (कोल अथवा शावर)।

२—एकाक्षर (अथवा चीनी) परिवार—

(क) श्यामी-चीनी,

(ख) तिब्बती-बर्मी।

३—द्रविड़ परिवार।

४—आर्य परिवार (अथवा भारत-ईरानी भाषाएँ)—

(क) ईरानी शाखा,

(ख) दरद शाखा,

(ग) भारतीय आर्य शाखा।

५—विविध अर्थात् अनिश्चित समुदाय[1]।

जन-विज्ञान के आचार्य द्रविड़ और मुंडा वंश के रंग-रूप और बनावट में कोई भेद नहीं कर सके हैं तो भी भाषा-विज्ञानियों ने निश्चित कर लिया है कि द्रविड़ों और मुंडों की भाषाएँ एक दूसरी से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र हैं। द्रविड़ भाषा-परिवार से मुंडा भाषा का कोई संबंध नहीं है; क्योंकि मुंडा भाषा उस विशाल 'आस्ट्रिक' (अथवा आग्नेय) परिवार की शाखा है जो पूर्व-पश्चिम में मदागास्कर से लेकर प्रशांत महासागर के ईस्टर द्वीप तक और उत्तर-दक्षिण में पंजाब से लेकर सुदूर न्यू-जीलैंड तक फैला हुआ है। इस परिवार की भाषाओं की विशेष खोज पेटर

आस्ट्रिक (अथवा आग्नेय) परिवार

(१) भाषासर्वे में ग्रियर्सन ने दो और परिवार माने हैं—मान और कारेन; पर अधिक लोग उन्हें इस 'विविध' वर्ग में अंतर्भूत कर लेते हैं।

डब्ल्यू शिमट ने की थी और उन्होंने ही इस परिवार को आस्ट्रिक नाम दिया था। आस्ट्रिक (Austric) का शब्दार्थ दक्खिनी अथवा दाक्षिणात्य होता है। ये भाषाएँ दक्षिणी द्वीपों में फैली हैं इसी से यह अन्वर्थ नाम रखा गया था पर भारत में दक्खिनी आदि शब्दों का कुछ रूढ़ार्थ भी होता है और भारत की दृष्टि से ये भाषाएँ दक्षिण-पूर्व के कोण में अर्थात् आग्नेय दिशा में पड़ती हैं इससे 'आग्नेय[1]' नाम ही अधिक अच्छा समझा जाता है। सुविधा के लिए 'आस्ट्रिक' नाम का भी व्यवहार शास्त्रीय ग्रंथों में किया जाता है।

इस आस्ट्रिक (अथवा आग्नेय) परिवार के दो बड़े स्कंध हैं—आग्नेयदेशी (Austro-Asiatic) और आग्नेयद्वीपी (Austronesian आस्ट्रोनेसिअन)। आग्नेयद्वीपी स्कंध की फिर तीन शाखाएँ हैं—सुवर्णद्वीपी या मलायुद्वीपी (Indonesian), पपूवाद्वीपी (Melanesian) तथा सागरद्वीपी (Polynesian)। इस आग्नेयद्वीपी स्कंध को मलय-पालीनेशियन भाषा-वर्ग भी कहते हैं। इसका उल्लेख[2] पीछे हो चुका है।

इंडोनेशिअन अथवा मलायु भाषाओं के कई अन्य नाम भी हैं। ये भाषाएँ सुमात्रा, जावा, बोर्निओ आदि द्वीपों में बोली जाती हैं और उन द्वीपों के वर्तमान योरोपीय भाषाओं में कई नाम प्रचलित होने से इस भाषा-वर्ग को भी कई नाम दिये जाते हैं। इस द्वीप-पुंज को मलय-राज्य, मलय द्वीप-समूह, आर्किपेलेगो मलैसिया, इंडियन आर्किपेलेगो, ईस्ट इंडीज, इंडोनेसिया, इंसुलिंड, मलायु-द्वीप-पुंज आदि कहते हैं। इस द्वीप-समूह के उत्तरी भाग में जो मलय-प्रायद्वीप है उसके निवासी अपने देश को 'ताना मलायुः' और अपनी जाति को 'ओरांग मलायुः' कहते हैं। इसी

(१) देखो—'भारत-भूमि और उसके निवासी' (जयचंद्र विद्यालंकार), पृ० २५४।

(२) देखो—पीछे पृ० १०६।

मलायु शब्द से अँगरेजी में मलय नाम चल पड़ा है और अब मलय उस जाति और प्रायद्वीप के अतिरिक्त समस्त द्वीप-समूह के लिए भी प्रयुक्त होता है। भारतवर्ष में मलयगिरि और मलयानिल इतने प्रसिद्ध हैं कि इस शब्द के विषय में थोड़ा अर्थ-भ्रम सहज ही में हो सकता है। इससे कुछ भारतीय विद्वान्[1] उस जाति और द्वीप-समूह के लिए मलय के स्थान में 'मलायु' का प्रयोग करते हैं। यह शब्द का ठीक रूप भी है। भारतवर्ष के केवल सिंहल द्वीप में साढ़े तेरह हजार मलायु लोग रहते हैं।

मलायु लोग अपने से पूर्व के द्वीपों में रहनेवालों को पुवा: पुवा: अथवा पपूवा: कहते हैं जिसका अर्थ है गुच्छेदार केशवाले। इन लोगों के बाल नीग्रो लोगों की भाँति गुच्छेदार और रंग बिलकुल काला होता है। इसी से योरपवाले उनके द्वीपों को मेलानेशिया अर्थात् काला द्वीप कहते हैं। न्यू गिनी भी इन द्वीपों में आती है। इस मेलानेशिया द्वीप-समूह और भाषा-समूह को पपूवा कहना अधिक अच्छा प्रतीत होता है।

प्रशांत सागर का द्वीप-समूह 'पपूवा' के पूर्व में पड़ता है। उसे पश्चिमी विद्वान् पालीनेशिआ और भारतीय सागर-द्वीप-समूह कहते हैं। वह भाषा-वर्ग भी, इसी से, पालीनेशिअन अथवा सागर-द्वीपी कहलाता है।

आग्नेयद्वीपी-परिवार की मलायुद्वीपी भाषाओं में से केवल मलायु (या मलय) और सलोन (Salon) भारत में बोली जाती हैं। ब्रिटिश बर्मा (ब्रह्मा) की दक्षिणी सीमा पर मलय और मरगुई आर्किपेलिगो में सलोन बोली जाती है।

आग्नेयदेशी स्कंध अर्थात् आस्ट्रो एशियाटिक वर्ग की भाषाएँ भारत के कई भागों में बोली जाती हैं। प्राचीन काल में इन भाषाओं का केंद्र पूर्वी भारत और हिंदचीनी प्रायद्वीप ही था। अब इनका धीरे धीरे लोप सा हो रहा है और जो भाषाएँ

(१) देखो—'भारत-भूमि और उसके निवासी' (जयचंद्र), पृ० २५५.

इस स्कंध की बची हैं उनको दो शाखाओं में बाँटा जाता है—एक मोन-ख्मेर और दूसरी मुंडा (मुंड, कोल या शावर)।

मोन-ख्मेर शाखा में चार वर्ग हैं—(१) मोन-ख्मेर, (२) पलौंग-वा, (३) खासी और (४) निकोवारी। इन सब में मोनख्मेर प्रधान वर्ग कहा जा सकता है। मोन अथवा तलैंग एक मँजी हुई साहित्य-संपन्न भाषा है। एक दिन हिंदी-चीन में मोन-ख्मेर लोगों का राज्य था पर अब उनकी भाषा का व्यवहार ब्रह्मा, स्याम और भारत की कुछ जंगली जातियों में ही पाया जाता है। मोन भाषा वर्मा के तट पर पेगू, वतोन और एम्हर्स्ट जिलों में, मर्तवान की खाड़ी के चारों ओर, बोली जाती है। ख्मेर भाषा कंबुज के प्राचीन निवासी ख्मेर लोगों की भाषा है। ख्मेर लोग मोनों के सजातीय हैं। ख्मेर भाषा में भी अच्छा साहित्य मिलता है। आजकल यह भाषा ब्रह्मा और स्याम के सीमा-प्रांतों में बोली जाती है। 'पलौंग' और 'वा' उत्तरी वर्मा की जंगली बोलियाँ हैं। निकोवारी निकोवार द्वीप की बोली है। वह मोन और मुंडा बोलियों के बीच की कड़ी मानी जाती है। खासी बोली भी इसी शाखा की है; वह आसाम के खासी-जयंतियाँ पहाड़ों में बोली जाती है। पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार खासी बोली बोलनेवाले कुल २ लाख ४ हजार हैं। खासी बोली का क्षेत्र तिब्बत वर्मी भाषाओं से घिरा हुआ है और बहुत दिनों से इन बोलियों का मोन-ख्मेर आदि आस्ट्रिक (आग्नेय) भाषाओं से कोई साक्षात् संबंध नहीं रहा है। इस प्रकार स्वतंत्र विकास के कारण खासी बोलियों में कुछ भिन्नता आ गई है पर परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसका शब्द-भांडार मोन से मिलता-जुलता है और रचना तो विलकुल मोन की ही है (देखो—Grierson's L. S. I., I. 1, p. 33)।

भारत की दृष्टि से आग्नेय परिवार की सबसे प्रधान भाषा है मुंडा। पश्चिमी बंगाल से लेकर विहार और मध्यप्रांत, मध्यभारत,

उड़ीसा और मद्रास प्रांत के गंजाम जिले तक मुंडा वर्ग की बोलियाँ फैली हुई हैं। इनके बीच बीच में कभी कभी द्रविड़ बोलियाँ भी पाई जाती हैं। मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग में तो मुंडा बोलियाँ द्रविड़ बोलियों से घिरी हुई हैं

मुंडा

पर इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य मुंडा की कनावरी बोली है। यह हिमालय की तराई से लेकर शिमला पहाड़ियों तक बोली जाती है। पर मुंडा बोलियों का मुख्य केंद्र विंध्यमेखला और उसके पड़ोस में है। उनमें सबसे प्रधान बोली विंध्य के पूर्वी छोर पर संथाल परगने और छोटा नागपुर (बिहार) की खेरवारी बोली है। संताली, मुंडारी, हो, भूमिज, कोरवा आदि इसी बोली के उपभेद हैं। इस खेरवारी बोली के कुल बोलनेवाले पैंतीस लाख हैं। उनमें से २२'३ लाख संताली के, ६' लाख मुंडारी के और ३.८ लाख 'हो' के बोलनेवाले हैं; शेष दो लाख भूमिज आदि छोटी बोलियाँ बोलते हैं। इस प्रकार खेरवारी में भी संताली और मुंडारी मुख्य हैं। यह ध्यान देने की बात है कि संथाल परगना (बिहार) में संथाल लोग अभी अठारहवीं शताब्दी में ही आये हैं।

खेरवारी के अतिरिक्त कूर्कू, खड़िया, जुआंग, शाबर, गदबा आदि भी मुंडा शाखा की ही बोलियाँ है। इन सबको मिलाने से मुंडा बोलियों के वक्ताओं की संख्या साढ़े उंतालीस लाख से ऊपर हो जाती है। कूर्कू (१.२ लाख) विंध्य के पश्चिमी छोर पर मालवा (राजस्थान), मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग (अर्थात् बेतूल आदि में) और मेवाड़ में बोली जाती है। अन्य सब मुंडा बोलियाँ विशेष महत्त्व की नहीं हैं। उनमें से कई तो बिलकुल मरणोन्मुख हैं। जैसे खड़िया (१'३ लाख) राँची में और जुआंग (१० हजार) उड़ीसा की केंदूझर और ढेंकानल रियासतों में बोली जाती है सही, पर आर्य भाषाएँ बड़ी शीघ्रता से उनकी शुद्धि कर रही हैं। ये जुआंग अथवा पतुआ लोग मुंडा लोगों में भी सबसे अधिक असभ्य माने जाते हैं। उनकी स्त्रियाँ अभी तक बदन के

आगे-पीछे पत्तों के गुच्छे बाँधकर नंगी जंगलों में घूमा करती हैं। गदवा (३३ हजार) और शबर (१'७ लाख) नाम की जातियाँ और बोलियाँ उड़ीसा और आंध्र की सीमा पर पाई जाती हैं। इन सभी में कुछ मिश्रण और सांकर्य पाया जाता है। इनमें से शावरी बोली कुछ विशेष आकर्षक है; वह शबरों शिकारियों की भाषा 'जो' है। इस शावरी बोली को प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों की शावरी विभाषा समझने की भूल न करना चाहिए। आजकल का विद्यार्थी शावरी को मुंडा उप-परिवार की एक छोटी सी बोली मात्र समझता है।

मुंडा बोलियाँ बिलकुल तुर्की के समान प्रत्यय-प्रधान और उपचय-प्रधान होती हैं। मैक्समूलर ने जो बातें अपने ग्रंथ[1] में तुर्की के संबंध में कही हैं वे अक्षरश: मुंडा के बारे में भी सत्य मानी जा सकती हैं। मुंडा भाषाओं की दूसरी विशेषता अंतिम व्यंजनों में पश्चात् श्रुति का अभाव है। चीनी अथवा हिंद-चीनी भाषाओं के समान पदांत में व्यंजनों का उच्चारण श्रुतिहीन और रुक जानेवाला होता है, वह अंतिम व्यंजन आगे के वर्ण में मिल सा जाता है। लिंग दो होते हैं—स्त्रीलिंग और पुंल्लिग, पर वे व्याकरण के आधार पर नहीं चलते, उनकी व्यवस्था सजीव और निर्जीव के भेद के अनुसार की जाती है। सभी सजीव पदार्थों के लिए पुँल्लिग और निर्जीव पदार्थों के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाता है। वचन प्राचीन आर्य भाषाओं की भाँति तीन होते हैं। द्विवचन और बहुवचन बनाने के लिए संज्ञाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों के अन्यपुरुष के रूप जोड़ दिये जाते हैं। द्विवचन और बहुवचन में उत्तमपुरुषवाचक सर्वनाम के दो दो रूप होते हैं—एक श्रोता सहित वक्ता का बोध कराने के लिए और दूसरा रूप श्रोता-रहित वक्ता का बोध कराने के लिए।

(१) Cf. Maxmuller's Lectures on the Science of Language; I, 354 ff.

जैसे अले और अबोन—दोनों शब्दों का 'हम' अर्थ होता है पर यदि नौकर से कहा जाय कि हम भोजन करेंगे और 'हम' के लिये 'अबोन' का प्रयोग किया जाय तो नौकर भी भोजन करनेवालों में समझा जायगा। पर अले केवल कहनेवाले का बोध कराता है। मुंडा क्रियाओं में पर-प्रत्यय ही नहीं अंत:-प्रत्यय भी देखे जाते हैं और मुंडा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वाक्य-रचना है। मुंडा वाक्य-रचना आर्य भाषा की रचना से इतनी भिन्न होती है कि उसमें शब्द-भेद की ठीक ठीक कल्पना करना भी कठिन होता है।

मुंडा जातियों और भाषाओं के नामों के संबंध में भी कुछ मत-भेद देखा जाता है। यदि उन जातियों को देखा जाय तो वे स्वयं अपने को मनुष्य मात्र कहती हैं और मनुष्य का वाचक एक ही शब्द भिन्न भिन्न मुंडा बोलियों में थोड़े परिवर्तित रूप में देख पड़ता है; जैसे—कोल, कोरा, कोड़ा, कूर-कू (कूर का बहुवचन), हाड़, हाड़को (बहु०), हो आदि। भारतीय आर्य प्राय: कोल शब्द से इन सभी अनार्य जातियों का बोध कराते थे। उत्तर भारत के ग्रामीण इन जातियों को अभी तक कोल कहते हैं। इसी से कोल अथवा कुलेरिअन शब्द कुछ विद्वानों को अधिक अच्छा लगता है। पर संस्कृत में कोल शब्द 'सूअर' के लिए और नीच जाति के अर्थ में आता है। कुछ लोग कुली शब्द का संबंध उसी कोल से जोड़ते हैं।

मैक्समूलर ने इस मुंडा भाषा पर पहले पहल कलम चलाई थी और उसी ने इस परिवार का मुंडा नाम रखा था। आज दिन मुंडारी बोली बोलनेवाले लोग अपने आपको मुंड अथवा मुंडा कहते हैं। संस्कृत में भी 'मुंड' शब्द (वायु० पु० १, ४५, १२३, महाभारत ६, ५६, ९ में) जाति-विशेष के अर्थ में मिलता है। उसी मुंड शब्द को 'मुंडा' बनाकर उस शब्द का मैक्समूलर ने पूरी शाखा के लिए प्रयोग किया था और आज भी वह ग्रियर्सन आदि विद्वानों द्वारा स्वीकृत हो गया है। पर कुछ भारतीय विद्वान्[1]

(१) भारत-भूमि और उसके निवासी, पृ० २९७।

कहते हैं कि हिंदी में हम मुंडा के स्थान में संस्कृत मुंड का ही व्यवहार क्यों न करें ?

इन बोलियों के लिए एक शब्द और सामने रखा गया है। वह है शबर अथवा शावर। शावर भी मुंडारी की भाँति एक बोली और जाति का नाम है; और भारतवर्ष में उसका व्यवहार कोल और मुंड शब्दों से भी अधिक प्राचीन माना जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७, १८) में इस शब्द का व्यवहार मिलता है। रघुवंश के चौथे सर्ग में तो शबर शब्द केवल शबरों के लिए ही नहीं, प्रत्युत उनसे मिलती-जुलती सभी जातियों के लिए प्रयुक्त हुआ है इससे पूरी वंश-शाखा के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। श्री जयचंद्र[1] विद्यालंकारजी इसी शब्द को सबसे अधिक सुबोध और स्पष्ट समझते हैं।

विज्ञान के क्षेत्र में आविष्कर्त्ता के दिये हुए नाम को यथा-संभव सुरक्षित रखना ही अच्छा समझा जाता है। अतः मुंडा नाम ही हम व्यवहार में लावेंगे। उसमें कोई आपत्ति की बात भी नहीं है।

भारोपीय भाषाओं पर मुंडा प्रभाव

भारत की भारोपीय आर्य भाषाओं पर द्रविड़ और मुंडा दोनों परिवारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ध्वनि-संबंधी प्रभाव कुछ विवादास्पद है पर रूप-विकार तो निश्चित माना जाता है। बिहारी क्रिया की जटिल काल-रचना अवश्य ही मुंडा की देन है। उत्तम पुरुष के सर्वनाम के दो रूप (एक श्रोता का अंतर्भाव करनेवाला और दूसरा केवल वक्ता का वाचक) मुंडा का ही विशेष लक्षण है और वह गुजराती, हिंदी आदि में भी पाया जाता है। कम से कम मध्यप्रांत (सी० पी०) की हिंदी में तो यह भेद स्पष्ट ही है—'अपन गये थे' और 'हम गये थे' दोनों में भेद स्पष्ट है। 'अपन' में हम और तुम दोनों आ जाते हैं। गुजराती में भी 'अमे गया हता' और 'आपणे गया हता' में यही भेद होता

(१) भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० २५७।

है। अनेक संख्यावाचक शब्द भी मुंडा से आये प्रतीत होते हैं; जैसे कोरी अथवा कोड़ी मुंडा शब्द कुड़ो से आया है। कुछ विद्वान्[1] समझते हैं कि कोरी अँगरेजी स्कोर (score) शब्द का तद्भव है, पर विचार करने पर उसका मूल मुंडा का रूप ही मालूम पड़ता है। इसी प्रकार अन्य अनेक लक्षण हैं जो मुंडा और आर्य भाषाओं में समान पाये जाते हैं। उनका अध्ययन करना बड़ा शिक्षाप्रद और रुचिकर होता है।

एकाक्षर अथवा चीनी परिवार

इस परिवार का उल्लेख पीछे[2] भी हो चुका है। वहाँ उसका वर्गीकरण भी दिया गया है पर इस परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण एक और प्रकार से भी किया जाता है। परिवार को केवल दो भागों में बाँटा जाता है और इस प्रकार यह वंश-वृक्ष[3] बनाया जाता है—
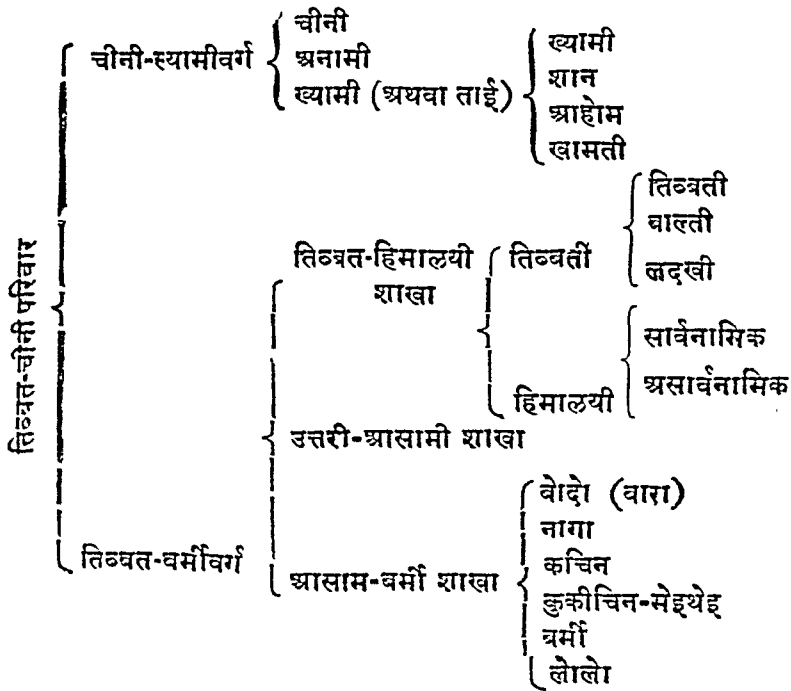
(१) देखो—Marathi-English Dictionary by Molesworth.

(२) देखो—पृ० ११४।

(३) देखो—ग्रियर्सन का डायग्राम (L. S. I., I. 1.)।

इन सब भाषाओं में तिब्बती[1] और चीनी प्रधान भाषाएँ हैं इसी से इस परिवार का एक नाम भी तिब्बत-चीनी परिवार है। इन भाषाओं में से चीनी भारत में कहीं नहीं बोली जाती। स्यामी अर्थात् ताई शाखा की अनेक बोलियाँ ब्रह्मा और उत्तर-पूर्वी आसाम में बोली जाती हैं। उनमें से शान, आहोम और खामती मुख्य हैं। शान अपर (उत्तरी) बर्मा में फैली हुई है। आहोम वास्तव में शान की ही विभाषा है—उसी से निकली एक विभाषा है। ईसवी सन् १२२८ में आहोम लोग ब्रह्मपुत्र की घाटियों में घुसे और उन्हीं के नाम पर उस देश का नाम पड़ा आशाम (अथवा आसाम)। 'आहोम' शब्द का भी प्राचीन रूप आशाम अथवा आशान है। आसाम देश के आर्य निवासियों पर इन आहोम लोगों का विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता, पर कुछ आसामी शब्दों पर उन लोगों की अमिट छाप देख पड़ती है। आसाम (देश का नाम) और बुरानजी (इतिहास—पुरान ?) ऐसे ही शब्द हैं। आहोम लोग सामयिक वृत्तों का विवरण अथवा इतिहास लिखना कुलीनता का लक्षण समझते थे। उनकी इस संस्कृति का चिह्न आसामी शब्द बुरानजी में अभी तक बचा हुआ है। इन आहोमों के पीछे खामती पूर्वी आसाम में घुस आये। ये खामती भी शान जाति के ही थे। इन खामतियों ने आहोमों को अंत में नष्ट करके ही छोड़ा। आज दिन भारत में ताई शाखा की खामती भाषाएँ ही बच रही हैं।

(१) स्वयं तिब्बती अपने को पोत लिखते हैं (पर बोलते हैं बोद); संस्कृत भोट्ट, कश्मीरी बुटुन, नेपाली भोट तथा पूर्वी हिमालय का भूटान आदि शब्द उसी पोत अथवा बोद के रूपांतर हैं। पर भारतवर्ष के पहाड़ी असली तिब्बतियों को हूणिया और भारत के सीमांत पर रहनेवाले मिश्रित रक्तवाले तिब्बतियों को भोटिया कहते हैं। इसी से तिब्बत शब्द का ही प्रयोग अच्छा समझा जाता है। तिब्बत का मूल न जाने क्या है ? देखो—भारत-भूमि०, पृ० २९६।

इस तिब्बत-चीनी (अथवा चीन-किरात) परिवार के दो बड़े स्कंध हैं—स्याम-चीनी और तिब्बत-बर्मी। स्याम-चीनी स्कंध के दो वर्ग हैं—चैनिक (Simitic) और तई (Tai)। चैनिक वर्ग की भाषाएँ चीन में मिलती हैं। स्यामी लोग अपने को थई अथवा तई कहते हैं। उन्हीं का दूसरा नाम शाम या शान है। हिंद-चीनी प्राय-द्वीप में तई अथवा शान जाति (नस्ल) के ही लोग अधिक संख्या में हैं। आसाम से लेकर चीन के क्वाङ्सी प्रांत तक आज यही जाति फैली हुई है। इन्हीं के नाम से ब्रह्मपुत्र का अहोम-नामक काँठा 'आसाम', मेँनाम का काँठा 'स्याम' और बरमा का एक प्रदेश शान कहलाता है। बारहवीं शताब्दी के पीछे ये लोग भारत में आये थे और ई० १७वीं शताब्दी में ही पूरे हिंदू हो गये। अब उनकी भाषा भी (आर्य) आसमिया है, उनके नाम भी हिंदू हैं। केवल फूकन, बरुआ आदि कुछ उपनामों में उनकी प्राचीन स्मृति बची हुई है। उनके कुछ पुरोहित अब भी पुरानी अहोम बोली जानते हैं। अहोम बोली के अतिरिक्त आसाम के पूरबी छोर और बर्मा के सीमांत पर खामती नाम की बोली बोली जाती है। तई वर्ग की यही एक बोली भारत में जीवित है। उसके वक्ता पाँच हजार के लगभग होंगे।

स्याम-चीनी स्कंध

तिब्बत और बर्मा (म्यम्म देश) के लोग एक ही नस्ल के हैं और उस नस्ल को जन-विज्ञान और भाषा-विज्ञान के आचार्य तिब्बत-बर्मी कहते हैं। भाषा के विचार से तिब्बत-बर्मी भाषा-स्कंध विशाल तिब्बत-चीनी परिवार का आधा हिस्सा है। इसी तिब्बत-बर्मी स्कंध का भारत-वर्ष से विशेष संबंध है। उसकी तीन शाखाएँ प्रधान हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) आसामोत्तरी (उत्तर-आसामी) तथा (३) आसाम-बर्मी (या लौहित्य)।

तिब्बत-बर्मी

तिब्बत-हिमालयी शाखा में तिब्बत की मुख्य भाषाएँ और बोलियाँ तथा हिमालय के उत्तरी आँचल (उत्तरांचल) की कई छोटी छोटी भोटिया बोलियाँ मानी जाती हैं। लौहित्य या आसाम-बर्मी शाखा के नाम से ही प्रकट हो जाता है कि उसमें बर्मी भाषा तथा आसाम-बर्मा-सीमांत की कई छोटी छोटी बोलियाँ सम्मिलित की जाती हैं। इन दोनों शाखाओं के बीच में उत्तर-आसामी वर्ग की बोलियाँ पड़ती हैं। इतना निश्चित हो गया है कि इन उत्तरी पहाड़ों की बोलियाँ ऊपर की किसी भी एक शाखा में नहीं रखी जा सकतीं; उनमें दोनों शाखाओं की छाप देख पड़ती है। इससे उत्तर आसामी एक स्वतंत्र शाखा मानी जाती है। इसकी अलग भौगोलिक सत्ता है।

तिब्बत-हिमालयी शाखा में फिर तीन वर्ग होते हैं—एक तो तिब्बती अथवा भोट भाषा है जिसमें तिब्बत की मँजी-सँवरी साहित्यिक भाषा और उसी की अनेक बोलियाँ सम्मिलित की जाती हैं। शेष दो वर्ग हिमालय की उन बोलियों के हैं जिनकी रचना में सुदूर तिब्बती नींव स्पष्ट देख पड़ती है।

तिब्बती भाषा का वाङ्मय बड़ा विशाल है। उसके धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक आदि ग्रंथों से भारत की संस्कृति खोजने में भी बड़ी सहायता मिलती है। सातवीं शताब्दी ई० में भारतीय प्रचारकों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था; वहाँ की भाषा को सँवार-सिंगारकर उसमें संपूर्ण बौद्ध त्रिपिटक का अनुवाद किया था। अन्य अनेक संस्कृत ग्रंथों का भी उसी समय तिब्बती में अनुवाद और प्रणयन हुआ था। अतः तिब्बती भाषा में अब अच्छा वाङ्मय है, पर वह सब भारतीय है। भारत में जिन ग्रंथों की मूल-प्रति नहीं मिलती उनका भी तिब्बती में अनुवाद मिला है।

इस तिब्बती भाषा की कई गौण बोलियाँ भारत की सीमा पर बोली जाती हैं। उनके दो उपवर्ग किये जा सकते हैं—एक

पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। पश्चिमी में बाल्तिस्तान अथवा बोलौर की बाल्ती और पुरिक बोलियाँ तथा लदाख की लदाखी बोली आ जाती है। बाल्ती-पुरिक और लदाखी के बोलनेवाले एक लाख इक्यासी हजार हैं, पर उनमें से कुछ भारतीय सीमा के बाहर भी रहते हैं। दूसरा उपवर्ग पूरबी है और उसमें भूटान की बोली ल्होखा, सिकिम की दाञ्जोङ्का, नेपाल की शर्पा और कागते, तथा कुमाऊँ-गढ़वाल की भोटिया बोलियाँ हैं। ये दोनों उपवर्ग शुद्ध तिब्बती हैं। इनके बोलनेवाले अर्वाचीन काल में ही तिब्बत से भारत में आये हैं अतः भाषा में भी उनका संबंध स्पष्ट देख पड़ता है।

किंतु हिमालय में कुछ ऐसी भोटांशक बोलियाँ भी हैं जिनके बोलनेवाले जानते भी नहीं कि उनका अथवा उनकी बोलियों का कोई संबंध तिब्बत से है। आधुनिक भाषा-विज्ञानियों ने यह खोज निकाला है कि उनकी बोलियों का मूल वास्तव में तिब्बती भाषा का प्राचीनतम रूप है। अभी तिब्बती भाषा का भी कोई परिपाक नहीं हो पाया था—उसका कोई रूप स्थिर नहीं हो पाया था तभी कुछ लोग भारत की ओर बढ़ आये थे, उन्हीं की बोलियाँ ये भोटांश-हिमालयी बोलियाँ हैं। उस काल में मुंडा अथवा शाबर भाषाओं का यहाँ प्राधान्य था, इसी से इन हिमालयी बोलियों में ऐसे स्पष्ट अतिब्बत-वर्म्मी लक्षण[१] पाये जाते हैं कि साधारण व्यक्ति उन्हें तिब्बत-वर्मी मानने में भी संदेह कर सकता है। इनके पड़ोस में आज भी कुछ मुंडा बोलियाँ पाई जाती हैं।

(१) cf. Sten Konow in L. S. I. iii, I, p. 179 (quoted by Grierson, vol. I, op. cit, p. 56). (1) जीव और सजीव पदार्थों में स्पष्ट भेद, (ii) ऊँची संख्याओं को बीसी से गिनना, (iii) बहुवचन के अतिरिक्त द्विवचन का प्रयोग, (iv) उत्तमपुरुष सर्वनाम के दो रूप (एक श्रोता का अंतर्भाव करनेवाला और दूसरा न करनेवाला), (v) क्रिया के रूपों में कर्त्ता और कर्म के प्रत्ययों का लगना आदि ऐसे लक्षण इन हिमालयी बोलियों में मिलते हैं जो मुंडा भाषाओं के विशेष लक्षण हैं।

ऐसी हिमालयी बोलियों के दो वर्ग किये जाते हैं—एक सर्वनामाख्याती और दूसरा असर्वनामाख्याती (Non-Pronominalised)। सर्वनामाख्याती (वर्ग की) भाषा की क्रिया (आख्यात) में ही कर्त्ता और कर्म का अंतर्भाव हो जाता है अर्थात् कर्त्ता, और कथित तथा अकथित दोनों प्रकार के कर्मकारक के पुरुषवाचक सर्वनामों को आख्यात (अर्थात् धातु के रूप) में ही प्रत्यय के समान जोड़ देते हैं। जैसे हिमालयी बोली लिंबू[1] में 'हिप्तूङ्' का अर्थ होता है 'मैं उसे मारता हूँ'। यह बोली सर्वनामाख्याती है। हिप् (=मारना)+तू (उसे)+ङ् (मैं) से हिप्तूङ् एक 'आख्यात' की रचना हुई है। जिन बोलियों की क्रियाओं में सर्वनाम नहीं जोड़ा जाता वे असर्वनामाख्याती कहलाती हैं। इन भारी-भरकम परिभाषाओं से बचने के लिए एक विद्वान् ने पहले सर्वनामाख्याती वर्ग को किरात[2]-कनावरादि वर्ग और दूसरे को नेवारादि वर्ग नाम दिया है। जाति और बोली के नाम पर बनने के कारण ये पिछले शब्द अधिक स्पष्ट और सार्थक हैं। तो भी हमें पहले नामों को विद्वन्मंडल में गृहीत होने के कारण स्मरण अवश्य रखना चाहिए।

'पहले वर्ग' के भी दो उपवर्ग हैं—एक पूर्वी या किराँत, दूसरा पच्छिमी या कनौर-दामी उपवर्ग। नेपाल का सबसे पूर्वी भाग सप्तकौशिकी प्रदेश किराँत (किरात) देश भी कहलाता है; वहाँ की बोलियाँ पूर्वी उपवर्ग की हैं। पश्चिमी उपवर्ग में कनौर की कनौरी (या कनावरी) बोली, उसके पड़ोस की कुल्लू, चंबा और लाहुल की कनाशी, चंबा-लाहुली, मनचाटी आदि बोलियाँ एक ओर हैं, और कुमाऊँ के भोट प्रांत की दार्मिया आदि अनेक बोलियाँ दूसरी ओर हैं। इस प्रकार हिमालय के मध्य में यह वर्ग फैल हुआ है।

(१) cf. L. S. I., I, 1, p. 57

(२) देखो—जयचंद्र विद्यालंकार—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० २६३.

दूसरे वर्ग की अर्थात् असर्वनामाख्याती नेवारादि वर्ग की बोलियाँ नेपाल, सिकिम और भूटान में फैली हुई हैं। गोरखे वास्तव में मेवाड़ी राजपूत हैं; मुस्लिम काल में भागकर हिमालय में आ बसे हैं। उनसे पहले के नेपाल के निवासी नेवार लोग हैं। स्यात् उन्हीं के नाम से नेपाल शब्द भी बना है। आज-कल भी खेती-बारी, व्यापार-व्यवसाय सब इन्हीं नेवारों के हाथ में है; गोरखे केवल सैनिक और शासक हैं। इसी से नेपाल की असली बोली नेवारी है। नेवारी के अतिरिक्त नेपाल के पश्चिमी प्रदेशों की रोंग (लेपचा), शुनवार[1], मगर आदि बोलियाँ भी इस वर्ग में आती हैं। इनमें से केवल नेवारी वाङ्मय-संपन्न भाषा है। बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण इस पर आर्य प्रभाव भी खूब पड़ा है।

आसामोत्तर शाखा का न तो अच्छा अध्ययन हुआ है और न उसका विशेष महत्त्व ही है। अत: तिब्बत-हिमालयी वर्ग के उपरांत आसाम-बर्मी वर्ग आता है। आसाम-बर्मी वर्ग की भाषाओं के सात उपवर्ग किये जाते हैं। इन सबमें प्रधान बर्मी और उसकी बोलियाँ (अराकानी, दावे[2] आदि) हैं। इस वर्ग की अन्य बोलियाँ भी प्राय: बर्मा में ही पड़ती हैं। केवल 'लोलो' चीन में पड़ती है। सक और कचिन बोलियाँ तो सर्वथा बर्मा में हैं, कुकीचिन बर्मा और शेष

आसाम-बर्मी शाखा

(१) 'शुनवार' बोली इस बात का उदाहरण है कि इन भाषाओं पर तिब्बती प्रभाव अधिक पड़ रहा है और वे असर्वनामाख्यातिक हो रही हैं। १८४७ में हाजसन (Hodgeson) ने इन हिमालयी बोलियों का पहले-पहल अध्ययन करके शुनवारी को सर्वनामाख्याती लिखा था पर हाल के सर्वे (L.S.I) में स्टेन कोनो ने उसे असर्वनामाख्याती लिखा है। ज्यों ज्यों तिब्बती का प्रभाव बढ़ रहा है, मुंडा बोलियाँ पीछे पड़ती जा रही हैं। इसी से पूर्वी हिमालय में असर्वनामाख्याती बोलियों का होना सर्वथा स्वाभाविक है। वहीं से तो तिब्बत आने-जाने के अनेक मार्ग हैं; अतः वहीं तिब्बती प्रभाव अधिक है।

(२) दावे को अँगरेजी में बिगाड़कर Tavoy लिखते हैं।

भारत की सीमा पर बोली जाती हैं। बोडो (बाड़ा) बोलियाँ आसामी अनार्य भाषा हैं और 'नागा' भी बर्मा के बाहर ही पड़ती है। वर्गीकरण पीछे वंशवृक्ष[1] में आ चुका है। इस भौगोलिक स्थिति का सहज फल यह है कि बोडो (बाड़ा) और नागा का हिमालयी शाखा से घनिष्ठ संबंध है; कुकीचिन और बर्मी अधिक स्वतंत्र हैं और शेष में मध्यावस्था पाई जाती है। देश के साथ ही काल[2] भी अपना काम कर रहा है। ज्यों ज्यों आर्य प्रभाव और अधिकार बढ़ता जा रहा है, बोडो बोलियाँ लुप्त होती जा रही हैं। नागा बोलियाँ निविड़ जंगल में रहने के कारण आर्य भाषाओं का शिकार नहीं हो सकी हैं और स्वयं वक्ताओं में परस्पर संपर्क न होने से—आवागमन का मार्ग दुर्लंध्य होने से—उनमें परिवर्तन भी दिन दूना, रात चौगुना होता रहता है। उनमें उपबोलियों की प्रचुरता आश्चर्य में डाल देती है। नागा वर्ग में लगभग ३० बोलियाँ हैं। उनका क्षेत्र वही नागा पहाड़ हैं। उनमें कोई साहित्य[3] नहीं है, व्याकरण की कोई व्यवस्था नहीं है और उच्चारण भी क्षण क्षण, पग पग पर बदलता रहता है। उनके विषय में 'सर्वं क्षणिकम्' वाली बात सर्वथा ठीक उतरती है।

कुकीचिन वर्ग की एक बड़ी विशेषता है कि उसकी एक भाषा मेई-थेई सचमुच भाषा कही जा सकती है, उसमें प्राचीन साहित्य भी मिलता है। १४३२ ई० तक के मनीपुर राज्य के इतिवृत्त (chronicles) मेईथेई भाषा में मिलते हैं। उनसे मेईथेई के गत ५०० वर्षों का विकास सामने आ जाता है। इस ऐतिहासिक अध्ययन से एकाक्षर भाषाओं के क्षणिक और विकृत होने का अच्छा नमूना मिलता है। अब यह कोई नहीं मानता कि एकाक्षर भाषाएँ आदिकाल से नित्य और निर्विकार रूप में चली आ रही हैं। अब तो इस एकाक्षर-

(१) देखो—पीछे पृ० ११४ और १६६

(२) 'इतिहास' काल का गुणगान समझा जाता है।

(३) देखो—Grierson, L. S. I., op. cit, p. 59.

वंश की रानी चीनी भाषा के भी प्राचीन इतिहास का पता लग गया है। उसमें पहले विभक्ति का भी स्थान था। कूकी-चिन वर्ग की दूसरी विशेषता यह भी है कि उसकी भाषाओं और बोलियों में सच्ची क्रियाओं (finite verbal forms) का सर्वथा अभाव पाया जाता है; उनके स्थान में क्रियार्थी संज्ञा, अव्यय कृदंत आदि अनेक प्रकार के कृदंतों[1] का प्रयोग होता है। आर्य भाषाओं पर भी इस अनार्य प्रवृत्ति का गहरा प्रभाव पड़ा है।

मेईथेई के अतिरिक्त इस वर्ग की साहित्यिक भाषा बर्मी है पर यह तो एक अमर भाषा सी है। सच्ची बर्मी भाषाएँ तो बोलियाँ हैं। उनके उच्चारण और रूप की विविधता में से एकता खोज निकालना बड़ा कठिन काम है।

इन तिब्बत-चीनी भाषाओं का भी आर्य भाषाओं से पूरा संघर्ष और संसर्ग रहा है और है, अतः आर्य भाषाओं के अध्ययन के लिए इन भाषाओं के कुछ सामान्य[2] लक्षण जानना अच्छा होता है। इस परिवार की भाषाओं की धातुएँ एकाक्षर होती हैं पर उनकी रचना में तीनों ही प्रकार देखे जाते हैं। चीनी की रचना सर्वथा निर्योग अथवा वियोग-प्रधान है। उसी श्याम-चीनी वर्ग की ताई भाषाओं में वियोग की अपेक्षा संयोग (अर्थात् प्रत्यय-प्रधानता) ही अधिक है। विद्वानों का अनुमान है कि चीनी भी पहले प्रत्यय-प्रधान ही थी। व्यवहित होते होते अब वह निर्योग अथवा निपात-प्रधान हो गई है। इसी परिवार की तिब्बत-बर्मी भाषाओं में सर्वथा प्रत्यय-संयोग की ही प्रधानता है। कभी

तिब्बत-चीनी भाषाओं के सामान्य लक्षण

(१) क्रिया के जिन रूपों का उपयोग दूसरे शब्द-भेदों के समान होता है उन्हें कृदंत कहते हैं।—देखो—गुरु-कृत व्याकरण, पृ० २६८।

(२) ये लक्षण ग्रियर्सन की भाषा सर्वे की भूमिका (पृ० ४५-४७) से लिये गये हैं।

कभी तो चीनी-तिब्बती परिवार की भाषाओं में संस्कृत आदि आर्य भाषाओं की सविभक्तिक रचना के भी लक्षण पाये जाते हैं।

धातु और रचना के अतिरिक्त अर्थ-प्रकाशन की शक्ति भी विचारणीय होती है। मन अर्थ (अर्थात् वस्तु) का ग्रहण दो प्रकार से करता है[1]—सांगोपांग वस्तु को एक मानकर अथवा उसके अंगों और उपांगों को पृथक् पृथक् करके। दूसरे प्रकार के अर्थ-ग्रहण का फल ही जाति, क्रिया, गुण आदि का भेद होता है। पहले प्रकार के विचार-धारण और प्रकाशन का—अर्थात् अनेक को एक समझकर कहने का फल अधिक विकास का विरोधी होता है और दूसरे प्रकार की अंग-प्रत्यंग की कल्पना शब्द-संतति का कारण बनती है। पहले प्रकार की भाषा बड़ी मनोहर और काव्यमय होती है, उसमें शब्दों और नामों का बाहुल्य होता है—वे शब्द भी प्रायः व्यक्तिवाचक होते हैं; पर इस प्रकार की भाषा में उदात्त और सूक्ष्म बातों को प्रकट करने की शक्ति नहीं रहती। ऐसी अनेक भाषाएँ हैं जिनमें भिन्न भिन्न पशुओं के लिए नाम हैं पर पशु जाति के वाचक एक शब्द का अभाव है। कई ढंग से बैठने के लिए कई भिन्न भिन्न शब्द उन भाषाओं में मिलते हैं पर 'बैठना' क्रिया के लिए कोई पृथक् शब्द नहीं मिलता। काली गाय, लाल गाय, पीली गाय आदि के समान प्रयोग मिलते हैं पर काला, लाल आदि गुणों के वाचक शब्द पृथक् नहीं मिलते; अर्थात् जाति, क्रिया और गुण का स्पष्ट भेद नहीं मिलता। व्यक्तिवाचक[2]

(१) इसका सुंदर वर्णन मैक्समूलर की Comparative Philology में मिलता है। ग्रियर्सन ने सर्वे की भूमिका में (पृ० ४६ पर) उसी में से एक सुंदर उद्धरण भी दिया है।

(२) भारतीय भाषा-शास्त्री उन्नत भाषा के चार मुख्य शब्द-भेद मानते हैं—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और द्रव्यशब्द (अर्थात् व्यक्तिवाचक); देखो—महाभाष्य (१)—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चेति। अथवा (२) साहित्य शास्त्र का जात्यादिवाद (काव्यप्रकाश)।

ब्द ही सब काम चला लेते हैं। यह शब्द-भेद का अभाव इस
ात का प्रमाण है कि इन भाषाओं में अभी नाम और रूप का—
ब्द और अर्थ का—संबंध स्पष्ट और व्यवस्थित नहीं हुआ है।
ह संबंध जितना ही सूक्ष्म और सुस्पष्ट होता है, भाषा उतनी ही
ुंदर और उन्नत मानी जाती है। असभ्य, आदिम अथवा अर्द्ध-
विकसित भाषाओं में इसी संबंध की स्थिरता और रूप की व्यवस्था
ा अभाव रहता है; उनमें ऐसे शब्द रहते हैं जो संज्ञा[1] और
क्रिया—सत्त्व[2] और भाव—दोनों का ही काम करते हैं।

चीनी-तिब्बती परिवार की सभी भाषाएँ एक समय इस शब्द-
ेद-हीन अवस्था में थीं, पर चीनी तिब्बती और श्यामी आदि
ाहित्यिक भाषाओं ने निपात, स्वर आदि कई उपायों से भाव-
काशन की शक्ति को बढ़ा लिया है और अपने शब्द-भेद-हीन
ोने के दोष को दूर कर दिया है। अब वे भेद-भाव के संसार में
च्छा स्थान पाने लगी हैं; पर इसी परिवार की अनेक तिब्बत-
र्मी बोलियाँ अभी पुरानी अविकसित अवस्था में ही हैं। इस
श की जो बोलियाँ भारत में पाई जाती हैं वे आज भी अमूर्त भाव
ा बोध कराने योग्य नहीं हुई हैं। इनमें से अधिक बोलियों में
नुष्य के लिए जातिवाचक कोई भी सामान्य शब्द नहीं है। वे एक
ाम से अपनी जाति के मनुष्य को पुकारेंगे, दूसरे से दूसरी जाति
ो और तीसरे से तीसरी जाति को, पर सब जातियों अथवा वर्गों
े मनुष्य मात्र के लिए कोई सामान्य शब्द का व्यवहार वे कभी
हीं करते। जैसे वे अपने पास की एक जाति को 'ज़ो' कहते हैं,
ूसरी जाति को 'कूकी' कहते हैं, एक तीसरी को 'सिंगफो' कहते

(१) देखो—पहली पाद-टिप्पणी—ग्रियर्सन की सर्वे की भूमिका, पृ० ४६।

(२) संज्ञा (noun) और क्रिया (verb) के लिए सत्त्व (con-
rete) और भाव (abstract) का प्रयोग अधिक शास्त्रीय और
ारिभाषिक होता है। निरुक्त आदि प्राचीन शास्त्रों में इन्हीं शब्दों का
यवहार हुआ है।

हैं, इसी प्रकार वे सांडे, गारो, मिकिर आदि शब्दों का भिन्न भिन्न जाति के लोगों के लिए व्यवहार करते हैं, उनके पास मनुष्य के लिए कोई भी शब्द नहीं मिलता। लुशेई वर्मी वर्ग की एक बोली है जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार की चींटियों के लिए कोई नौ-दस शब्द हैं, पर चींटी के लिए सामान्य (जातिवाचक) एक भी शब्द नहीं है।

इसी प्रकार संबंधवाचक और भिन्न भिन्न अंगों के वाचक शब्द भी कुछ अमूर्त कल्पना की अपेक्षा करते हैं। अतः तिब्बत-बर्मी बोलियों में 'मेरा पिता', 'तेरा पिता', 'उसका पिता', 'मेरा हाथ', 'राम का हाथ' आदि के लिए शब्द मिलते हैं पर 'पिता' और 'हाथ' के लिए पृथक् शब्द नहीं मिलते। धीरे धीरे कुछ निपात बढ़ती सभ्यता की आवश्यकताओं की माँगों को पूरा करने का यत्न कर रहे हैं। इस विकास के उदाहरण हिंदूकुश से लेकर चिन पहाड़ियों (वर्मा) तक मिल सकते हैं[१]।

इन भाषाओं में यह भी देखते ही बनता है कि किस प्रकार संज्ञा से क्रिया का—मूर्त सत्त्व से अमूर्त भाव का—विकास हुआ है। इन भाषाओं में सच्ची क्रिया न होने से कोई भी वाच्य नहीं होता। इसी से उनकी क्रियाओं में अर्थात् क्रिया का काम देनेवाले शब्दों में सदा कर्तृवाच्य ही माना जाता है। इस सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इन भाषाओं की सस्वरता है। स्वर से एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। इस स्वर से बल अथवा आघात का कोई संबंध नहीं है। अधिक उन्नत भाषाओं में स्वर का व्यवहार कम होता है। स्वर के अतिरिक्त शब्द-क्रम भी इस वर्ग की एक विशेषता है। प्रत्यय और विभक्ति से रहित नियोग भाषा में स्वर और शब्द-क्रम ही तो अर्थ का निर्णय करता है।

आर्य भाषा परिवार के पीछे प्रधानता में द्रविड़ परिवार ही आता है और प्रायः सभी बातों में यह परिवार मुंडा से भिन्न

(१) Grierson's Linguistic Survey, p. 46

पाया जाता है। मुंडा में कोई साहित्य नहीं है, पर द्रविड़ भाषाओं में से कम से कम चार में तो सुंदर और उन्नत साहित्य मिलता है। मुंडा का संबंध भारत के बाहर भी है पर द्रविड़ भाषाओं का एकमात्र अभिजन दक्षिण भारत ही है। कील के प्रो० श्रेडर[1] (O. Schrader of Kiel) ने द्रविड़ और फिनो-अग्रिक परिवारों में संबंध दिखाने का यत्न किया है। पेटर[2] शिमट ने आस्ट्रेलिया की भाषाओं से द्रविड़ भाषाओं का घनिष्ठ संबंध सिद्ध करने का बड़ा यत्न किया है; तो भी अभी तक पूरा निश्चय नहीं हो सका कि द्रविड़ परिवार का कोई संबंध विदेशों से भी है। इसी लिए कुछ लोगों की यह कल्पना भी मान्य नहीं हो सकी कि एक द्रविड़ बोली ब्राहुई भारत के उत्तर-पश्चिमी द्वार पर मिलती है, अतः द्रविड़ लोग भारत में उत्तर-पश्चिम से आये होंगे। हो सकता है कि व्यापारी द्रविड़ पश्चिमी देशों के संबंध से वहाँ पश्चिमोत्तर में जा बसे हों।

द्रविड़ परिवार

विद्यमान द्रविड़ भाषाएँ चार वर्गों[3] में बाँटी जाती हैं—(१) द्रविड़ वर्ग, (२) आंध्र वर्ग, (३) मध्यवर्ती वर्ग और (४) बहिरंग वर्ग अर्थात् ब्राहुई बोली। तामिल, मलयालम, कनाडी और कनाडी की बोलियाँ, तुलु और कोडगू (कुर्ग की बोली) सब द्रविड़ वर्ग[4] में हैं। तेलगू या आंध्र भाषा अकेली एक वर्ग में है। इन परिष्कृत भाषाओं की उत्तरी सीमा महाराष्ट्र (सी० पी०) का चाँदा जिला है। उसके आगे कुछ अपरिष्कृत बोलियाँ पाई जाती हैं। वे

(१) देखो—लेख on Dravidisch und Uralisch that appeared in the Zeitschrift für Ind. u. Iran., III.

(२) cf. Pater. W. Schmidt. Die Gliederung der Australischen Sprachen.

(३) कुमारिल भट्ट ने द्रविड़ भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा था—आंध्र और द्रविड़। वास्तव में यही दो प्रधान भेद हैं भी। देखो—मीमांसा०।

(४) द्रविड़ परिवार और वर्ग का भेद स्मरण रखना चाहिए।

दूसरी भाषाओं के प्रवाह से घिरकर द्वीप सी बन गई हैं और धीरे धीरे लुप्त भी हो रही हैं।

मध्यवर्ती वर्ग

इन सब बोलियों में अधिक प्रसिद्ध गोंडी बोली है। इस गोंडी का अपनी पड़ोसिन तेलगू की अपेक्षा द्रविड़ वर्ग की भाषाओं से अधिक साम्य है। उसके बोलनेवाले गोंड लोग आंध्र, उड़ीसा, बरार, चेदि-कोशल (बुंदेलखंड और छत्तीसगढ़) और मालवा के सीमांत पर रहते हैं। पर उनका केंद्र चेदि-कोशल ही माना जाता है। गोंड एक इतिहास-प्रसिद्ध जाति है, उसकी बोली गोंडी का प्रभाव उत्तराखंड में भी ढूँढ़ निकाला गया है पर गोंडी बोली न तो कभी उन्नत भाषा बन सकी, न उसमें कोई साहित्य उत्पन्न हुआ और न उसकी कोई लिपि ही है। इसी से गोंडी शब्द कभी कभी भ्रमजनक भी होता है। बहुत से गोंड अब आर्य भाषा अथवा उससे मिली गोंडी बोली बोलते हैं, पर साधारण लोग गोंड मात्र की बोली को गोंडी मान लेते हैं। इसी से गोंडी की ठीक गणना करना सहज नहीं होता। सन् १९२१ में गोंडी की जन-संख्या सोलह लाख से ऊपर थी, पर अब विचार किया जा रहा है कि उनकी संख्या बारह लाख से कम न होगी। गोंड लोग अपने आपको 'कोइ' कहते हैं।

गोंडी के पड़ोस में ही उड़ीसा में इसी वर्ग की 'कुई' नाम की बोली पाई जाती है। इसकी जन-संख्या चार लाख अस्सी हजार है। इसका संबंध तेलगू से विशेष देख पड़ता है। इसमें क्रिया के रूप बड़े सरल होते हैं। इसके बोलनेवाले सबसे अधिक जंगली हैं; उनमें अभी तक कहीं कहीं नर-बलि की प्रथा पाई जाती है। उड़िया लोग उन्हें कोंधी, कांधी अथवा खोंध कहते हैं।

कुई के ठीक उत्तर छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर में (अर्थात् चेदि-कोशल और बिहार के सीमांत पर) कुरुख लोग रहते हैं। ये ओराँव भी कहे जाते हैं। इनकी संख्या गोंडों से कुछ कम

अर्थात् आठ लाख छाछठ हजार है। इनकी भाषा कुरुख अथवा ओरॉंव भी द्रविड़ से अधिक मिलती-जुलती है। जनकथा के आधार पर यह माना जाता है कि ये लोग कर्नाटक से आकर यहाँ बसे हैं अर्थात् उनकी बोली कर्णाटकी से संबंध रखती है। इस बोली में कई शाखाएँ अर्थात् उपबोलियाँ भी हैं। गंगा के ठीक तट पर राजमहल की पहाड़ियों में रहनेवाली मल्तो जाति की बोली 'मल्तो' कुरुख की ही एक शाखा है। बिहार और उड़ीसा में कुरुख बोलियों का क्षेत्र मुंडा के क्षेत्र से छोटा नहीं है, पर अब कुरुख पर आर्य और मुंडा बोलियों का प्रभाव दिनों दिन अधिक पड़ रहा है। राँची के पास के कुछ कुरुख लोगों में मुंडारी का अधिक प्रयोग होने लगा है।

गोंडी, कुई, कुरुख, मल्तो आदि के समान इस वर्ग की एक बोली कोलामी है। वह पश्चिमी बरार में बोली जाती है। उसका तेलगू से अधिक साम्य है; उस पर मध्यभारत की आर्य भीली बोलियों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। टोडा की भाँति वह भी भीली के दबाव से मर रही है। आजकल उसके बोलनेवाले लगभग तेईस-चौबीस हजार हैं।

सुदूर कलात में ब्राहुई लोग एक द्रविड़ बोली बोलते हैं। इनमें से अनेक ने बलूची अथवा सिंधी को अपना लिया है, तो भी अभी ब्राहुई के वक्ता डेढ़ लाख से ऊपर हैं। यहाँ के सभी स्त्री पुरुष प्राय: दुभाषिये होते हैं। कभी कभी स्त्री सिंधी बोलती हैं और पति ब्राहुई। यहाँ किस प्रकार अन्यवर्गीय भाषाओं के बीच में एक द्रविड़ भाषा जीवित रह सकी, यह एक आश्चर्य की बात है।

ब्राहुई वर्ग

आंध्र वर्ग में केवल आंध्र अथवा तेलगू भाषा है और अनेक बोलियाँ। वास्तव में दक्षिण-पूर्व के विशाल क्षेत्र में केवल तेलगू भाषा बोली जाती है। उसमें कोई विभाषाएँ नहीं हैं। उसी भाषा को कई जातियाँ

आंध्र वर्ग

अथवा विदेशी व्यापारी थोड़ा विकृत करके बोलते हैं पर इससे भाषा का कुछ नहीं बिगड़ता। विभाषाएँ तो तब बनती हैं जब प्रांतीय भेद के कारण शिष्ट और सभ्य लोग भाषा में कुछ उच्चारण और शब्द-भांडार का भेद करने लगें और उस भेदोंवाली बोली में साहित्य-रचना भी करें। ऐसी बातें तेलगू के संबंध में नहीं हैं। तेलगू का व्यवहार दक्षिण में तामिल से भी अधिक होता है; उत्तर में चाँदा तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी पर चिकाकोल तक और पश्चिम में निजाम के आधे राज्य तक उसका प्रचार है। संस्कृत ग्रंथों का यही आंध्र देश है और मुसलमान इसी को तिलंगाना कहते थे। मैसूर में भी इसका व्यवहार पाया जाता है। बंबई और मध्यप्रदेश में भी इसके बोलनेवाले अच्छी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार द्रविड़ भाषाओं में संख्या[1] की दृष्टि से यह सबसे बड़ी है। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से यह तामिल से कुछ ही कम है। आधुनिक साहित्य के विचार से तो तेलगू अपनी बहिन तामिल से भी बढ़ी-चढ़ी है। विजयानगरम् के कृष्णराय ने इसकी उन्नति के लिए बड़ा यत्न किया था, पर इसमें वाङ्मय बारहवीं शताब्दी के पहले का नहीं मिलता। इसमें संस्कृत का प्रचुर प्रयोग होता है। इसमें स्वर-माधुर्य इतना अधिक रहता है कि कठोर तामिल उसके सौंदर्य को कभी नहीं पाती। इसके सभी शब्द स्वरांत होते हैं, व्यंजन पद के अंत में आता ही नहीं, इसी से कुछ लोग इसे 'पूर्व की इटाली भाषा' (Italy of the East) कहते हैं।

द्रविड़ वर्ग

द्रविड़ वर्ग की भाषाओं में तामिल सबसे अधिक उन्नत और साहित्यिक भाषा है। उसका वाङ्मय बड़ा विशाल है। आठवीं शताब्दी से प्रारंभ होकर आज तक उसमें साहित्य-रचना होती आ रही है। आज भी बँगला, हिंदी, मराठी आदि भारत की प्रमुख साहित्यिक भाषाओं की बराबरी में तामिल का भी नाम लिया जा सकता है। तामिल

(१) सन् २१ में इसकी जन-संख्या १६,७८२,६०१ थी।

की विभाषाओं में परस्पर अधिक भेद नहीं पाया जाता, पर चलती भाषा के दो रूप पाये जाते हैं—एक छंदस्—काव्य की भाषा जिसे वे लोग 'शेन' (=पूर्ण) कहते हैं और दूसरी बोलचाल की जिसे वे कोडुन् (गँवारू) कहते हैं।

मलयालम 'तामिल की जेठी बेटी' कही जाती है। नवीं शताब्दी से ही वह अपनी माँ तामिल से पृथक् हो गई थी और भारत के दक्षिण-पश्चिमी समुद्र-तट पर आज वही बोली जाती है। वह ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण संस्कृत-प्रधान हो गई है। कुछ मोपले अधिक शुद्ध और देशी मलयालम बोलते हैं क्योंकि वे आर्य संस्कृति से कुछ दूर ही हैं। इस भाषा में साहित्य भी अच्छा है और त्रावणकोर तथा कोचीन के राजाओं की छत्रच्छाया में उसका अच्छा वर्धन और विकास भी हो रहा है।

मलयालम

कनारी मैसूर की भाषा है। उसमें अच्छा साहित्य है, उसकी काव्यभाषा अब बड़ी प्राचीन और आर्ष हो गई है। उसका अधिक संबंध तामिल भाषा से है, पर उसकी लिपि तेलगू से अधिक मिलती है। इस भाषा में भी स्पष्ट विभाषाएँ कोई नहीं हैं।

कनारी

इस द्रविड़ वर्ग की अन्य विभाषाओं में से टुळु एक बहुत छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। यद्यपि इसमें साहित्य नहीं है पर काल्डवेल ने उसको विकास और उन्नति की दृष्टि से बहुत उच्च भाषाओं में माना है। कोडगू कनारी और तुळु के बीच की भाषा है। उसमें दोनों के ही लक्षण मिलते हैं। भूगोल की दृष्टि से भी वह दोनों के बीच में पड़ती है। टोडा और कोटा नीलगिरि के जंगलियों की बोलियाँ हैं। उनके बोलनेवाले भी दो हजार से कम ही हैं। इनमें से टोडा जाति और उनकी भाषा मरणोन्मुख है।

द्रविड़-परिवार की भाषाएँ प्रत्यय-संयोग-प्रधान और अनेकाक्षर होती हैं, पर उनके रूप मुंडा की अपेक्षा कहीं अधिक सरल

और कम उपचय[1] करनेवाले होते हैं। द्रविड़ भाषाओं में संयोग बड़ा स्पष्ट होता है और प्रकृति में कभी विकार नहीं होता। द्रविड़ भाषाओं में निर्जीव और निश्चेतन पदार्थ नपुंसक माने जाते हैं और अन्य शब्दों में पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग के सूचक पद जोड़ दिये जाते हैं। केवल अन्य पुरुष के सर्वनामों में और कुछ विशेषणों में स्त्रीलिंग और पुँल्लिंग का भेद पाया जाता है। नपुंसक संज्ञाओं का प्रायः बहुवचन भी नहीं होता। विभक्तियों के लिये परसर्गों का प्रयोग होता है। जहाँ संस्कृत में विशेषण के रूप सर्वथा संज्ञा के समान होते हैं, द्रविड़ में विशेषण के विभक्ति-रूप होते ही नहीं। मुंडा भाषाओं की भाँति द्रविड़ में भी उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं जिनमें से एक में श्रोता भी अंतर्भूत रहता है। इन भाषाओं में कर्मवाच्य नहीं होता। वास्तव में इन भाषाओं में सच्ची क्रिया ही नहीं होती। इन भाषाओं की वाक्य-रचना का अध्ययन बड़ा रोचक होता है। इन द्रविड़ भाषाओं का और आर्य भाषाओं का एक दूसरे पर बड़ा प्रभाव पड़ा है[2]।

द्रविड़-परिवार के सामान्य लक्षण
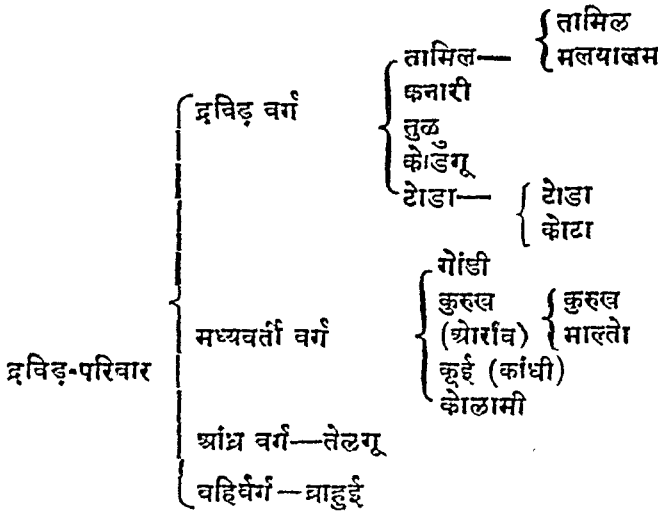
(१) Agglutination.

(२) देखो—Caldwell's Comparative Grammar of Dravidian Languages.

इस परिवार की भी तीन शाखाएँ भारत में पाई जाती हैं—

आर्य-परिवार ईरानी, दरद और भारतीय। इन सबका वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—

- ईरानी
  - पश्चिमी ईरानी.................................फारसी
  - पूर्वी ईरानी
    - अफगान-बलूची-वर्ग
      - बलूची
      - ओरमुरी (बर्गिस्ता)
      - अफगान
    - गालचा (पामीर की भाषाएँ)

- —दरद (अथवा पिशाच) वर्ग
  - काफिरवर्ग
  - खावारवर्ग
  - दरदवर्ग
    - शीना
    - काश्मीरी
    - कोहिस्तानी

- भारतीय आर्य भाषा-वर्ग
  - जिप्सी भाषाएँ (आर्मेनिया और यूरोप में)
  - बहिरंग भाषाएँ
    - पश्चिमोत्तर वर्ग
      - लहँदा
      - सिंधी
    - दक्षिणवर्ग
      - मराठी
      - सिंघली
    - पूर्वीवर्ग
      - उड़िया
      - बिहारी
      - बंगाली
      - आसामी
  - मध्यवर्ती भाषाएँ............................ पूर्वी हिंदी
  - अंतरंग भाषाएँ
    - केंद्रीय वर्ग
      - शुद्ध
        - पश्चिमी हिंदी
        - राजस्थानी
        - भीली-खानदेशी
      - आरोपित
        - गुजराती
        - पंजाबी
    - पहाड़ी अथवा हिमालयी वर्ग
      - १ नेपाली (पूर्वी)
      - २ केंद्रीय प०
      - ३ पश्चिमी पहाड़ी
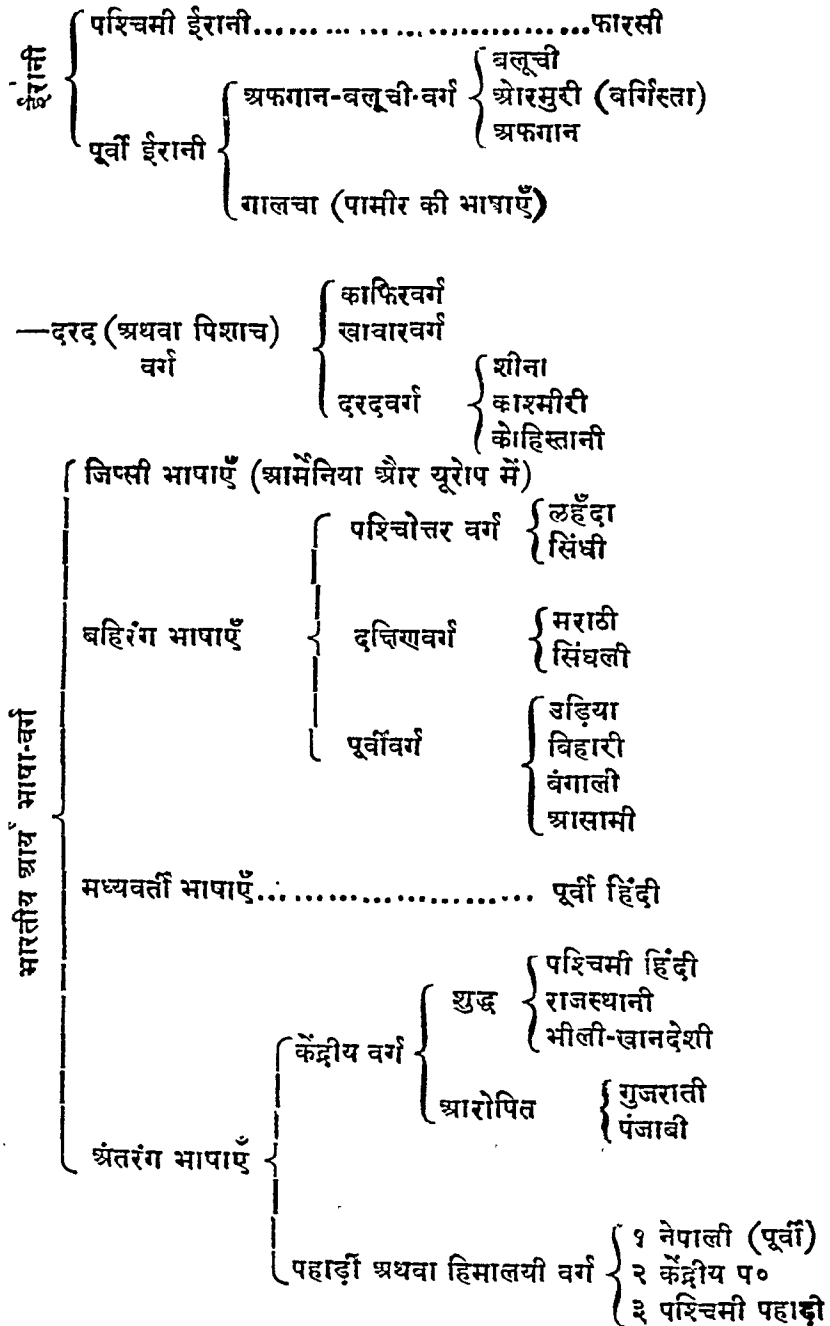
ईरानी भाषाएँ बलूचिस्तान, सीमाप्रांत और पंजाब के सीमांत पर बोली जाती हैं। उनमें सबसे अधिक महत्त्व की और उन्नत भाषा फारसी है, पर वह भारत में कहीं भी बोली नहीं जाती। भारत में उसके साहित्यिक और अमर (Classical) रूप का अध्ययन मात्र होता है। केवल बलूचिस्तान में कोई साढ़े सात हजार लोग ऐसे पाये जाते हैं जो देवारी नामक फारसी विभाषा का व्यवहार करते हैं। पर भारत के शिष्ट मुसलमान जिस उर्दू का व्यवहार करते हैं उसमें फारसी शब्द तो बहुत रहते हैं पर वह रचना की दृष्टि से 'खड़ी बोली' का दूसरा नाम है।

जो पूर्वी ईरानी भाषाएँ भारत में बोली जाती है उनमें से बलोची बलोचिस्तान और पश्चिमी सिंध में बोली जाती है। बलोची ही ईरानी भाषा में सबसे अधिक संहित और आर्ष मानी जाती है। उसकी रचना में बड़ी प्राचीनता और व्यवहिति की प्रवृत्ति की कमी पाई जाती है। उसकी पूर्वी बोलियों पर सिंधी, लहँदा आदि का अच्छा प्रभाव पड़ा है। उसमें अरबी और फारसी का भी पर्याप्त मिश्रण हुआ है। बलोची में ग्राम-गीतों और ग्राम-कथाओं का यत्किंचित् साहित्य भी मिलता है।

ओरमुरी अथवा बर्गिस्ता अफगानिस्तान के ठीक केंद्र में रहने-वाले थोड़े से लोगों की बोली हैं। इसके कुछ वक्ता सीमाप्रांत में भी मिलते हैं।

अफगान भाषा की अनेक पहाड़ी बोलियाँ हैं पर उस भाषा की विभाषाएँ दो ही हैं—पश्चिमोत्तर की पख्तो और दक्षिण-पूर्व की पश्तो। दोनों में भेद का आधार प्रधानतः उच्चारण-भेद है। भारत का संबंध पश्तो से अधिक है और अपनी प्रधानता के कारण प्रायः पश्तो[1] अफगानी का पर्याय मानी जाती है। यह भाषा है तो

(१) पश्तो—पख्तो के बोलनेवाले पश्तान या पख्तान कहलाते हैं। उसी से हमारा पठान शब्द बना है पर बहुत से अफगानों ने अपनी भाषा छोड़कर फारसी अपना ली है। उन्हें पठान लोग 'पार्सीवान्' कहते हैं।

बड़ी शक्तिशालिनी और स्पष्ट पर साथ ही बड़ी कर्कश भी है। ग्रियर्सन ने एक कहावत उद्धृत की है कि पश्तो गर्दभ का रेंकना है। कुछ भी हो, इस भाषा की शब्द-संपत्ति और रचना दोनों में ही भारतीय भाषाओं का ऋण अथवा प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। हिंदू इतिहास के प्रारंभिक काल से ही अफगानिस्तान भारतीय राष्ट्र का एक अंग रहा है। वैदिक काल से लेकर आज तक उसका भारत से सदा संबंध रहा है। प्राचीन बौद्ध राज्यों में तो पक्थ[२] और कांबोज का वर्णन आता ही है, मुगल काल में भी अफगानिस्तान भारत का ही एक प्रांत था। अतः अफगानी पश्तो पर भारत की छाप होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। गलचा पामीर की बोलियाँ हैं। उनमें कोई साहित्य नहीं है और न उनका भारत के लिए अधिक महत्त्व ही है, पर उनका संबंध भारत की आर्य भाषाओं से अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। यास्क, पाणिनि और पतंजलि ने जिस कंबोज की चर्चा की है वह गलचा भाषा का पहाड़ी क्षेत्र है। महाभाष्य में 'शवतिर्गतिकर्मा' का जो उल्लेख मिलता है वह आज भी गलचा बोलियों में पाया जाता है। सुत का अर्थ गतः (गया) होता है। ग्रियर्सन ने इसी गलचा धातु का उदाहरण दिया है।

पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में दरदिस्तान है और वहाँ की भाषा तथा बोली दरद कहलाती है। दरद नाम संस्कृत साहित्य में सुपरिचित है। ग्रीक लेखकों ने भी उसका उल्लेख किया है। एक दिन दरद भाषा के बोलनेवाले भारत में दूर तक फैले हुए थे इसी से आज भी लहँदा, सिंधी, पंजाबी और सुदूर कोंकणी मराठी पर भी उसका प्रभाव लक्षित होता है। इस दरद भाषा को ही कई विद्वान्[१] पिशाच अथवा पैशाची भाषा कहना अच्छा समझते हैं। पिशाची के भेद ये हैं;—

(१) देखो—भारत-भूमि और उसके निवासी, पृ० २२४।
(२) ग्रियर्सन इनमें मुख्य हैं।

- खोवारवर्ग (———> गल्चा) { चित्राली, चत्रारी इत्यादि }
- कफ़ावर्ग
- दरदवर्ग
  - शीना
    - गिलगिटी
    - ब्रोक-पा (हाइलैंड)
  - काश्मीरी
    - कश्मीरी भाषा
    - कष्टवारी
    - खिचड़ी बोली (कश्मीरी और पंजाबी)
  - कोहिस्तानी
    - मैया
    - गार्वी
    - तोरवाली
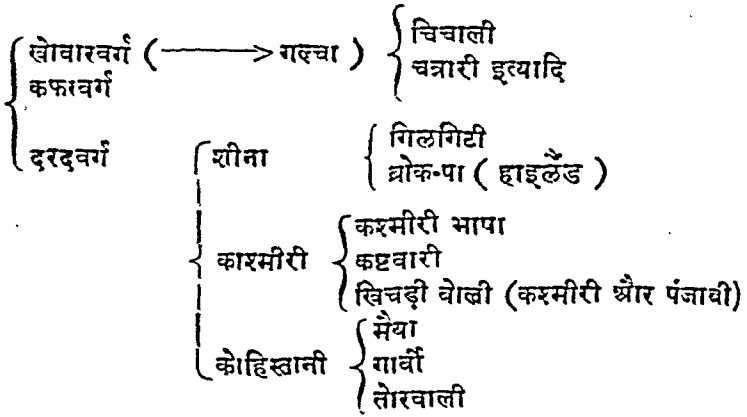
खोवारी वर्ग ईरानी और दरद के बीच की कड़ी है। काफिर बोलियाँ चित्राल के पश्चिम में पहाड़ों में बोली जाती हैं। शीना गिलगिट की घाटी में बोली जाती है। यही मूल दरदस्थान माना जाता है अतः शीना दरद की आधुनिक प्रतिनिधि है। काश्मीरी ही ऐसी दरद भाषा है जिसमें अच्छा साहित्य है।

जिप्सी बोलियाँ

भारत में कहीं नहीं बोली जातीं। खोज की गई है कि कोई ईसा की पाँचवीं शताब्दी में ये हब्सी भारत से बाहर चले गये थे।

आधुनिक भारतीय देशभाषाएँ

इनका विकास-क्रम आगे के प्रकरण में आवेगा पर इनका साधारण परिचय यहीं दे दिया जाता है।

भारतवर्ष की आधुनिक आर्य[1] भाषाएँ उसी भारोपीय परिवार की हैं जिसकी चर्चा हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। इनके

(१) इनके लिए आधुनिक विद्वान् Indo-Aryan Vernacular, New Indo-Aryan, Gaudian आदि अनेक नामों का व्यवहार करते हैं और हिंदी में भी इसी प्रकार 'हिंदी-आर्य देशभाषाएँ', 'आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ' आदि का प्रयोग होता है। केवल देशभाषा कहने से आर्य और अनार्य (द्रविड़) सभी का बोध होता है, अतः कुछ लोग गौड़ शब्द का व्यवहार करते हैं, पर Indo-Aryan भारतीय आर्य अथवा हिंदी आर्य कहने से भारोपीय वंश की ओर भी संकेत किया जाता है, अतः यही नाम उत्तम समझा जाता है।

विकास और इतिहास का वर्णन आगे के प्रकरण में आवेगा। यहाँ केवल उनका वर्गीकरण और संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

अपने भाषा सर्वे में ग्रियर्सन ने भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण तथा व्याकरण का विचार[1] करके इन भारतीय आर्य भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है—(१) अंतरंग, (२) बहिरंग और (३) मध्यवर्त्ती।

वर्गीकरण

वह वर्गीकरण वृक्ष द्वारा इस प्रकार दिखाया जाता है—

	१६२१ में बोलनेवालों की संख्या
क. बहिरंग उपशाखा	
(१) पश्चिमोत्तरी वर्ग	करोड़ लाख
१—लहँदा	०—५७
२—सिंधी	०—३४
(२) दक्षिणी वर्ग	
३—मराठी	१—८८
(३) पूर्वी वर्ग	
४—आसामी	०—१७
५—बंगाली	४—६३
६—उड़िया	१—०
७—बिहारी	३—४३
ख. मध्यवर्त्ती उपशाखा	
(४) मध्यवर्त्ती वर्ग	
८—पूर्वी हिंदी	२—२६
ग. अंतरंग उपशाखा	
(५) केंद्र वर्ग	
६—पश्चिमी हिंदी	४—१२

(१) देखो—Introduction: Grierson's L. Survey, pp. 117-20.

	करोड़ लाख
१०–पंजाबी	१—६२
११–गुजराती	०—९६
१२–भीली	०—१९
१३–खानदेशी	०—२
१४–राजस्थानी	१—२७
(६) पहाड़ी वर्ग	
१५–पूर्वी पहाड़ी अथवा नैपाली	०—३
१६–केंद्रवर्त्ती पहाड़ी[1]	...
१७–पश्चिमी पहाड़ी	०—१७

इस प्रकार १७ भाषाओं के ६ वर्ग और ३ उपशाखाएँ मानी जा सकती हैं, पर कुछ लोगों को यह अंतरंग और बहिरंग का भेद ठीक नहीं प्रतीत होता। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने लिखा है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व की भाषाएँ एक साथ नहीं रखी जा सकतीं। उन्होंने इसके लिए अच्छे प्रमाण भी दिये हैं[2] और भाषाओं का वर्गीकरण नीचे लिखे ढंग से किया है।

(क) उदीच्य (उत्तरी) वर्ग

१—सिंधी

२—लहँदा

३—पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग

४—गुजराती

५—राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय (बिचला) वर्ग

(१) १९२१ की मनुष्य-गणना में केंद्रवर्ती पहाड़ी के बोलनेवाले हिंदी-भाषियों में गिन लिये गये हैं अतः केवल २८५३ मनुष्य इसको बोलनेवाले माने जाते हैं अर्थात् लाख में उनकी गणना नहीं हो सकती।

(२) देखो—S. K. Chatterji: Origin & Development of Bengali Language; § 29-31 and 76-79.

६—पश्चिमी हिंदी

(घ) प्राच्य (पूर्वी) वर्ग

७—पूर्वी हिंदी

८—बिहारी

९—उड़िया

१०—बँगला

११—आसामी

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) वर्ग

१२—मराठी

सूचना—पहाड़ी बोलियों को डा० चैटर्जी ने भी राजस्थानी का रूपांतर माना है पर उनको निश्चित रूप से किसी भी वर्ग में रख सकना सहज नहीं है। उनका एक अलग वर्ग मानना ही ठीक हो सकता है।

इस प्रकार हम ग्रियर्सन और चैटर्जी के नाम से दो पक्षों[1] का उल्लेख कर रहे हैं—एक अंतरंग और बहिरंग के भेद को ठीक माननेवाला और दूसरा उसका विरोधी। पर साधारण विद्यार्थी के लिए चैटर्जी का वर्गीकरण स्वाभाविक और सरल ज्ञात होता है; क्योंकि प्राचीन काल से आज तक मध्यदेश की ही भाषा सर्व-प्रधान राष्ट्रभाषा होती आई है, अतः उसे अर्थात् 'पश्चिमी हिंदी' (अथवा केवल 'हिंदी') को केंद्र मानकर उसके चारों ओर के चार भाषा-वर्गों की परीक्षा करना सुविधाजनक होता है। इसी से स्वयं ग्रियर्सन ने अपने अन्य[2] लेखों में सर्वप्रथम 'हिंदी' को मध्यदेशीय वर्ग मानकर वर्णन किया है और दूसरे वर्ग में उन

(१) इन दोनों पक्षों का विवेचन आगे इसी ग्रंथ में होगा। "हिंदी भाषा और साहित्य" में भी इसका संक्षिप्त वर्णन मिलेगा।

(२) cf. Indian Antiquary : Supplement of February, 1931, p. 7, and Bulletin of the School of Oriental Studies, London, 1918.

भाषाओं को रखा है जो इस मध्यदेशीय भाषा (हिंदी) और वहिरंग भाषाओं के बीच में अर्थात् सीमांत पर पड़ती हैं। इस प्रकार उन्होंने नीचे लिखे तीन भाग किये हैं—

क. मध्यदेशीय भाषा

१—हिंदी (हिं०)

ख. अंतर्वर्ती अथवा मध्यग भाषाएँ

(अ) मध्यदेशी भाषा से विशेष घनिष्ठतावाली

२—पंजाबी (पं०)

३—राजस्थानी (रा०)

४—गुजराती (गु०)

५—पूर्वी पहाड़ी, खसकुरा, अथवा नैपाली (पू० प०)

६—केंद्रस्थ पहाड़ी (कें० प०)

७—पश्चिमी पहाड़ी (प० प०)

(आ) वहिरंग भाषाओं से अधिक संवद्ध

८—पूर्वी हिंदी (पू० हिं०)

ग. वहिरंग भाषाएँ—

(अ) पश्चिमोत्तर वर्ग

९—लहँदा (ल०)

१०—सिंधी (सिं०)

(आ) दक्षिणी वर्ग

११—मराठी (म०)

(इ) पूर्वी वर्ग

१२—विहारी (वि०)

१३—उड़िया (उ०)

१४—वंगाली (वं०)

१५—आसामी (आ०)

सूचना—भीली गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भूत हो जाती है।

हम ग्रियर्सन के इस अंतिम वर्गीकरण को मानकर ही आधुनिक देशभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देंगे।

हिंदी

भारतवर्ष के सिंधु, सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिंदु, हिंद और हिंदी माने जा सकते हैं, पर हमारी भाषा में आज ये भिन्न भिन्न शब्द माने जाते हैं। सिंधु एक नदी को, सिंध एक देश को और सिंधी उस देश के निवासी को कहते हैं, तथा फारसी से आये हुए हिंदु, हिंद और हिंदी सर्वथा भिन्न अर्थ में आते हैं। हिंदू से एक जाति, एक धर्म अथवा उस जाति या धर्म के माननेवाले व्यक्ति का बोध होता है। हिंद से पूरे देश भारतवर्ष का अर्थ लिया जाता है और हिंदी एक भाषा का वाचक होता है।

हिंदी शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदवी या हिंदी शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ 'हिंद का' होता है, अतः यह फारसी ग्रंथों में हिंद देश के वासी और हिंद देश की भाषा दोनों अर्थों में आता था और आज भी आ सकता है। पंजाब का रहनेवाला दिहाती आज भी अपने को भारतवासी न कहकर हिंदी ही कहता है, पर हमें आज हिंदी के भाषा-संबंधी अर्थ से ही विशेष प्रयोजन है। शब्दार्थ की दृष्टि से इस अर्थ में भी हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है, किंतु व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिका, शिक्षा-दीक्षा, बोलचाल आदि की भाषा हिंदी है। इस अर्थ में विहारी (भोजपुरी, मगही और मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी,

मेवाती आदि), पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी), पहाड़ी आदि सभी हिंदी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं। उसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ११ करोड़ है। यह हिंदी का प्रचलित अर्थ है। भाषा-शास्त्रीय अर्थ इससे कुछ भिन्न और संकुचित होता है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस विशाल भूमिभाग अथवा हिंदी खंड में तीन चार भाषाएँ मानी जाती हैं। राजस्थान की राजस्थानी, बिहार तथा बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बिहारी, उत्तर में पहाड़ों की पहाड़ी और अवध तथा छत्तीसगढ़ की पूर्वी हिंदी आदि पृथक् भाषाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार हिंदी केवल उस खंड की भाषा को कह सकते हैं जिसे प्राचीन काल में मध्य देश अथवा अंतर्वेद कहते थे। अतः यदि आगरा को हिंदी का केंद्र मानें तो उत्तर में हिमालय की तराई तक और दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक, पूर्व में कानपुर तक और पश्चिम में दिल्ली के भी आगे तक हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। इसके पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी बोली जाती हैं और पूर्व में पूर्वी हिंदी। कुछ लोग हिंदी के दो भेद मानते हैं—पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी। पर आधुनिक विद्वान् पश्चिमी हिंदी[1] को ही हिंदी कहना शास्त्रीय समझते हैं। अतः भाषा-वैज्ञानिक विवेचन में पूर्वी हिंदी भी 'हिंदी' से पृथक् भाषा मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिंदी अर्धमागधी की।

'हिंदी' का शास्त्रीय अर्थ

इसी से ग्रियर्सन, चैटर्जी आदि ने हिंदी शब्द का पश्चिमी हिंदी के ही अर्थ में व्यवहार किया है और व्रज, कन्नौजी, बुंदेली, बाँगरू और खड़ी बोली (हिंदुस्तानी) को ही हिंदी की विभाषा माना है—अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि को नहीं। अभी हिंदी लेखकों के अतिरिक्त

(१) पश्चिमी हिंदी के बोलनेवालों की संख्या केवल ४ करोड़ १२ लाख है।

अँगरेजी लेखक भी 'हिंदी' शब्द का मनचाहा अर्थ किया करते हैं इससे भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को हिंदी शब्द के (१) मूल शब्दार्थ, (२) प्रचलित और साहित्यिक अर्थ, तथा (३) शास्त्रीय अर्थ को भली भाँति समझ लेना चाहिए। तीनों अर्थ ठीक हैं पर भाषा-विज्ञान में वैज्ञानिक खोज से सिद्ध और शास्त्र-प्रयुक्त अर्थ ही लेना चाहिए।

हिंदी (पश्चिमी हिंदी अथवा केंद्रीय हिंदी-आर्य भाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं—खड़ी बोली[1], व्रजभाषा, कन्नौजी, बाँगरू और बुंदेली। आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है—साहित्य और व्यवहार सब में उसी का बोलबाला है, इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है। प्रायः लोग व्रजभाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिए आधुनिक साहित्यिक हिंदी को 'खड़ी बोली' कहते हैं। यह इसका सामान्य अर्थ है, पर इसका मूल अर्थ लें तो खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला तथा कलसिया और

खड़ी बोली

(१) यह एक विचित्र बात है कि जहाँ अन्य भाषाएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण उस उस प्रदेश के नाम से अभिहित होती हैं, जैसे अवधी, व्रज, बुंदेली, वहाँ खड़ी बोली का नाम सबसे भिन्न देख पड़ता है। इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर, जहाँ इसका मुख्यतया प्रचार है या उद्भव हुआ है, नहीं है। हिंदी-साहित्य में यह नाम पहले पहल लल्लूजी लाल के लेख में मिलता है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब इसे रेखता का नाम दिया। रेखता का अर्थ गिरता या पड़ता है। क्या इसी गिरी या पड़ी हुई भाषा के नाम का विरोध सूचित करने के लिए इसका नाम खड़ी बोली रखा गया ? कुछ लोगों का कहना है कि यह 'खड़ी' शब्द 'खरी' (टकसाली) का बिगड़ा रूप है। जो हो, इस नामकरण का कोई प्रामाणिक कारण अब तक नहीं ज्ञात हुआ है। क्या इसका नाम अंतर्वेदी रखना अनुपयुक्त होता ? पर अब खड़ी बोली नाम चल पड़ा है और उसे बदलने की चेष्टा व्यर्थ है।

पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें यद्यपि फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है पर वे शब्द तद्भव अथवा अर्धतत्सम होते हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ५३ लाख है। इसकी उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। उस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव देख पड़ता है।

यह खड़ी बोली ही आजकल की हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी तीनों का मूलाधार है। जैसा हम कह चुके हैं, खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है पर जब वह साहित्यिक रूप धारण करती है तब कभी वह 'हिंदी' कही जाती है और कभी 'उर्दू'। जिस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का विशेष व्यवहार होता है वह हिंदी (अथवा योरोपीय विद्वानों की उच्च हिंदी) कही जाती है। इसी हिंदी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है। पढ़े-लिखे हिंदू इसी का व्यवहार करते हैं। यही खड़ी बोली का साहित्यिक रूप हिंदी के नाम से राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठाया जा रहा है।

उच्च हिंदी

जब वही खड़ी बोली फारसी-अरबी के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों को इतना अपना लेती है कि कभी कभी उसकी वाक्य-रचना पर भी कुछ विदेशी रंग चढ़ जाता है तब उसे उर्दू कहते हैं। यही उर्दू भारत के मुसलमानों की साहित्यिक भाषा है। इस उर्दू के भी दो रूप देखे जाते हैं। एक दिल्ली लखनऊ आदि की तत्सम-बहुला कठिन उर्दू और दूसरी हैदराबाद की सरल दक्खिनी उर्दू (अथवा हिंदुस्तानी)। इस प्रकार भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि में हिंदी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप मात्र हैं। एक का ढाँचा भारतीय परंपरागत प्राप्त है और दूसरी को फारसी का आधार बनाकर विकसित किया जा रहा है।

उर्दू

खड़ी बोली का एक रूप और होता है जिसे न तो शुद्ध साहित्यिक ही कह सकते हैं और न ठेठ बोलचाल की बोली ही कह सकते हैं। वह है हिंदुस्तानी--विशाल हिंदी प्रांत के लोगों की परिमार्जित बोली।

हिंदुस्तानी

इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है पर नित्य व्यवहार के शब्द देशी-विदेशी सभी काम में आते हैं। संस्कृत, फारसी, अरबी के अतिरिक्त अँगरेजी ने भी हिंदुस्तानी में स्थान पा लिया है। इसी से एक विद्वान् ने लिखा है कि "पुरानी हिंदी, उर्दू और अँगरेजी के मिश्रण से जो एक नई जबान आपसे आप बन गई है वह हिंदुस्तानी के नाम से मशहूर है।" यह उद्धरण भी हिंदुस्तानी का अच्छा नमूना है। यह भाषा अभी तक बोलचाल की बोली ही है। इसमें कोई साहित्य नहीं है। किस्से, गजल, भजन आदि की भाषा को, यदि चाहें तो, हिंदुस्तानी का ही एक रूप कह सकते हैं। आजकल कुछ लोग हिंदुस्तानी को साहित्य की भाषा बनाने का यत्न कर रहे हैं पर वर्तमान अवस्था में वह राष्ट्रीय बोली[1] ही कही जा सकती है। उसकी उत्पत्ति का कारण भी परस्पर विनिमय की इच्छा ही है। जिस प्रकार उर्दू के रूप में खड़ी बोली ने मुसलमानों की माँग पूरी की है उसी प्रकार अँगरेजी शासन और शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हिंदुस्तानी चेष्टा कर रही है। वास्तव में 'हिंदुस्तानी' नाम के जन्मदाता अँगरेज आफिसर हैं। वे जिस साधारण बोली में

(१) इसी से ग्रियर्सन ने हिंदुस्तानी को Hindustani Vernacular और lingua franca कहा है। देखो—I. Antiquary, April, 1931 (p. 9 of the Supplement) हिंदुस्तानी का साहित्य के आसन पर विराजने की चेष्टा करना हिंदी और उर्दू दोनों के लिए अनिष्टकर सिद्ध हो सकता है। इसके प्रचार और विकास तथा साहित्योपयोगी होने से हिंदी उर्दू दोनों अपने प्राचीन गौरव और परंपरा से पृथक् हो जायँगी और दोनों अपभ्रष्ट होकर एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करेंगी, जो भारतीय भाषाओं के इतिहास की परंपरा में उथलपुथल कर देगी।

साधारण लोगों से—साधारण पढ़े और बेपढ़े दोनों ढंग के लोगों से—बातचीत और व्यवहार करते थे उसे हिंदुस्तानी कहने लगे। जब हिंदी और उर्दू साहित्य-सेवा में विशेष रूप से लग गई तब जो बोली जनता में बच रही है उसे हिंदुस्तानी कहा जाने लगा है। यदि हम चाहें तो हिंदुस्तानी को चाहे हिंदी का, चाहे उर्दू का बोलचाल का रूप कह सकते हैं। अतः हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी तीनों ही खड़ी बोली के रूपांतर मात्र हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रों में खड़ी बोली का अधिक प्रयोग एक प्रांतीय बोली के अर्थ में ही होता है।

(२) बाँगरू—हिंदी की दूसरी विभाषा बाँगरू बोली है। यह बाँगर अर्थात् पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग की बोली है। देहली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और झींद आदि की ग्रामीण बोली यही बाँगरू है। यह पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी है। बाँगरू बोलनेवालों की संख्या बाईस लाख है। बाँगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदान इसी बोली की सीमा के अंदर पड़ते हैं।

(३) व्रजभाषा—व्रजमंडल में व्रजभाषा बोली जाती है। इसका विशुद्ध रूप आज भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोला जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ७९ लाख है। व्रज-भाषा में हिंदी का इतना बड़ा और सुंदर साहित्य लिखा गया है कि उसे बोली अथवा विभाषा न कहकर भाषा का नाम मिल गया था, पर आज तो वह हिंदी की एक विभाषा मात्र कही जा सकती है। आज भी अनेक कवि पुरानी अमर व्रजभाषा में काव्य लिखते हैं।

(४) कन्नौजी—गंगा के मध्य दोआब की बोली कन्नौजी है। इसमें भी अच्छा साहित्य मिलता है पर वह भी व्रजभाषा का ही साहित्य माना जाता है, क्योंकि साहित्यिक कन्नौजी और व्रज में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

(५) बुंदेली—यह बुंदेलखंड की भाषा है और व्रजभाषा के क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाये जाते हैं। बुंदेली के बोलनेवाले लगभग ६९ लाख हैं। मध्यकाल में बुंदेलखंड में अच्छे कवि हुए हैं पर उनकी भाषा व्रज ही रही है। उनकी व्रजभाषा पर कभी कभी बुंदेली की अच्छी छाप देख पड़ती है।

मध्यवर्ती भाषाएँ

'मध्यवर्ती' कहने का यही अभिप्राय है कि ये भाषाएँ मध्यदेशी भाषा और बहिरंग भाषाओं के बीच की कड़ी हैं अतः उनमें दोनों के लक्षण मिलते हैं। मध्यदेश के पश्चिम की भाषाओं में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर उसके पूर्व की 'पूर्वी हिंदी' में बहिरंग वर्ग के इतने अधिक लक्षण मिलते हैं कि उसे बहिरंग वर्ग की ही भाषा कहा जा सकता है।

जैसा पीछे तीसरे ढंग के वर्गीकरण में स्पष्ट हो गया है, ये मध्यवर्ती भाषाएँ सात हैं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केंद्रीय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिंदी। ये सातों भाषाएँ हिंदी को—मध्यदेश की भाषा को—घेरे हुए हैं। साहित्यिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ये सब हिंदी की विभाषाएँ (अथवा उपभाषाएँ) मानी जा सकती हैं पर भाषाशास्त्र की दृष्टि से ये स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। इनमें से पहली छः में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर पूर्वी हिंदी में बहिरंग लक्षण ही प्रधान हैं।

पंजाबी

पूरे पंजाब प्रांत की भाषा को 'पंजाबी' कह सकते हैं, इसी से कई लेखक पश्चिमी पंजाबी और पूर्वी पंजाबी के दो भेद करते हैं पर भाषाशास्त्री प्रायः पूर्वी पंजाबी को पंजाबी कहते हैं अतः हम भी पंजाबी का इसी अर्थ में व्यवहार करेंगे। पश्चिमी पंजाबी को लहँदा कहते हैं। अमृत-

सर के आसपास की भाषा शुद्ध पंजाबी मानी जाती है। यद्यपि स्थानीय बोलियों में भेद मिलता है पर सच्ची विभाषा डोग्री ही है। जंबू रियासत और कांगड़ा जिले में डोग्री बोली जाती है। इसकी लिपि तक्करी अथवा टकरी है। टक्क जाति से इसका संबंध जोड़ा जाता है। पंजाबी में थोड़ा साहित्य भी है। पंजाबी ही एक ऐसी मध्यदेश से संबद्ध भाषा है जिसमें संस्कृत और फारसी शब्दों की भरती नहीं है। इस भाषा में वैदिक-संस्कृत-सुलभ रस और सुंदर पुरुषत्व देख पड़ता है। इस भाषा में इसके बोलनेवाले बलिष्ठ और कठोर किसानों की कठोरता और सादगी मिलती है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि पंजाबी ही एक ऐसी आधुनिक हिंदी—आर्य भाषा है जिसमें वैदिक अथवा तिब्बत-चीनी भाषा के समान स्वर पाये जाते हैं[1]।

पंजाबी के दक्षिण में राजस्थानी है। जिस प्रकार हिंदी का उत्तर-पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है, उसी प्रकार हिंदी का दक्षिण-पश्चिमी विस्तार राजस्थानी है। इसी विस्तार का अंतिम भाग गुजराती है।

राजस्थानी और गुजराती

राजस्थानी और गुजराती वास्तव में इतनी परस्पर संबद्ध हैं कि दोनों को एक ही भाषा की दो विभाषाएँ मानना भी अनुचित न होगा[2]। पर आजकल ये दो स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। दोनों में स्वतंत्र साहित्य की भी रचना हो रही है। राजस्थानी की मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी आदि अनेक विभाषाएँ हैं, पर गुजराती में कोई निश्चित विभाषाएँ नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण की गुजराती की बोली में थोड़ा स्थानीय भेद पाया जाता है।

मारवाड़ी और जयपुरी से मिलती जुलती पहाड़ी भाषाएँ हिंदी के उत्तर में मिलती हैं। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है

(१) देखो—Indian Antiquary. April, 1931. Grierson. Supplement. p. 12.

(२) Ibid.

इसी से वह नेपाली भी कही जाती है। इसे ही परबतिया अथवा खसकुरा भी कहते हैं। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है।

पहाड़ी

इसका साहित्य सर्वथा आधुनिक है। केंद्र-वर्ती पहाड़ी गढ़वाल रियासत तथा कुमाऊँ और गढ़वाल जिलों में बोली जाती है। इसमें दो विभाषाएँ हैं—कुमाउनी और गढ़वाली। इस भाषा में भी कुछ पुस्तकें, थोड़े दिन हुए, लिखी गई हैं। यह भी नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। पश्चिमी पहाड़ी बहुत सी पहाड़ी बोलियों के समूह का नाम है। उसकी कोई प्रधान विभाषा नहीं है और न उसमें कोई उल्लेखनीय साहित्य ही है। कुछ ग्राम-गीत भर मिलते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। संयुक्त प्रांत के जौनसार—बावर से लेकर पंजाब प्रांत में सिर-मौर रियासत, शिमला पहाड़ी, कुड़्, मंडी, चंबा होते हुए पश्चिम में कश्मीर की भदरवार जागीर तक पश्चिमी पहाड़ी बोलियाँ फैली हुई हैं। इसमें जौनसारी, कुड़्ली, चंबाली आदि अनेक विभाषाएँ हैं। ये टकरी अथवा तक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

इसे हिंदी का पूर्वी विस्तार कह सकते हैं पर इस भाषा में इतने बहिरंग भाषाओं के लक्षण मिलते हैं कि इसे अर्ध-बिहारी[1] भी

पूर्वी हिंदी

कहा जा सकता है। यही एक ऐसी मध्यवर्ती भाषा है जिसमें बहिरंग भाषाओं के अधिक लक्षण मिलते हैं। यह हिंदी और बिहारी के मध्य की भाषा है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी को ही कोशली या बैसवाड़ी भी कहते हैं। वास्तव में दक्षिण-पश्चिमी अवधी ही बैसवाड़ी कही जाती है। पूर्वी हिंदी नागरी के अतिरिक्त कैथी में भी कभी कभी लिखी मिलती है। इस

(१) अर्धमागधी का ही अनुवाद अर्ध-बिहारी है। पूर्वी हिन्दी प्राचीन काल की अर्धमागधी प्राकृत के क्षेत्र में ही बोली भी जाती है। ध्यान देने की बात है कि साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से अर्धमागधी भाषा का सदा से ऊँचा स्थान रहा है पर राष्ट्रीय दृष्टि से मध्यदेश की भाषा ही राज्य करती रही है।

भाषा के कवि हिंदी-साहित्य के अमर कवि हैं जैसे तुलसी और जायसी।

इनका सबसे बड़ा भेदक यह है कि मध्यदेश की भाषा अर्थात् हिंदी की अपेक्षा ये सब अधिक संहिति-प्रधान हैं। हिंदी की रचना सर्वथा व्यवहित है पर इन बहिरंग भाषाओं में संहित रचना भी मिलती है। वे व्यवहिति से संहिति की ओर जा रही हैं। मध्यवर्ती भाषाओं में केवल पूर्वी हिंदी कुछ संहित पाई जाती है।

बहिरंग भाषाएँ

यह पश्चिम पंजाब की भाषा है, इसी से कुछ लोग इसे पश्चिमी पंजाबी भी कहा करते हैं। यह जटकी, अच्छी, हिंदकी[1], डिलाही आदि नामों से भी पुकारी जाती है। कुछ विद्वान् इसे लहँदी[2] भी कहते हैं पर लहँदा तो संज्ञा है अतः उसका स्त्रीलिंग नहीं हो सकता। लहँदा एक नया नाम ही चल पड़ा है; अब उसमें उस अर्थ के द्योतन की शक्ति आ गई है।

लहँदा

लहँदा की चार विभाषाएँ हैं—(१) एक केंद्रीय लहँदा जो नमक की पहाड़ी के दक्षिण प्रदेश में बोली जाती है और जो टकसाली मानी जाती है, (२) दूसरी दक्षिणी अथवा मुलतानी जो मुलतान के आस-पास बोली जाती है, (३) तीसरी उत्तर-पूर्वी अथवा पोठवारी और (४) चौथी उत्तर पश्चिमी अर्थात् धन्नी। यह उत्तर में हजारा जिले तक पाई जाती है। लहँदा में साधारण गीतों के अतिरिक्त कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लंडा है।

यह दूसरी बहिरंग भाषा है, और सिंध नदी के दोनों तटों पर बसे हुए सिंध देश की बोली है। इसमें पाँच विभाषाएँ हैं— विचोली, सिरैकी, लारी, थरेली और कच्छी। विचोली मध्य सिंध की टकसाली भाषा है।

सिंधी

(१) श्री जयचंद्रजी ने हिंदकी नाम ही अच्छा समझा है। देखो—भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० २११—२१ § ३०।

(२) श्री डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने लहँदी नाम का प्रयोग किया है।

सिंधी के उत्तर में लहँदा, दक्षिण में गुजराती और पूर्व में राजस्थानी है। सिंधी का भी साहित्य छोटा सा है। इसकी भी लिपि लंडा है पर गुरुमुखी और नागरी का भी प्राय: व्यवहार होता है।

कच्छी बोली के दक्षिण में गुजराती है। यद्यपि इसका क्षेत्र पहले बहिरंग भाषा का क्षेत्र रह चुका है पर गुजराती मध्यवर्ती भाषा है। अत: यहाँ बहिरंग भाषा की शृंखला टूट सी गई है। इसके बाद गुजराती के दक्षिण में मराठी आती है। यही दक्षिणी बहिरंग भाषा है। यह पश्चिमी घाट और अरब समुद्र के मध्य की भाषा है। पूना की भाषा ही टकसाली मानी जाती है। पर मराठी बरार में से होते हुए बस्तर तक बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। पूर्व में मराठी अपनी पड़ोसिन छत्तीसगढ़ी से मिलती है।

मराठी

मराठी की तीन विभाषाएँ हैं। पूना के आसपास की टकसाली बोली देशी मराठी कहलाती है। यही थोड़े भेद से उत्तर कोंकण में बोली जाती है, इससे इसे कोंकणी भी कहते हैं। पर कोंकणी एक दूसरी मराठी बोली का नाम है जो दक्षिणी कोंकण में बोली जाती है। पारिभाषिक अर्थ में दक्षिण कोंकणी ही कोंकणी मानी जाती है। मराठी की तीसरी विभाषा बरार की बरारी है। हल्बी मराठी और दविड़ की खिचड़ी बोली है जो बस्तर में बोली जाती है।

मराठी भाषा में तद्धितांत, नामधातु आदि शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से होता है। इसमें वैदिक स्वर के भी कुछ चिह्न मिलते हैं[1]।

पूर्व की ओर आने पर सबसे पहली बहिरंग भाषा बिहारी मिलती है। बिहारी केवल बिहार में ही नहीं, संयुक्त प्रांत के

(१) देखो—Turner : The Indo-Germanic Accent in Marathi ; J. R. A. S. 1916,203

पूर्वी भाग अर्थात् गोरखपुर-बनारस कमिश्नरियों से लेकर पूरे विहार प्रांत में तथा छोटा नागपुर में भी बोली जाती है। यह

बिहारी

पूर्वी हिंदी के समान हिंदी की चचेरी बहिन मानी जा सकती है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—(१) मैथिली, जो गंगा के उत्तर दरभंगा के आसपास बोली जाती है। (२) मगही, जिसके केंद्र पटना और गया हैं। (३) भोजपुरी, जो गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों से लेकर विहार प्रांत के आरा (शाहाबाद), चंपारन और सारन जिलों में बोली जाती है। यह भोजपुरी अपने वर्ग की ही मैथिली—मगही से इतनी भिन्न होती है कि चैटर्जी[1] भोजपुरी को एक पृथक् वर्ग में ही रखना उचित समझते हैं।

विहार में तीन लिपियाँ प्रचलित हैं। छपाई नागरी लिपि में होती है। साधारण व्यवहार में कैथी चलती है और कुछ मैथिलों में मैथिली लिपि चलती है।

ओड्री, उत्कली अथवा उड़िया उड़ीसा की भाषा है। इसमें कोई विभाषा नहीं है। इसकी एक खिचड़ी बोली है जिसे भत्री

उड़िया

कहते हैं। भत्री में उड़िया, मराठी और द्रविड़ तीनों आकर मिल गई हैं। उड़िया का साहित्य अच्छा बड़ा है।

बंगाल की भाषा बंगाली प्रसिद्ध साहित्य-संपन्न भाषाओं में से एक है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं। हुगली के आसपास की

बंगाली

पश्चिमी बोली टकसाली मानी जाती है। बँगला लिपि देवनागरी का ही एक रूपांतर है।

आसामी बहिरंग समुदाय की अंतिम भाषा है। यह आसाम की भाषा है। वहाँ के लोग उसे असामिया कहते हैं। आसामी

(१) देखो—Origin and Development of the Bengali Language. §. 52

में प्राचीन साहित्य भी अच्छा है। आसामी यद्यपि बँगला से बहुत कुछ मिलती है तो भी व्याकरण और उच्चारण में पर्याप्त भेद पाया जाता है। यह भी एक प्रकार की बँगला लिपि में ही लिखी जाती है। आसामी की कोई सच्ची विभाषा नहीं है।

आसामी[1]

पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की बुरुशास्की (अथवा खजुना) और अंदमान की अंदमानी किसी भी भाषा-परिवार में नहीं रखी जा सकतीं। बरमा देश की कारेन और मान बोलियाँ भी ऐसी ही हैं। पर ग्रियर्सन ने दोनों को दो परिवार मान लिया है—(१) कारेन-वंश और (२) मानवंश।

अनिश्चित परिवार की भाषाएँ

---
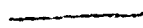
(१) इन भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक वर्णन आगे के प्रकरणों में आवेगा।

छठा प्रकरण

ध्वनि और ध्वनि-विकार

सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है, इसी से 'ध्वनि'[1] में वर्ण, शब्द और भाषा सभी का अंतर्भाव हो जाता है। ध्वनि का यह बड़ा व्यापक अर्थ है पर सामान्य विद्यार्थी वर्ण के लिए ध्वनि का व्यवहार करता है और यही अर्थ हिंदीभाषा-शास्त्रियों[2] द्वारा भी स्वीकृत हुआ है। इतना संकुचित अर्थ लेने पर भी 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार कई भिन्न भिन्न अर्थों में होता है। ध्वनि से ध्वनि मात्र, भाषण-ध्वनि और वर्ण अर्थात् ध्वनि-सामान्य तीनों का अर्थ लिया जाता है। वर्ण का सामान्य अर्थ वही है जो 'वर्णमाला' शब्द में वर्ण का अर्थ समझा जाता है। पर भाषण-ध्वनि और ध्वनि-मात्र का व्यवहार सर्वथा पारिभाषिक अर्थ में ही होता है।

भाषणावयवों[3] द्वारा उत्पन्न निश्चित श्रावण गुण (अर्थात् श्रावण प्रत्यक्ष) वाली ध्वनि भाषण-ध्वनि कही जाती है। एक

(१) ध्वनि के इस व्यापक अर्थ के लिए 'स्फोटवाद' देखना चाहिए। आधुनिक भाषाशास्त्री भी यह मानने लगे हैं कि व्यवहार में वाक्य एक ही अखंड ध्वनि है। इसके अतिरिक्त ध्वनि का जो साहित्यिक अर्थ रस-मीमांसा में होता है, उससे यहाँ कोई संबंध नहीं है।

(२) देखो—श्री नलिनीमोहन सान्याल (भाषा-विज्ञान, इंडियन प्रेस); श्री दुनीचंद (पंजाबी भाषा-विज्ञान); श्री धीरेंद्र वर्मा (हिंदी भाषा का इतिहास); श्री बाबूराम सक्सेना (हिंदुस्तानी पत्रिका); ना० प्र० पत्रिका के कई लेखक, इत्यादि।

(३) देखो—A speech-sound is "a sound of definite acoustic quality produced by the organs of speech. A given speech-sound is incapable of variation."—Introduction to the Bengali Phonetic Reader by S. K. Chatterji, p. 7.

सिद्ध भाषण-ध्वनि में कोई भेद अथवा अंतर नहीं हो सकता। किसी भी गुण के कारण यदि ध्वनि में किंचित् भी विकार उत्पन्न होता है तो वह विकृत ध्वनि एक दूसरी ही भाषण-ध्वनि कही जाती है। इससे परीक्षा द्वारा जो भाषण-ध्वनि का रूप और गुण निश्चित हो जाता है वह स्थिर और सिद्ध हो जाता है।

कई भाषाओं में इस प्रकार की भाषण-ध्वनि बहुत अधिक होती हैं पर उन सभी के लिये न तो पृथक् पृथक् लिपि-संकेत ही होते हैं और न उनका होना अत्यावश्यक ही समझा जाता है, क्योंकि कई ध्वनियाँ संबद्ध भाषण में विशेष स्थान में ही प्रयुक्त होती हैं और उनका वर्गीकरण ऐसी दूसरी ध्वनियों के साथ होता है जिनका उनसे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता। प्राय: ऐसी अनेक भाषण-ध्वनियों के लिये एक ध्वनि-संकेत का व्यवहार होता है। ऐसी सजातीय ध्वनियों के कुल को ध्वनि-मात्र अथवा ध्वनि-श्रेणी कहते हैं। यदि शास्त्रीय[1] विधि से कहें तो ध्वनि-मात्र किसी भाषा-विशेष की ऐसी संबंधी ध्वनियों के कुल को कहा जाता है, जिन ध्वनियों का स्थान एक संबद्ध भाषण में अन्य कोई ध्वनि नहीं ले सकती। इस प्रकार ध्वनि-मात्र एक जाति है, जिसमें अनेक भाषण-ध्वनियाँ होती हैं और प्रत्येक भाषण-ध्वनि की एक अलग सत्ता या व्यक्तित्व होता है। दोनों में प्रधान भेद यही है कि एक ध्वनि-मात्र कई स्थानों में सामान्य रूप से व्यवहृत होती है पर भाषण-ध्वनि में व्यक्ति-वैचित्र्य (individual uniqueness) रहता है, एक भाषण-ध्वनि के स्थान-विशेष में दूसरी भाषण-ध्वनि नहीं आ सकती। इसी से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहार और शिक्षा का संबंध

(१) देखो—A phoneme has been defined as "a family of related sounds of a given language which are so used in connected speech that no one of them ever occurs in positions which any other can occupy in that language."—Bengali Phonetic Reader (S. K. Chatterji). p. 8

उस सामान्य ध्वनि से रहता है जिसे ध्वनिमात्र (वर्ण[1]) कहते हैं और जिसके लिये लिखित संकेत भी रहता है। पर भाषण-ध्वनि शास्त्र और विज्ञान के ही काम में आती है, ध्वनि-यंत्रों द्वारा उसकी प्रत्येक लहर की परीक्षा होती है, उसके गुण का निश्चय होता है और उसका व्यक्तित्व स्वीकृत होता है। इस प्रकार भाषण-ध्वनियों का विशेष प्रयोजन प्रयोगात्मक और परीक्षात्मक ध्वनि-शिक्षा में ही होता है। तो भी ध्वनि के सामान्य शास्त्रीय अनुशीलन के लिए भी ध्वनि-मात्र और भाषण-ध्वनि का भेद स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

'जल्दी'[2] और 'माल्टा' शब्दों में एक ही 'ल्' ध्वनि प्रयुक्त हुई है, पर परीक्षा करके विशेषज्ञों ने निश्चय किया है कि पहला ल् दंत्य है और दूसरा ईषत् मूर्धन्य है, अर्थात् भाषण में (=बोलने में) दोनों शब्दों में ल् का उच्चारण एक सा नहीं होता। अतः ध्वनि मात्र तो एक ही है पर भाषण-ध्वनियाँ दो हैं। इसी 'ल्' का महाप्राण उच्चारण भी होता है जैसे 'कल् ही' में 'ल्' पहले दोनों ल् के समान अल्पप्राण नहीं है, प्रत्युत स्पष्ट महाप्राण है। वही ल् 'तिलक' शब्द में सर्वथा मूर्धन्य है। यद्यपि हिंदी अथवा उर्दू में 'ल्' मूर्धन्य नहीं होता; वह दंतमूल अथवा वर्त्स से उच्चरित होता है, पर मराठी 'तिलक' शब्द के आ जाने पर उसका वैसा ही मराठीवाला मूर्धन्य उच्चारण किया जाता है। ये सब एक ल् ध्वनिमात्र की भिन्न भिन्न भाषण-ध्वनियाँ हैं। एक दूसरा 'अ' का उदाहरण लें तो अ वर्ण के दो भेद माने जाते हैं एक संवृत अ और दूसरा विवृत अ। ये दो ध्वनिमात्र हैं, पर एक संवृत 'अ' की भी वक्ता के **भाषणावयवों** में भेद होने से तथा

(१) वर्ण लौकिक संज्ञा है और ध्वनि-मात्र सर्वथा अलौकिक और शास्त्रीय।

(२) देखो—बँगला के अल्ता (=अलक्तक=महावर) और उल्टा में भी एक ही ल् ध्वनि-मात्र है पर दो भिन्न भिन्न भाषण-ध्वनियाँ हैं।

भिन्न भिन्न स्थलों में प्रयुक्त होने से अनेक भाषण-ध्वनियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि साधारण श्रोता का कान इन सूक्ष्म भेदों का भेद नहीं कर पाता तथापि वैज्ञानिक परीक्षा उन सब ध्वनियों को भिन्न मानती है पर व्यवहार में ध्वनिमात्र ही स्पष्ट रहती है, अतः संवृत अ के लिए केवल एक चिह्न रख लिया जाता है। अँगरेजी का एक उदाहरण लें तो कील और काल (keel and call) में एक ही क-ध्वनिमात्र (K-phoneme) है, पर भाषण-ध्वनि दो भिन्न भिन्न हैं। कील में जो क् ध्वनि है, वह ई के पूर्व में आई है; वहाँ काल-वाली क्-ध्वनि कभी नहीं आ सकती। इसी प्रकार किंग और क्वीन (king और queen) में वही एक क् ध्वनि-मात्र है। पर पहले में क् तालव्य सा है और दूसरे में शुद्ध कंठ्य। और स्पष्ट करने के लिए हम बँगला[1] की न और ह ध्वनि-मात्रों को लेंगे। बँगला की एक न-ध्वनि मात्र के प्रयोगानुसार भाषण में चार भेद हो जाते हैं—इस एक परिवार में चार व्यक्ति हैं। पहला 'न' वर्त्स्य माना जाता है पर त और द के पूर्व में वही न् सर्वथा दंत्य हो जाता है, ट और ड के पूर्व में ईषत् मूर्धन्य हो जाता है और च तथा ज के पूर्व में ईषत् तालव्य। इन सब भेदों में भी एक एकता है और उसे ही ध्वनिमात्र कहते हैं और उसी सामान्य ध्वनि के लिए एक संकेत भी बना लिया गया है। भिन्न भिन्न स्थलों में न् की परवर्ती ध्वनियों से ही न् का सूक्ष्म भेद प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार फ और भ में एक ही ह ध्वनि का मिश्रण सुन पड़ता है पर वास्तव में फ में श्वास और अघोष ह् है और भ में नाद और घोष[2] ह है।

(१) देखो—Bengali Phonetic Reader by S. K. Chatterji और अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।

(२) इन संज्ञाओं की परिभाषा आगे आवेगी। कुछ लोग घोष का विशेषण जैसा व्यवहार करना अनुचित समझकर ऐसे स्थलों पर 'सघोष' अथवा 'घोषवत्' लिखते हैं पर कुछ संस्कृतज्ञों का मत है कि नाद, घोष, ऊष्म, स्पर्श आदि संज्ञाओं का प्रयोग ही संस्कृत भाषा

इस प्रकार ध्वनि मात्र और भाषण-ध्वनि में जाति और व्यक्ति का अथवा कुटुंब और कुटुंबी का संबंध मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि ध्वनि-मात्र का अर्थ ध्वनि-कुल, ध्वनि-श्रेणी[1] अथवा ध्वनि-जाति से अधिक स्पष्ट हो सकता है तब क्यों न वैसा ही कोई शब्द स्वीकार किया जाय। वास्तव में 'ध्वनि-मात्र' संज्ञा उस प्रकरण में प्रयुक्त होती है जहाँ भाषा के उच्चारण, रचना और अर्थ अर्थात् ध्वनि, रूप और अर्थ-शक्ति—इन तीन पक्षों अथवा अंगों का विश्लेषण और विवेचन किया जाता है। एक पक्ष कहता है भाषा ध्वनिमय है। दूसरा पक्ष कहता है रूप ही भाषा है। भाषा का प्रयोजन है भावों और विचारों का व्यवहार-विनिमय। यह तभी संभव होता है जब श्रोता (अथवा वक्ता स्वयं श्रोता के स्वरूप में) भाषा की रूप-रचना समझता है। भाषा के अंगों में—उसके शब्दों में जो अर्थ प्रकाशन की शक्ति रहती है वह तभी समझ में आती है जब उन शब्दों की रचना हमारे सम्मुख आ जाती है। तीसरा पक्ष मन पर जोर देता है। मनोविज्ञान कहता है भाषा जिस अर्थ का संकेत है वही अर्थ प्रधान है। पहले पक्ष का विवेचन शरीर-शास्त्र करता है, दूसरे का विचार लोक-शास्त्र करता है और तीसरे का विचार मनोविज्ञान। अतः इन्हीं के संबंधी शिक्षा, व्याकरण और साहित्य भी क्रमशः शब्द, शब्द-रूप और शब्द-शक्ति को अपना विषय बनाते हैं, पर भाषा-विज्ञान तीनों पक्षों को लेता है। अतः जब वह शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से भाषा का विचार करता है वह उसे ध्वनिमात्र कहता है, जब वह लौकिक[2]

की शक्ति और प्रवृत्ति के अनुरूप है, उसमें 'स' अथवा 'वत्' लगाकर सघोष अथवा घोषवत् बनाना कृत्रिम और असुंदर है। अतः हम घोष वर्ण, स्पर्श वर्ण आदि शब्दों का प्रयोग करेंगे। ऐसा ही प्रयोग पतंजलि मुनि जैसे भाषा के मर्मज्ञ करते थे।

(१) देखो—श्री धीरेंद्र वर्मा का हिंदी भाषा का इतिहास।

(२) शिक्षा और साहित्य दोनों शास्त्र हैं पर व्याकरण सर्वथा लौकिक विद्या है। जब इसमें ध्वनि और अर्थ का विचार होने लगता है तब व्या-

व्याकरण की दृष्टि से भाषा की बनावट की परीक्षा करता है वह भाषा को रूप-मात्र[1] समझता है और जब वह साहित्यिक और दार्शनिक की दृष्टि से भाषा की आत्मा का—उसकी शक्ति का—अध्ययन करता है वह उसे अर्थ-मात्र समझता है। रूप-रचना वाक्य और शब्द तक ही सीमित रहती है; अर्थ भी सामान्य व्यवहार[2] में शब्द से ही संबंध रखता है; केवल ध्वनि ही भाषा के चरम अवयव वर्ण से प्रत्यक्ष संबद्ध रहती है, अतः रूप-मात्र और अर्थ-मात्र का प्रयोग शब्दों के विचार में ही होता है पर ध्वनि-मात्र का व्यवहार शब्दों के अतिरिक्त वर्णों के विषय में भी होता है। यही प्रकरणांतर की संज्ञा यहाँ रखी जाती है। विचार कर देखा जाय तो ध्वनि-मात्र में रूप और अर्थ का बहिर्भाव और ध्वनि-जाति का अंतर्भाव दोनों होता है।

अतः हम ध्वनि और वर्ण का पर्याय के समान और भाषण-ध्वनि और ध्वनि-मात्र का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग करेंगे।

भाषा की ध्वनियों का अध्ययन इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है और आजकल उसका इतना विस्तार हो गया है कि उसके दो

करण को विद्या नहीं शास्त्र कहते हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि व्याकरण-विद्या का प्रयोजन लौकिक प्रयोग देखकर रूप-रचना की व्यवस्था करना है, इसी से उसे लौकिक विशेषण मिला है।

(१) रूप का यहाँ वही अर्थ है जो शब्द-रूप, धातु-रूप, रूपावतार आदि प्रयोगों में मिलता है। 'नाम' और 'रूप' में रूप का सर्वथा भिन्न अर्थ होता है (रूप = अर्थ, पदार्थ)।

(२) शास्त्र में तो वर्ण-स्फोट भी माना जाता है अर्थात् वर्ण भी सार्थक होता है। भारतीय व्याकरण-दर्शन के अनुसार तो सच्चा अर्थ 'अव्यक्त शब्द' अर्थात् 'स्फोट' में रहता है और फिर वर्णों में व्यक्त ध्वनि सामने आती है। इन व्यक्त ध्वनियों का रूप शब्दों और पदों में देख पड़ता है पर अंत में एक पूरे वाक्य में ही लोकोपयोगी सच्चे अर्थ की कल्पना होती है अर्थात् लोक-व्यवहार की दृष्टि से केवल वाक्य सार्थक होता है (वर्ण अथवा शब्द नहीं) इसी से तो वाक्य-स्फोट ही प्रधान माना जाता है। देखो—वैयाकरण-भूषण अथवा मंजूषा।

विभाग कर दिये गये हैं—एक ध्वनि-शिक्षा[1] और दूसरा ध्वनि-विचार[2] अथवा ध्वन्यालोचन। भाषण-ध्वनि का संपूर्ण विज्ञान ध्वनि-विचार में आता है। उसमें ध्वनि के विकारों और परिवर्तनों का इतिहास तथा सिद्धांत दोनों ही आ जाते हैं पर ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण, उनकी परीक्षा और शिक्षा, 'ध्वनि-शिक्षा' का विषय[3] होती है। ध्वनि की उत्पत्ति, उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि का सीखना-सिखाना इस ध्वनि-शिक्षा अथवा वर्ण-शिक्षा के अंतर्गत आता है। इसी से आजकल उसे परीक्षा-मूलक ध्वनि-शिक्षा[4] कहते हैं। इसकी परीक्षा-पद्धति इतनी बढ़ गई है कि बिना कीमोग्राफ (Kymograph) आदि यंत्रों और समीचीन प्रयोगशाला के 'शिक्षा' का अध्ययन संभव ही नहीं। उसकी परीक्षा-प्रधानता को देखकर ही अनेक विद्वान् उसे ही विज्ञान मानते हैं और कहते हैं कि ध्वनि-विचार तो उसका आश्रित विवेचन मात्र है। हिंदी के कई विद्वान् उस शिक्षा-शास्त्र के लिए 'ध्वनि-विज्ञान[5]', 'वर्ण-विज्ञान'[6] आदि नामों का व्यवहार करते हैं। पर अध्ययन की वर्तमान स्थिति में वर्ण-विचार अथवा ध्वनि-विचार को ही विज्ञान कहना उचित देख पड़ता है। विज्ञान लक्ष्यों की परीक्षा

(१) Phonetics.

(२) Phonology.

(३) cf. History of Language by H. Sweet, p. 12—The whole Science of speech-sounds is included under phonology, which includes the history and theory of sound-changes ; the term 'phonetics' excludes this, being concerned mainly with the analysis and classification of the actual sound. भारतवर्ष में भी 'शिक्षा' का विषय क्या था इसके लिए शिक्षा और व्याकरण के ग्रंथ देखना चाहिए।

(४) Experimental Phonetics.

(५) देखो—धीरेंद्र वर्मा का हिंदी भाषा का इतिहास।

(६) देखो—डा० मंगलदेव का तु० भाषा-शास्त्र।

और लक्षणों का विधान दोनों काम करता है और यदि परीक्षा और सिद्धांत दोनों का पृथक् अध्ययन किया जाय तो सिद्धांत के विचार को ही विज्ञान कहना अधिक उपयुक्त होगा। और यदि केवल वैज्ञानिक प्रक्रिया को देखकर विज्ञान नाम दें तो दोनों ही बातें ध्वनि-विज्ञान के अंतर्गत आ जाती हैं। आजकल ध्वनि-विज्ञान की सीमा बढ़ भी रही है इसी से हम ध्वनि-शिक्षा और ध्वनि-विचार का यहाँ प्रयोग करेंगे और ध्वनि-विज्ञान को दोनों के लिए एक सामान्य संज्ञा मान लेंगे।

ध्वनि-विज्ञान और लिपि

वर्ण का सच्चा स्वभाव उच्चरित ध्वनि है, लिपि नहीं; तथापि शास्त्रीय व्यवहार के लिए लिखित संकेतों का होना आवश्यक होता है; ध्वनियों का सम्यक् विचार करने के लिए एक व्यवस्थित लिपि अवश्य चाहिए। यद्यपि प्रत्येक सभ्य भाषा में एक परंपराप्राप्त लिपि रहती है तथापि भाषा-विज्ञानी को ध्वन्यनुरूप संकेतों की आवश्यकता होती है, इसी से भाषा-विज्ञान में परंपरा-लिपि के स्थान में वैज्ञानिक लिपि का व्यवहार होता है। वैज्ञानिक लिपि में जैसा उच्चारण होता है वैसा ही लिखा जाता है और इस कसौटी पर हमारी नागरी लिपि भी खरी उतरती है—इस दृष्टि से यह विश्व की सर्वश्रेष्ठ लिपि है; पर भाषा-विज्ञान में एक बात और आवश्यक होती है कि अन्य भाषाओं और देशों में पाई जानेवाली ध्वनियों के लिए भी संकेत रहें क्योंकि उनकी परस्पर तुलना की जाती है। इस अभाव की पूर्ति करने के लिए हमें वैज्ञानिक नागरी लिपि में भी कुछ परिवर्तन और परिवर्धन की आवश्यकता पड़ती है। अभी तक साधारणतया भाषा-विज्ञानियों में अंतर्राष्ट्रीय (International Phonetic Association) ध्वनि-परिषत् की लिपि प्रयुक्त होती है। हमने भी भारोपीय भाषा के शब्दों को उसी विश्व-लिपि में लिखा है। शीघ्र ही वह दिन आ रहा है जब हमारी वैज्ञानिक नागरी का इतना अधिक प्रचार होगा

कि उसी के व्यवहार में सुविधा होगी। अभी जब तक ग्रीक, अवेस्ता आदि का समुचित विचार करके हमारे यहाँ ऐसी विश्व-लिपि परिगृहीत नहीं हुई है हमें कभी कभी ग्रीक और अवेस्ता आदि की विशेष लिपियों का भी प्रयोग करना पड़ता है। सच पूछा जाय तो ध्वन्यनुरूप लिपि को छोड़कर अन्य किसी लिपि में किसी दूसरी भाषा की ध्वनि को लिखना सर्वथा अवैज्ञानिक होता है।

ध्वनि-विज्ञान का मूल-भूत अंग ध्वनि-शिक्षा है। उसमें वैज्ञानिक दृष्टि से वाणी का अध्ययन किया जाता है—वर्णों की उत्पत्ति कैसे होती है, वर्ण का सच्चा स्वरूप क्या है, भाषण-ध्वनि, ध्वनि-मात्र, अन्य अवांतर श्रुति आदि क्या हैं? ऐसे ही अनेक प्रश्नों का परीक्षा द्वारा विचार किया जाता है। अतः इन रहस्यों का भेदन ही—इस सूक्ष्म ज्ञान की प्राप्ति ही—उसका सबसे बड़ा प्रयोजन होता है।

ध्वनि-विज्ञान के प्रयोजन

इस अलौकिक पुण्य और आनंद के अतिरिक्त ध्वनि-शिक्षा व्यवहार में भी बड़ी लाभकर होती है। किसी भाषा का शुद्ध उच्चारण सिखाने के लिए वर्णों की वैज्ञानिक व्याख्या करना आवश्यक होता है। विशेषकर किसी विदेशी को उच्चारण सिखाने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। प्राचीन भारत में वर्ण-शिक्षा की उन्नति के कारण ही वेदों की भाषा का रूप आज भी इतना अक्षुण्ण पाया जाता है। वैदिक भाषा के सीखने में सबको अपनी प्रांतीयता छोड़कर ध्वनि-शिक्षा से ही काम लेना पड़ता था।

अभी कुछ ही दिन पहले लोग दूसरी भाषाओं का उच्चारण शिक्षक का अनुकरण करके ही सीखते थे पर अब शिक्षक वर्णों का उच्चारण करके बतलाने के अतिरिक्त यह भी सिखा सकता है कि किन अवयवों और स्थानों से तथा किस ढंग का प्रयत्न करने से कौन वर्ण उच्चरित होना चाहिए। फोनेटिक रीडर (ध्वनि-पाठावलियाँ) ऐसे कार्यों के लिए ही बनती हैं। उनके द्वारा व्यवहार

में उच्चारण भी सीखा जाता है और उस वर्ण-शिक्षा के आधार पर भाषा की ध्वनियों का विचार भी किया जाता है।

इस वर्ण-शिक्षा और ध्वनि-विचार का भाषा-विज्ञान से संबंध स्पष्ट ही है। तुलना और इतिहास भाषा-विज्ञान के आधार हैं। इन दोनों ढंगों की प्रक्रिया के लिए ध्वनि-शिक्षा आवश्यक है। हम वर्णों के विकारों और परिवर्तनों की तुलना करते हैं, उन्हीं का इतिहास खोजते हैं पर उनका कारण ढूँढ़ने के लिए उनके उच्चारण की शिक्षा अनिवार्य है। बिना उच्चारण जाने हम उनका कोई भी शास्त्रीय विचार नहीं कर सकते[1]। भाषा के वैज्ञानिक[2] विवेचन के लिए तो यह परमावश्यक हो जाता है कि हम ध्वनियों के संपूर्ण जगत् से परिचित रहें, क्योंकि कभी कभी एक ध्वनि का विशेष अध्ययन करने में भी उन सब ध्वनियों को जानना आवश्यक हो जाता है जिनसे उसका विकास हुआ है अथवा जिन ध्वनियों का स्थान ले सकना उसके लिए संभव है। अतः विकार और विकास के अध्ययन के लिए सामान्य ध्वनि-समूह का और किसी भाषा-विशेष के ध्वनि-समूह का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

अभी पीछे हम देख चुके हैं कि हम किसी भाषा की ध्वनियों का दो ढंगों से अध्ययन कर सकते हैं—एक तो प्रयोग द्वारा उस भाषा की वर्तमान ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण करके और दूसरे उन ध्वनियों का इतिहास और सिद्धांत-प्रतिपादन करके। पहले ढंग से ध्वनियों का अध्ययन अर्थात् सीखना-सिखाना ही ध्वनि-शिक्षा है। यह ध्वनि-शिक्षा जीवित भाषा को ही अपना विषय बनाती है, क्योंकि परीक्षा और प्रयोग जीवित भाषा में ही संभव हैं। संस्कृत की जो वर्ण-शिक्षा प्रसिद्ध है वह एक समय में बोली जानेवाली संस्कृत-

ध्वनि-शिक्षा

(१) इन प्रयोजनों का थोड़ा विस्तृत वर्णन डा० मंगलदेव के भाषा-विज्ञान (पृ० २१०–१६) में दिया हुआ है।

(२) Cf. Sweet's History of Language P. 13.

भाषा से संबंध रखती थी, पर आज वर्ण-शिक्षा के ग्रंथ केवल इति-हास और सिद्धांत की सामग्री उपस्थित करते हैं। अँगरेजी, हिंदी, उर्दू, बँगला, पंजाबी आदि की प्रत्यक्ष ध्वनि-शिक्षा भी हो सकती है। अँगरेजी ध्वनियों का आजकल डेनियल जोंस ने बड़ा अच्छा अध्ययन किया है। बंगाली की उस बोली का, जो कलकत्ते में बोली जाती है और जिसका वर्तमान साहित्य में प्रयोग होता है, डा० सु० चैटर्जी ने वैज्ञानिक अनुशीलन किया है; इसी प्रकार पंजाबी और दक्खिनी उर्दू ध्वनियों का डा० बेली और डा० कादरी ने आधुनिक विधि से अच्छा विवेचन किया है पर अभी तक किसी ने न तो हिंदी की राष्ट्रीय बोली—खड़ी बोली—की ही ध्वनि-परीक्षा की है और न उससे संबद्ध उत्तरी हिंदुस्तानी की ध्वनियों का ही किसी ने प्रयोगात्मक अध्ययन किया है। खड़ी बोली और उत्तरी हिंदुस्तानी की ध्वनियाँ अधिकांश में एक सी हैं, अतः एक के विवे-चन से दूसरी को सहायता मिल सकती थी। पर वर्तमान स्थिति में खड़ी बोली की ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण हमें अपने निज के पर्यवेक्षण और युक्तियुक्त अनुमान के आधार पर ही करना होगा[1]।

ध्वनि-शिक्षा के दो प्रधान अंग हैं—पहला ध्वनियों की उत्पत्ति के स्थान और करण[2] का अध्ययन, और दूसरा उन प्रयत्नों की परीक्षा जो उच्चारण में अपेक्षित होते हैं। इस प्रकार स्थान और

(१) बेली, कादरी, चैटर्जी आदि ने अपनी अपनी भाषाओं की ध्वनियों का अध्ययन किया है। हमारी हिंदी इनकी सजातीय भाषा है अतः हम तुलना द्वारा बहुत कुछ अनुमान भी कर सकते हैं।

(२) करण—उच्चारण की प्रधान इंद्रिय जिह्वा को कहते हैं (देखो—साधकतमं करणम्); इसी से आभ्यंतर प्रयत्न को भी करण कहते हैं। अनेक लोग तो उच्चारण-स्थान और करण का पर्याय के समान व्यवहार करते हैं। करण के अंतर्गत स्थान आ सकते हैं पर जिह्वा को, जो उच्चारण का प्रधान साधन है, उच्चारण-स्थान नहीं कह सकते।

प्रयत्न का अध्ययन कर लेने पर ही ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण संभव होता है।

ध्वनि-शिक्षा के विद्यार्थी को सबसे पहले उन शरीरावयवों को जान लेना आवश्यक है जिनसे वाणी अर्थात् शब्द की उत्पत्ति होती है। साधारणतः बोल-चाल में जिन अंगों अथवा अवयवों का उपयोग होता है उनमें से मुख्य ये हैं—

(संकेत)

फु० १—फुफ्फुस[1] अथवा फेफड़े
का० २—काकल
अ० ३—अभिकाकल
तं० ४—स्वरतंत्री अथवा ध्वनितंत्री
कं० पि० ५—कंठपिटक
अन्न० ६—अन्न-मार्ग अथवा अन्न-प्रणाली
श्वा० ७—श्वास-मार्ग अथवा श्वास-प्रणाली
ग० बि० ८—कंठ-मार्ग, कंठ-बिल अथवा गल-बिल
घ० ९—घंटी अथवा कौआ
कं० १०—कंठस्थान अथवा कंठ अर्थात् कोमल तालु
2 { मू० ११—मूर्धा —
ता० १२—तालु —
1 व० १३—वर्त्स[2] Teeth ridge दन्तमूलम्

3 Velum or Soft Palate स्निग्धतालु।

(१) इन में के अधिकांश नाम प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुए हैं, पर इस ग्रंथ में उनका जो अर्थ लिया गया है उसे ध्यान से स्मरण रखना चाहिए, क्योंकि भिन्न भिन्न टीकाकारों ने एक ही नाम की भिन्न भिन्न व्याख्याएँ की हैं। यथासंभव हमने पाणिनि, पतंजलि आदि के शास्त्रीय अर्थ की रक्षा करने का यत्न किया है।

(२) वैदिक वाङ्मय में वर्स्व और वर्स्व्य शब्दों का ही प्रयोग पाया जाता है। केवल ऋक्प्रातिशाख्य के कुछ संस्करणों में वर्त्स और वर्त्स्य पाठ भी मिलते हैं पर ये दोनों (अशुद्ध ?) शब्द इतने प्रचलित हो गये हैं कि वे भी शुद्ध ही समझे जाते हैं।
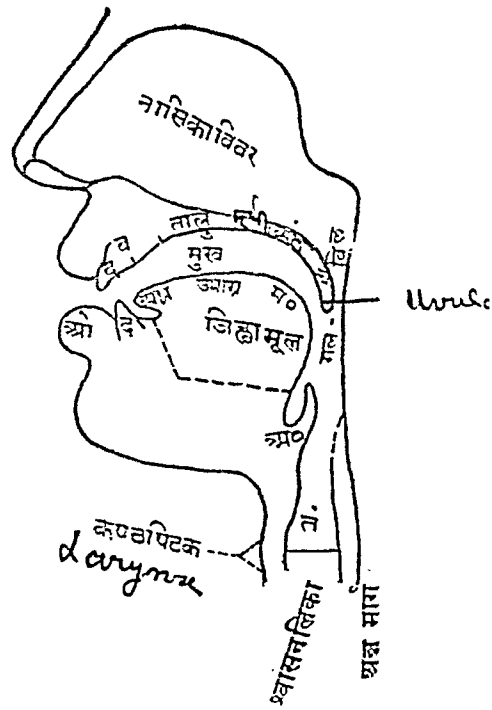
इन अंगों के रूप और व्यापार का ज्ञान न होने से प्राय: शिक्षा का महत्त्वपूर्ण और सरल विषय भी व्यर्थ और जटिल सा प्रतीत होने लगता है अत: हमें संक्षेप में इनसे परिचय अवश्य कर लेना चाहिए।

प्राण-वायु के दो प्रधान काम हैं—श्वास तथा प्रश्वास। शब्द की उत्पत्ति प्रश्वास[1] से ही होती है अर्थात् जब वायु फेफड़ों से चलकर श्वास-नलिका द्वारा कंठपिटक में आती है अथवा और

(१) शब्द का उच्चारण श्वास अथवा प्रश्वास किसी से भी हो सकता है पर अभ्यास यही पाया जाता है कि प्रश्वास ही शब्दोच्चारण का कारण होती है। भीतर को श्वास खींचते समय केवल 'सी-सी' जैसी ध्वनि होती है। अँगरेजी में कभी कभी no का उच्चारण साँस खींचते हुए किया जाता है; अन्यथा सदा बाहर को निकलनेवाली प्रश्वास ही ध्वनि का उपादान बनती है।

थोड़ा बाहर निकलने लगती है तब स्वर-तंत्रियों के व्यापार से शब्द की उत्पत्ति होती है। साधारण भाषा में भी हम कहते हैं कि कंठ अथवा गले से ध्वनि अथवा बोली निकलती है। यह कंठ का बड़ा लौकिक और व्यापक अर्थ है। ग्रीवा शब्द से प्राय: बाहरी अंग का बोध होता है और कंठ से भीतरी अंग का। पर संस्कृत शिक्षा-शास्त्र में कंठ[1] से स्थान-विशेष का बोध किया जाता है जो जिह्वामध्य के ऊपर का छप्पर कहा जा सकता है। अत: हम गले के पूरे अवयव के लिए 'गला' शब्द का ही व्यवहार करेंगे।

हमारी शिक्षा-शास्त्रीय-दृष्टि से गले का वह भाग सबसे अधिक प्रधान है जिसका उभार[2] पुरुषों के गले में हमें बाहर से भी देख पड़ता है। यह एक संदूक अथवा पिटारी के समान है। इसी के द्वारा श्वास-नलिका मुख से संबद्ध रहती है। वायु इसी पिटक अथवा पिटारी में आकर ध्वनि अथवा स्वर का रूप धारण करती है। इसी से गले के इस अस्थिमय भाग को कंठ-पिटक, स्वर-यंत्र अथवा ध्वनि-यंत्र कहते हैं। यह कंठ-पिटक एक अंडाकार संदूक जैसा होता है। इसके इस पार से उस पार तक दो स्वर-तंत्रियाँ फैली रहती हैं। इनकी आड़ी स्थिति का अनुमान चित्र (पृ० २२०) से हो सकता है। ये दो तंत्रियाँ रबर की भाँति स्थितिस्थापक अर्थात् खिंचकर सिकुड़ जानेवाली होती हैं। ये श्वासमार्ग को इस प्रकार घेरे रहती हैं कि साधारण अवस्था में श्वासप्रश्वास में कोई बाधा नहीं पड़ती। इनके प्रधान कार्य ये हैं—

(१) कभी कभी ये दोनों स्वर-तंत्रियाँ एक दूसरी से इतनी मिल जाती हैं कि श्वास का आना-जाना ही रुक जाता है।

(१) कंठ = Velum और गला = throat। इन शब्दों के लिए देखो परिशिष्ट में शब्द-सूची।

(२) इसे ही कंठ फूटना कहते हैं। बच्चों और स्त्रियों के गले में यह उभार नहीं होता, इसी से उनका स्वर अधिक कोमल होता है।

(२) साधारण साँस लेने में ये भली भाँति खुली रहती हैं।

(३) कभी ये इतनी कम खुलती हैं कि इनके बीच में से प्राण-वायु निकल तो जाती है, पर उस कारण ये तंत्रियाँ स्वयं वीणा के तार के समान झनझना उठती हैं। इस कंपन का टेंटुए पर हाथ रखकर अनुभव किया जा सकता है।

(४) ये तंत्रियाँ कभी कड़ी हो जाती हैं और कभी ढीली। इसी से कभी स्वर ऊँचा होता है और कभी नीचा।

(५) और कभी कभी इन दोनों के बीच में से श्वास इस प्रकार निकल जाती है कि केवल फुसफुसाहट होती है—कंपन नहीं होता। इस समय जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे 'जपित' अथवा 'फुसफुस' ध्वनि कहते हैं। Whisper

कंठ-पिटक में अवस्थित इन दोनों स्वर-तंत्रियों के बीच के अवकाश को काकल[1] कहते हैं। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर-तंत्रियों का संकोच-विस्तार ही काकल का संकोच-विस्तार होता है। इसी से काकल सब ध्वनियों की प्रकृति[2] माना

(१) काकल से कई विद्वान् कंठ के उस उद्वत (अर्थात् उभरे हुए) भाग को समझते हैं जो किशोरावस्था बीतने पर स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में विशेष रूप से देख पड़ता है। इसे ही घंटी अथवा कंठ फूटना कहते हैं पर शास्त्रीय प्रसंगों से सिद्ध होता है कि काकल गले के उस आभ्यंतर प्रदेश को कहते हैं जिसके आगे आस्य अथवा मुख की सीमा प्रारंभ हो जाती है 'ओष्ठात् प्रभृति प्राक्काकलकात् आस्यम्' और काकली, स्वर का भी यही अर्थ होता है कि गला दबाकर मंद और मीठा स्वर गाना अथवा बोलना। देखो—'काकली-स्वरेण गीयते' (नागानंद आदि नाटकों में)।

(२) प्रकृति का अर्थ है प्रयत्न की प्रकृति (जन्मस्थान)। किसी भी ध्वनि का जन्म काकल में ही होता है, वहीं प्राण-वायु के सबल, निर्बल, कठोर, कोमल, अघोष, सघोष आदि होने का तथा उसके प्रयत्न का परिमाण ज्ञात हो जाता है। उसके आगे चलने पर केवल दो अंग और रह जाते हैं, कंठ-बिल और मुख-बिल। कंठ-बिल के संकोच-विस्तार से भी प्रयत्न का कुछ ज्ञान होता है पर जब ध्वनि मुख-बिल में आकर जिह्वा और कंठ, तालु, दंत आदि स्थानों के बीच में पड़कर स्पष्ट उच्चरित होती है तब उसके स्थान और प्रयत्न

जाता है। काकल के ऊपर गला होता है जिसे गलविल अथवा कंठ-विल कहते हैं। मुख-विवर में से भोजन इसी गल-बिल में जाता है और वहाँ से अन्न-मार्ग द्वारा आमाशय में पहुँचता है। इस गल-विल अथवा गले से लेकर कंठ-पिटक तक का श्वास-मार्ग शब्दोत्पत्ति के समय खुला रहता है, पर भोज्य पदार्थ निगलने के समय यह श्वासमार्ग एक पर्दे अथवा आवरण से बंद हो जाता है। इस आवरण को अभिकाकल कहते हैं। इस प्रकार गल-विल के अधःभाग का संयोग कभी काकल (अथवा कंठ-पिटक) से होता है और कभी अन्न-मार्ग से। इसी से कभी कभी यदि हम भरे मुँह से साँस लेते हैं तो एकाध टुकड़ा कुमार्ग में अर्थात् (काकलवाले) श्वास-मार्ग में जा पहुँचता है और हम खाँसने लगते हैं। इसे ही गला सरकना कहते हैं।

इस गल-विल अथवा कंठ-बिल के आकार-प्रकार का नियंत्रण (१) जिह्वा के निचले और पिछले भाग, (२) तथा कंठ[1] (स्थान)

का पूर्ण ज्ञान होता है। इसी से मुख-बिल में पड़नेवाले स्थान और उनसे संबद्ध जिह्वा के प्रयत्न ही वर्ण-प्रक्रिया और ध्वनि-विवेचन में प्रधान माने जाते हैं। पाणिनि के 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' में प्रयत्न का आभ्यंतर प्रयत्न अर्थ लेने का यही रहस्य है। वे दो वर्ण सवर्ण (जाति से एक) माने जाते हैं जिनका स्थान और आभ्यंतर प्रयत्न एक ही हो, जैसे इ और ई अथवा अ और ह। दोनों सवर्ण हैं, दोनों का जन्म एक ही कंठ-स्थान से हुआ, और दोनों को जन्म देनेवाला एक ही विवृत-प्रयत्न भी है। पर अ और ह के संबंध में थोड़ा और विचार करना पड़ता है। इन दोनों का वर्ण जन्म से एक होते हुए भी (दोनों में सावर्ण्य का लक्षण घटने पर भी) दोनों के स्वभाव में कुछ अंतर है—'अ' स्वर है और 'ह' व्यंजन। अतः व्याकरण में सवर्ण वे माने जाते हैं जो समान प्रयत्न और स्थान के होने पर एक ही वर्ग के हों, अर्थात् स्वर स्वर सवर्ण हो सकते हैं और व्यंजन व्यंजन सवर्ण हो सकते हैं। देखो—नाभ्झलौ। १। १। २

(१) जैसा पहले लिखा जा चुका है, 'कंठ' शब्द के संस्कृत और हिंदी में कई अर्थ होते हैं। इसी से अंतःकंठ और बहिःकंठ शब्दों का प्रयोग क्रम से भीतर के गले और बाहर की घंटी के लिए होता है। गले अथवा गल-विल को कंठ कहना प्रसिद्ध ही है। पर यहाँ (शिक्षा-शास्त्र में) कंठ से कोमल तालु (Soft palate) का अर्थ लिया जाता है।

अर्थात् मुख के ऊपरवाले छप्पर के पिछले कोमल भाग से होता है। इस प्रकार जिह्वा और कंठ इन दोनों अंगों के कारण कंठ-बिल में जो नाना प्रकार के परिणाम अथवा विकार होते हैं वे ही नाना प्रकार के स्वरों को जन्म देते हैं। अब इस कंठ-बिल से निकलकर श्वास या तो नासिका-विवर में जाती है अथवा मुख-विवर में। जब कंठ की घंटी अर्थात् कौआ नासिका-विवर को बंद कर देता है तब ध्वनि मुख-विवर में से होकर आती है और वह अननुनासिक अथवा शुद्ध ध्वनि कहलाती है; पर जब नासिका और मुख दोनों के मार्ग खुले रहते हैं तब सानुनासिक ध्वनि उत्पन्न होती है।

अब मुख-विवर में आकर ही ध्वनि प्रायः अपना स्वरूप धारण करती है। अतः मुख-विवर के भीतर के अंगों और अवयवों का जानना परमावश्यक है। मुख के ऊपर की छत कंठ-बिल से लेकर ओष्ठ तक फैली रहती है। यदि ओष्ठ से चलें तो पहले दाँत मिलते हैं। इन दाँतों के मूल से थोड़ा पीछे बढ़ने पर जो खुरदरा और उठा हुआ भाग है वह वर्त्स[1] अथवा तालवग्र कहा जाता है, इसके पीछे तालुमध्य आता है। इसे ही संस्कृतज्ञ तालु कहते हैं। तालु-मध्य के पीछे का भाग तालुपृष्ठ अथवा मूर्धा[2] कहलाता है। इसके भी पीछे जो कोमल भाग आता है उसे संस्कृत-शिक्षाकार कंठ[3] कहते हैं। और इसके नीचे लटकनेवाली पूँछ को कौआ (काक[4]), घंटी (कंठी[5]), शुंडिका, अलिजिह्वा अथवा ललरी कहते हैं। इनमें से पहले तीन भागों को अर्थात् वर्त्व (वर्त्स),

(१) देखो—ऋक्प्राति०—पृ० ४०—वर्त्सशब्देन दंतमूलादुपरिष्टादुच्छ्नः प्रदेश उच्यते।

(२) यद्यपि अब मूर्धा उच्चारण स्थान नहीं माना जाता तथापि व्यवहार की रक्षा करने के लिए हम मूर्धा से तालुपृष्ठ का अर्थ लेंगे।

(३) अकुहविसर्जनीयानां कंठः में यही अर्थ है; पर 'विवृण्वते कंठम्' में कंठबिल का अर्थ है।

(४) 'काक' और 'काकल' शब्द विचारणीय हैं।

(५) कंठ से ही बिगड़कर घंट और घंटी शब्द बने हैं।

तालु और मूर्धा को आधुनिक शिक्षा-शास्त्री कठोर तालु और कंठ को कोमल तालु कहते हैं। इसी कंठ अथवा कोमल तालु का अंतिम भाग नासिका-विवर को उच्चारण-काल में अवरुद्ध अथवा विवृत करता है।

इस तालु रूपी छप्पर के नीचे भूमि के समान जिह्वा रहती है। उसके भी उसी क्रम से पाँच भेद किये जाते हैं—जिह्वानीक,[1] जिह्वाग्र, जिह्वोपाग्र, जिह्वामध्य और जिह्वामूल[2]। काक अथवा घंटी जहाँ लटका करती है वहाँ से पीछे का भाग जिह्वामूल माना जाता है और घंटी तथा कंठ (कोमल तालु) के सामने का जिह्वा का भाग जिह्वामध्य कहा जाता है। यही पिछला भाग जिह्वापृष्ठ अथवा पश्चजिह्वा भी कहलाता है। उसके आगे का भाग अर्थात् तालु और मूर्धा के सामनेवाला भाग जिह्वोपाग्र अथवा पूर्वजिह्वा कहा जाता है। जिह्वा का शेष अगला भाग जिह्वाग्र अथवा जिह्वा-फलक कहलाता है। इस जिह्वाग्र का अग्रतम भाग (अर्थात् जीभ की नोक) जिह्वानीक कहलाता है।

मुख-विवर के ऊपर नीचे के इन उच्चारणोपयोगी अवयवों से ही वास्तव में ध्वनि उत्पन्न होती है अतः मुख को प्रधान वाग्यंत्र कहना चाहिए। काकल और कंठ-बिल में ध्वनि की प्रारंभिक अवस्था रहती है अतः उनका संबंध बाह्य माना जाता है और नासिका-विवर तो मुख का ही एक अंग माना जा सकता है। इस

(१) जिह्वानीक को हिंदी में जिह्वानोक भी कह सकते हैं।

(२) देखो—महाभाष्य ६—जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि। जिह्वा का यह प्राचीन शिक्षाशास्त्रीय विश्लेषण सर्वथा आधुनिक प्रतीत होता है। देखो Daniel Jones : Pronunciation of English P. 3. इन अवयवों के नामों को भली भाँति समझ लेना चाहिए, क्योंकि अनेक लेखकों ने अनेक अर्थ किये हैं। कई लेखकों ने front of the tongue को जिह्वापृष्ठ अथवा जिह्वाग्र से अनूदित किया है पर साधारण पाठक अग्र और पृष्ठ से जिह्वा के अगले और पिछले भागों का ही अर्थ लेता है और front of the tongue न तो अगला भाग है न पिछला और न वह ठीक मध्य में ही है अतः उसे उपाग्र कहना ही उचित है। पश्च से संबंध दिखाने के लिए इसी भाग को पूर्वजिह्वा भी कह सकते हैं।

प्रकार अधिक से अधिक ये चार प्रधान अंग गिनाये जा सकते हैं—काकल, कंठ-बिल, मुख और नासिका। इन्हीं चार अवयवों के द्वारा वागिंद्रिय अपना वाणी-व्यापार करती है।

कंठ-पिटक में स्थित स्वर-तंत्रियाँ दो होठों के समान होती हैं। उनके बीच के अवकाश को काकल (अथवा ग्लॉटिस) कहते हैं।

श्वास और नाद

ये स्वर-तंत्रियाँ रबर की भाँति स्थिति-स्थापक होती हैं इसी से कभी वे एक दूसरी से अलग रहती हैं और कभी इतनी मिल जाती हैं कि हवा का निकलना असंभव हो जाता है। जब वे तंत्रियाँ परस्पर मिली रहती हैं और हवा धक्का देकर उनके बीच में से बाहर निकलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह 'नाद' कही जाती है। जब तंत्रियाँ एक दूसरी से दूर रहती हैं और हवा उनके बीच में से निकलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह 'श्वास' कहलाती है। काकल की इन दोनों से भिन्न कई अवस्थाएँ होती हैं जिनमें फुसफुसाहट वाली ध्वनि उत्पन्न होती है। इन्हें 'जपित', 'जाप' अथवा 'उपांशु ध्वनि' कहते हैं।

व्यवहार में आनेवाली प्रत्येक भाषण-ध्वनि 'श्वास' अथवा 'नाद' होती है। श्वासवाली ध्वनि 'श्वास' और नादवाली ध्वनि 'नाद' कहलाती है। पर जब कभी हम किसी के कान में कुछ कहते हैं तब नाद-ध्वनियाँ 'जपित' हो जाती हैं और 'श्वास' ज्यों की त्यों रहती हैं। जपित ध्वनियों का व्यवहार में अधिक प्रयोग न होने से यहाँ उनका विशेष विवेचन आवश्यक नहीं है। प, क, स आदि ध्वनियाँ 'श्वास'[1] हैं। ब, ग, ज आदि इन्हीं की समकक्ष नाद-ध्वनियाँ हैं। स्वर तो सभी नाद होते हैं। 'ह' भी हिंदी

(१) श्वासयुक्त, सश्वास, श्वासवाली, श्वासानुप्रदान आदि कहने की अपेक्षा केवल 'श्वास' अधिक सुंदर और शास्त्रीय माना जाता है। इसी प्रकार नादानुप्रदान, नादयुक्त आदि के स्थान में 'नाद' का ही व्यवहार किया जाना चाहिए। सघोष अथवा घोषयुक्त के स्थान में 'घोष' ही प्रयुक्त होना चाहिए प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में ऐसा ही होता रहा है।

और संस्कृत में नाद होता है पर अँगरेजी[1] h शुद्ध श्वास है। यही 'ह' जब ख, छ, ठ आदि श्वास-वर्णों में पाया जाता है तब वह हिंदी में भी श्वासमय माना जाता है।

आजकल के कई विद्वान् श्वास-वर्णों को कठोर[2] और नाद-वर्णों को कोमल कहते हैं, क्योंकि नाद-वर्णों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियों के बंद रहने से एक प्रकार का कंपन होता है और ध्वनि गंभीर तथा कोमल सुन पड़ता है।

काकल में स्वर-तंत्रियों की स्थिति के अनुसार ध्वनियों का श्वास और नाद में भेद किया जाता है और वे ध्वनियाँ मुख से किस प्रकार बाहर आती हैं इसका विचार करके उनके स्वर और व्यंजन दो भेद किये जाते हैं। जब किसी नाद-ध्वनि को मुख में से निकलने में कोई रुकावट नहीं होती और न निःश्वास[3] किसी प्रकार की रगड़ खाती है तब वह ध्वनि स्वर कहलाती है। अर्थात् स्वर के उच्चारण में मुखद्वार छोटा-बड़ा तो होता है पर वह कभी बिलकुल बंद नहीं होता; वह इतना छोटा अथवा बंद सा भी नहीं होता जिससे बाहर निकलनेवाली हवा रगड़ खाकर निकले। स्वरों के अतिरिक्त शेष सब ध्वनियाँ व्यंजन कहलाती हैं। स्वरों में न किसी प्रकार का 'स्पर्श' होता है और न 'घर्षण', पर व्यंजनों के उच्चारण में थोड़ा बहुत स्पर्श अथवा घर्षण अवश्य होता है। इसी से स्वर-तंत्रियों से उत्पन्न शुद्ध[4] नाद 'स्वर' ही माने जाते हैं।

ध्वनियों का वर्गीकरण

(१) हिंदी के साथ ही अँगरेजी और संस्कृत के उदाहरण देना विद्यार्थियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए हितकर होता है।

(२) cf. hard and soft.

(३) 'श्वास' पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है अतः बाहर निकलनेवाली श्वास-वायु अथवा प्राण-वायु के अर्थ में निःश्वास शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(४) स्वर की पुरानी परिभाषा थी 'स्वतंत्र उच्चरित होनेवाली ध्वनि को स्वर कहते हैं'। अब वह ठीक नहीं मानी जाती, क्योंकि कुछ व्यंजन भी बिना स्वरों की सहायता के स्वतंत्र उच्चरित होते हैं।

यह स्वर और व्यंजन का भेद वास्तव में श्रोता के विचार से किया जाता है। स्वरों में श्रावण-गुण अथवा श्रवणीयता अधिक होती है अर्थात् साधारण व्यवहार में समान प्रकार से उच्चरित होने पर व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक दूरी तक सुनाई पड़ता है[1]। 'क' की अपेक्षा 'अ' अधिक दूर तक अधिक स्पष्ट सुन पड़ता है इसी से साधारणतया व्यंजनों का उच्चारण स्वरों के विना असंभव माना जाता है।

स्वर तो सभी नाद होते हैं, पर व्यंजन कुछ नाद होते हैं और कुछ श्वास। सामान्य नियम यह है कि एक उच्चारण-स्थान से उच्चरित होनेवाले 'नाद' का प्रतिवर्ण 'श्वास' अवश्य होता है; जैसे—

व्यंजन

स्थान	नाद	श्वास
कंठ	ग	क
तालु	ज	च
मूर्धा	ड	ट
ओष्ठ	व	प
दंत	द	त
	ज़	स

पर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक भाषा अथवा बोली में दोनों प्रकार की सस्थानीय ध्वनियाँ अवश्य व्यवहृत होती हैं। जैसे अँगरेजी में ह् h श्वास-ध्वनि है; उसका नादमय उच्चारण भी हो सकता है पर होता नहीं है—बोलनेवाले h का नादमय उच्चारण नहीं करते। इसी प्रकार संस्कृत अथवा हिंदी में 'ह' नाद है। उसका श्वासमय उच्चारण हो सकता है, पर होता[2] नहीं। इसी प्रकार 'म' और 'ल' अँगरेजी, संस्कृत और हिंदी तीनों में नादमय

(१) cf. Pronunciation of English by Daniel Jones P. 6.

(२) इस पर मतभेद है। कई लोग हिंदी के ह को नाद भी मानते हैं। देखो आगे इसी प्रकरण में।

उच्चरित होते हैं पर यदि कोई चाहे तो उनका श्वासमय उच्चारण कर सकता है। इस प्रकार के उच्चारण की पहचान अपने कंठ-पिटक के वाह्य भाग पर अँगुली रखकर स और ज़् जैसे वर्णों का क्रम से उच्चारण करने से सहज ही हो जाती है। स् में कोई कंपन नहीं होता पर ज़् में स्पष्ट कंपन का अनुभव होता है।

व्यंजनों का विचार दो प्रकार से हो सकता है—(१) उनके उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार और (२) उनके उच्चारण की रीति[1] और ढंग के अनुसार। यदि उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार विचार करें तो व्यंजनों के आठ मुख्य भेद किये जा सकते हैं—काकल्य, कंठ्य, मूर्धन्य[2] तालव्य, वर्त्स्य, दंत्य, ओष्ठ्य और जिह्वामूलीय।

व्यंजनों का वर्गीकरण

(१) काकल्य (अथवा उरस्य) उस ध्वनि को कहते हैं जो काकल स्थान में उत्पन्न हो जैसे हिंदी 'ह' और अँगरेजी h.

(२) कंठ्य[3] ध्वनि अर्थात् कंठ से उत्पन्न ध्वनि। 'कंठ' से यहाँ तालु के उस अंतिम कोमल भाग का अर्थ लिया जाता है जिसे अँगरेजी में Soft Palate अथवा Velum कहते हैं। इसका वर्णन पीछे हो चुका है। जब जिह्वामध्य कोमल तालु का स्पर्श करता है तब कंठ्य ध्वनि का उच्चारण होता है; जैसे—क, ख।

(१) इन्हीं दोनों भेदों को 'स्थान' और 'स्वरूप' 'Place' and 'Form' का भेद कहते हैं। हम आगे 'उचारणोपयोगी अवयव' और 'उचारण-स्थान' अथवा 'स्थान' का पर्याय जैसा व्यवहार करेंगे। उच्चारण-स्वरूप को 'प्रयत्न' भी कहते हैं।

(२) मूर्धन्य का अनुवाद अँगरेजी में प्रायः cerebral अथवा cacuminal किया जाता है पर आधुनिक विद्वान् 'retroflex' शब्द का व्यवहार अधिक वैज्ञानिक समझते हैं; क्योंकि retroflex का अर्थ होता है पश्चोन्मुख अथवा पश्चाद्वर्ती। क्योंकि ष, ट आदि मूर्धन्य कही जानेवाली ध्वनियाँ स, त आदि को जिह्वा पीछे ले जाकर बोलने से ही बनती हैं। आज-कल की मूर्धन्य ध्वनि तो तालव्य से भी पीछे की मानी जाती हैं।

(३) Guttural, Velar और Uvular आदि सभी पर्यायों के लिए संस्कृत शिक्षाकार 'कंठ्य' शब्द का प्रयोग करते हैं।

(३) मूर्धन्य—कठोर तालु के पिछले भाग और जिह्वाग्र से उच्चरित वर्ण; जैसे—ट, ठ, ष आदि। अँगरेजी में मूर्धन्य ध्वनियाँ होती ही नहीं।

(४) तालव्य अर्थात् कठोर तालु और जिह्वोपाग्र से उच्चरित ध्वनि; जैसे—अँगरेजी j अथवा हिंदी च, छ, ज।

(५) वर्त्स्य[1] अर्थात् तालु के अंतिम भाग, ऊपरी मसूड़ों और जिह्वानीक से उच्चरित वर्ण; जैसे—'न' अथवा 'न्ह'। दंतमूल के ऊपर जो उभरा हुआ स्थान रहता है उसे वर्त्स कहते हैं (दंत-मूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेशः)।

(६) दंत्य[2] ध्वनियाँ ऊपर के दाँतों की पंक्ति और जिह्वानीक से उच्चरित होती हैं; उदाहरणार्थ—हिंदी त, थ, द और ध। दंत्य के कई उपभेद होते हैं—पुरोदंत्य (अथवा प्राग्दंत्य), अंतर्दंत्य, पश्चाद्दंत्य (अथवा दंतमूलीय)। हिंदी में 'त' पुरोदंत्य और 'थ' अंतर्दंत्य होता है। अँगरेजी के त और द दंतमूलीय होते हैं।

(७) ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण विना जिह्वा[3] की विशेष सहायता के होठों द्वारा होता है। इनके भी दो भेद होते हैं—

(क) द्व्योष्ठ्य जैसे—हिंदी प और फ द्व्योष्ठ्य वर्णों का उच्चारण केवल दोनों ओठों से होता है।

(ख) दंतोष्ठ्य, जैसे—फ़ और व। इनका उच्चारण नीचे के होठ और ऊपर के दाँतों द्वारा होता है।

(१) इसे ही Post-dental, Alveolar or Teeth-ridge Consonant कहते हैं। प्राचीन वैदिक काल में पूरा तवर्ग 'वर्त्स्य' अथवा दंतमूलीय माना जाता था। देखो—S.K. Chatterji: Origin & Development of Bengali P. 240.

(२) दंत्य को dental अथवा lingual कहते हैं।

(३) काकल्य और ओष्ठ्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वा की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी से जिह्वा की दृष्टि से कंठ्य व्यंजनों को पश्च व्यंजन (Back consonant) और तालव्य व्यंजनों को अग्र व्यंजन (Front consonant) कहते हैं पर ओष्ठ्य व्यंजनों में ऐसा कोई भेद नहीं है।

(८) जिह्वामूलीय—हिंदी में कुछ ऐसी विदेशी ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो जिह्वामूल से उच्चरित होती हैं; जैसे—क़, ख़, ग़। इन्हें जिह्वामूलीय कह सकते हैं।

यदि हम उच्चारण की प्रकृति और प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों का वर्गीकरण करें अर्थात् व्यंजनों का इस दृष्टि से विचार करें कि शरीरावयव उनका किस प्रकार उच्चारण करते हैं तो हम हिंदी में आठ वर्ग बना सकते हैं—

(१) **स्पर्श** (अथवा स्फोट[1]) वर्ण वे हैं जिनके उच्चारण में अवयवों का एक दूसरे से पूर्ण स्पर्श होता है। पहले मुख में हवा बिलकुल रुक जाती है और फिर एक झोंके में वह धक्का देकर बाहर निकलती है इसी से एक स्फोट की ध्वनि होती है; जैसे–क अथवा प।

१७३४ (२) **घर्ष** (अथवा संघर्षी) वर्णों के उच्चारण में वायु-मार्ग किसी एक स्थान पर इतना संकीर्ण होजाता है कि हवा के बाहर निकलने में सर्प की जैसी शीत्कार अथवा ऊष्म[2] ध्वनि होती है। इस प्रकार इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा और दंतमूल अथवा वर्त्स के बीच का मार्ग खुला रहता है, बिलकुल बंद नहीं हो जाता। इसी से हवा रगड़ खाकर निकलती है अतः इन्हें घर्ष[3] अथवा विवृत[4] व्यंजन कहते हैं। इनके उच्चारण में हवा कहीं रुकती नहीं; इसी से इन वर्णों को सप्रवाह, अव्याहत अथवा अनवरुद्ध[5] (Continuant) भी कहते हैं। स, श, ष, ज़ आदि ऐसे ही घर्ष वर्ण हैं।

(१) Stop, mute, explosive, plosive, occlusive contact or shut consonants आदि सब पर्याय के समान व्यवहृत होते हैं।

(२) इसी से इन वर्णों को सोष्म ध्वनि (Spirant) अथवा ऊष्म ध्वनि (Sibilant) भी कहते हैं।

(३) cf Fricative. (अँगरेजी में spirant और fricative का पर्याय के समान व्यवहार होता है।) इन्हें Durative भी कहते हैं।

(४) Open consonants.

(५) अनवरुद्ध (Continuant) वर्ग में घर्ष वर्णों के अतिरिक्त अनुनासिक, अर्द्धस्वर, पार्श्विक आदि द्रव वर्णों का भी अंतर्भाव होता है।

(३) **स्पर्श-घर्ष**[1]—कुछ वर्ण ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण में स्पर्श तो होता है पर साथ ही हवा थोड़ी रगड़ खाकर इस प्रकार निकलती है कि उसमें ऊष्म ध्वनि भी सुन पड़ती है। इन्हें स्पर्श-घर्ष कहते हैं। जैसे हिंदी के च, छ, ज, झ।

(४) **अनुनासिक**—जिस वर्ण के उच्चारण में किसी एक स्थान पर मुख बंद हो जाता है और कोमल तालु (कंठ स्थान) इतना झुक जाता है कि हवा नासिका में से निकल जाती है वह अनुनासिक कहा जाता है; जैसे—न, म।

(५) **पार्श्विक**—जिसके उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अगल बगल से (पार्श्व से) वाहर निकलती है वह वर्ण पार्श्विक[2] होता है; जैसे–हिंदी 'ल' अथवा अँगरेजी l।

(६) **लुंठित** उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में जीभ वेलन की तरह लपेट खाकर तालु को छुए; जैसे—'र'[3]।

(७) **उत्क्षिप्त** उन ध्वनियों को कहते हैं जिनमें जीभ तालु के किसी भाग को वेग से मारकर हट आवे; जैसे—ड़ और ढ़।

(८) इन सात प्रकार के व्यंजनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्ण होते हैं जो साधारणतया व्यंजनवत् व्यवहृत होते हैं पर कभी कभी स्वर हो जाते हैं; जैसे—हिंदी य और व। ऐसे व्यंजन **अर्ध स्वर** कहे जाते हैं।

(१) cf. Brugmann : A Comparative Grammar of the Indo-Germanic Languages Vol. I § 322 p. 261—An affricate is an ' explosive with a following homorganic spirant. e. g. H. G. pf, z (=ts), ch (=kx) from Ind. g. b, d, g.

(२) पार्श्विक (lateral or side consonant) को विभक्त (divided) भी कहते हैं; क्योंकि निःश्वास दो पार्श्वों में विभक्त हो जाती है।

(३) 'र' का उच्चारण तीन प्रकार से होता है—लुंठित (rolled), उत्क्षिप्त (flapped) और trilled (जिह्वोत्कंपी); इसी से कादिरी (हि० फो०, पृ० ६४) और चैटर्जी ने (वैं० लें० § १४०) आधुनिक 'र' को उत्क्षिप्त माना है पर सक्सेना ने इसे लुंठित माना है। र का जिह्वोत्कंपी उच्चारण अँगरेजी में होता है पर वह हिंदी के साधारण व्यवहार में नहीं आता।

अनुनासिक, पार्श्विक और लुंठित व्यंजन कभी कभी एक ही वर्ग में रखे जाते हैं और सब द्रव वर्ण[1] कहे जाते हैं। कुछ लोग अर्द्ध स्वरों (इ उ) को भी इसी द्रव वर्ग में रखते हैं; क्योंकि इन सब में एक सामान्य गुण यह है कि वे यथासमय स्वर का भी काम करते हैं।

हिंदी व्यंजनों का वर्गीकरण

सूचना—(१) श्वास वर्णों के नीचे लकीर खींच दी गई है, शेष वर्ण नाद हैं।
(२) जो वर्ण केवल बोलियों में पाये जाते हैं वे कोष्ठक में दिये गये हैं।

	ओष्ठ्य								
	द्वयोष्ठ्य १	दंतोष्ठ्य २	दंत्य ३	वर्त्स्य ४	तालव्य ५	मूर्धन्य ६	कण्ठ्य ७	जिह्वामूलीय ८	काकल्य अथवा उरस्य ९
१ स्पर्श (अथवा स्फोट)	प ब फ भ		त द थ ध			ट ड ठ ढ	क ग ख घ	क़	
२ घर्ष (अथवा संघर्ष)		फ़, व		स ज़	श			ख़ ग़	ह़ ह
३ स्पर्श-घर्ष					च ज छ झ				
४ अनुनासिक	म म्ह			न न्ह	[ञ]	ण	ङ		
५ पार्श्विक				ल [ल्ह]					
६ लुंठित				र [र्ह]					
७ अर्द्धस्वर		व			य				
८ उत्क्षिप्त						ड़ ढ़			

(१) cf. liquids in Dumville: Science of Speech. p. 85. or Daniel Jones: Pronunciation of Eng. P.I. संस्कृत के अंतःस्थों का भी यही स्वभाव है कि वे व्यंजन और स्वर के बीच में रहते हैं।

जब किसी अवयव की—विशेषकर जिह्वा की—केवल अवस्था में परिवर्तन होने से ध्वनि मुख से बाहर निकलकर उच्चरित हो जाती है—किसी प्रकार का स्पर्श अथवा घर्षण नहीं होता, तब उस उत्पन्न ध्वनि को **स्वर**; और जिह्वा की उस अवस्थिति को स्वरावस्थिति अथवा **अक्षरावस्थिति** कहते हैं। अभ्यास करने से हमारे कान इस प्रकार की न जाने कितनी अक्षरावस्थितियों की कल्पना कर सकते हैं—न जाने कितने सौ अक्षर सुन सकते हैं, पर प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रत्येक भाषा की स्वर-संख्या परिमित ही होती है। हिंदी के मूलस्वर (अथवा समानाक्षर) ये हैं—

स्वर

अ आ ऑ [ऑ] [ऑ] [ओ] ओ उ [़उ] ऊ ई इ [इ़] ए [ए] [ए़] [ऍ] [ऍ] [अं] इन मूलस्वरों अथवा समानाक्षरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी पाये जाते हैं। उनका वर्णन आगे आयगा।

स्वरों का अधिक वर्णन करने के पूर्व हमें स्वर और अक्षर के अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए। स्वर और व्यंजन—ये दो प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। संस्कृत में 'वर्ण' से इन सभी ध्वनियों का अर्थ लिया जाता है, पर अक्षर से केवल स्वर का बोध होता है। हिंदी में कभी कभी वर्ण और अक्षर का पर्याय जैसा प्रयोग होता है।[1] शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह करने के लिए हम भी संस्कृत का अर्थ ही मानेंगे और वर्ण में स्वर और व्यंजन दोनों का अंतर्भाव करेंगे पर अक्षर को स्वर का पर्याय मात्र मानेंगे। जहाँ 'सुर' और 'बल' का वर्णन करना पड़ता है वहाँ यह भेद सुविधाजनक होता है।

स्वरों का वर्गीकरण

स्वरवर्णों में विशेष गुण जिह्वा और होठों की अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं। अतः जिह्वा के प्रधान अंगों के अनुसार उनका वर्गीकरण करना सहज और लाभकर होता है। सुस्पष्ट स्वरों की

(१) अक्षर वर्ण-समूह के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। देखो—इसी प्रकरण में अक्षर और अक्षरांग।

उच्चारण-स्थिति पर विचार करने से जिह्वा की तीन प्रधान अवस्थाएँ ध्यान में आती हैं—एक सबसे आगे की ऊँची, दूसरी सबसे पीछे की ऊँची और एक बीच की सबसे नीची। यदि आ को जीभ की सबसे नीची अवस्था मान लें तो जीभ ई के उच्चारण में आगे की ओर ऊँचे उठती है और 'ऊ' के उच्चारण में पीछे की ओर ऊँचे उठती है।
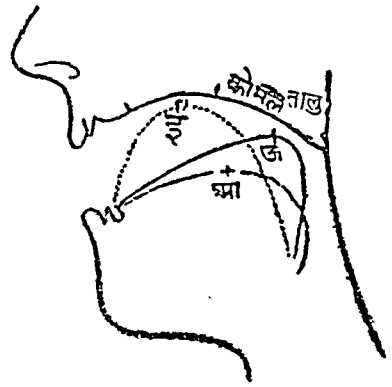
चित्र सं० २
जिह्वा की अवस्थाएँ

चित्र २ के ई, ऊ और आ को मिलाकर यदि एक त्रिकोण बनाया जाय तो जिस स्वर के उच्चारण करने में जीभ स्वर-त्रिकोण की दाहिनी ओर पड़े वह पश्च (पिछला) स्वर, जिस स्वर के उच्चारण करने में जीभ बाईं ओर पड़े वह अग्र (अगला) स्वर और जिसके उच्चारण करने में इस त्रिकोण के भीतर पड़े वह मिश्र अथवा मध्य स्वर कहलाता है। इस प्रकार जिह्वा उच्चारण के समय कहाँ रहती है इस विचार से स्वरों के अग्र, मिश्र (मध्य) और पश्च तीन[1] वर्ग किये जाते हैं। यह जीभ की आड़ी स्थिति का विचार हुआ; और यदि जीभ की खड़ी स्थिति का विचार करें तो दूसरे प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। जिस स्वर के उच्चारण में जीभ बिना किसी प्रकार की रगड़ खाये यथासंभव ऊँची उठ जाती है उस

चित्र सं० ३

(१) इस वर्गीकरण में अग्र और पश्च स्वर तो सुस्पष्ट (of well-defined quality) होते हैं और मिश्र (mixed) स्वर अस्पष्ट (obscure) होते हैं। पंजाबी में ऐसे अस्पष्ट स्वर होते हैं; आधुनिक हिंदी में नहीं होते। पर अवधी में अस्पष्ट स्वर भी पाये जाते हैं; जैसे—सोरंही रामूकं।
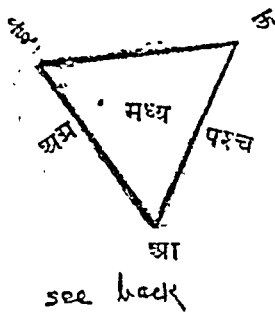
स्वर को संवृत (बंद अथवा मुँदा) कहते हैं; और जिस स्वर के लिए जीभ जितना हो सकता है उतना नीचे आती है उसको विवृत (खुला) कहते हैं। इन दोनों स्थानों के बीच के अंतर के तीन भाग किये जाते हैं। जो संवृत से $\frac{1}{3}$ दूरी पर पड़ता है वह ईषत् संवृत अथवा अर्द्ध-संवृत (अधमुँदा) कहलाता है और जो विवृत से $\frac{1}{3}$ दूरी पर पड़ता है वह ईषद् विवृत अथवा अर्द्ध-विवृत (अधखुला) कहलाता है। उदाहरण—अग्र, मिश्र और पश्च के उदाहरण क्रमश: 'ईख', 'रंईस्' (पं०) और 'ऊपर' शब्दों में ई, अं और ऊ हैं। संवृत, ईषत्संवृत, ईषद् विवृत और विवृत के उदाहरण क्रमश: 'ऊपर', 'अनेक', 'बोतल', 'आम' में ऊ, ए, ओ और आ हैं।

इसी प्रकार जीभ की अवस्थाओं का विचार करके और अनेक भाषाओं की परीक्षा करके भाषा-शास्त्रियों ने आठ प्राकृत अथवा प्रधान अक्षर स्थिर किये हैं; इन स्वर-ध्वनियों के लिए जीभ की आवश्यक अवस्थाओं का तथा उनके श्रावण गुणों का वर्णन किया है। ये आठों प्राकृत स्वर भिन्न भिन्न भाषाओं के स्वरों के अध्ययन के लिए बटखरों का काम देते हैं। इनका ज्ञान किसी विशेषज्ञ से मुखोपदेश[1] द्वारा कर लेने पर ध्वनि-शिक्षा का अध्ययन आगे ग्रंथ द्वारा भी हो सकता है। हम भी पहले इन प्रधान स्वरों का चित्र

(१) जिनको मुखोपदेश न मिल सके उन्हें ग्रंथ द्वारा जीभ की अवस्थाओं का तथा ग्रामोफोन द्वारा उनकी श्रूयमाण ध्वनि का परिचय कर लेना चाहिए, अन्यथा किसी भाषा-विशेष के उच्चारण को जानना और सीखना कभी संभव नहीं। इस विषय के प्रामाणिक ग्रंथों में M. V. Trofimov and Daniel Jones: The Pronunciation of Russian, (Cambridge, 1923) और G. Noël-Armfield: General Phonetics, (3rd edition, Cambridge, 1932,) उल्लेखनीय हैं। इन प्रधान स्वरों के ग्रामोफोन रेकर्ड्स हिज मास्टर्स व्हाइस ग्रामोफोन कंपनी ने तैयार किये हैं और ३६३ आक्सफोर्ड स्ट्रीट, लंदन W. I. में मिलते हैं। उनका मूल्य केवल तीन शिलिंग छः पेंस है (Catalogue No. B. 804)।

खींचेंगे और फिर उन्हीं से तुलना करते हुए हिंदी[1] के स्वरों का चित्र बनावेंगे और उनका सविस्तर वर्णन करेंगे।
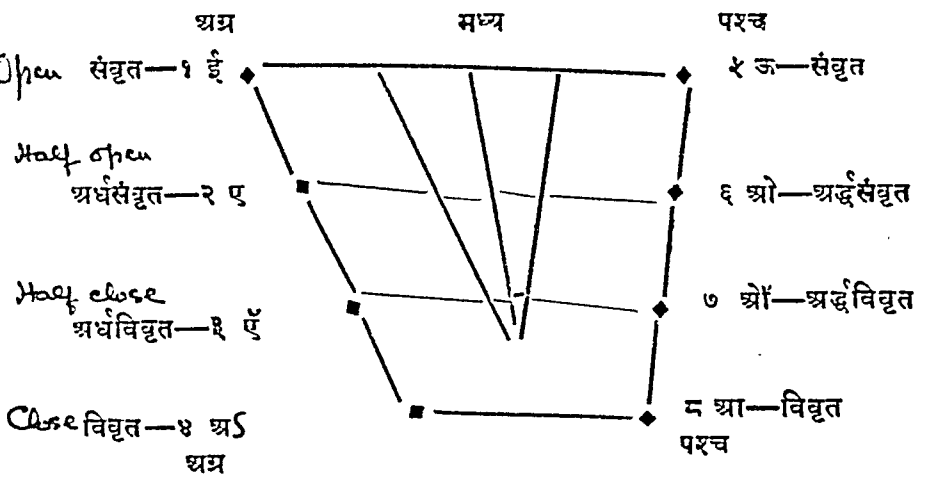
चित्र सं० ४ प्रधान स्वर

चित्र सं० ५ प्रधान स्वर और हिंदी स्वर
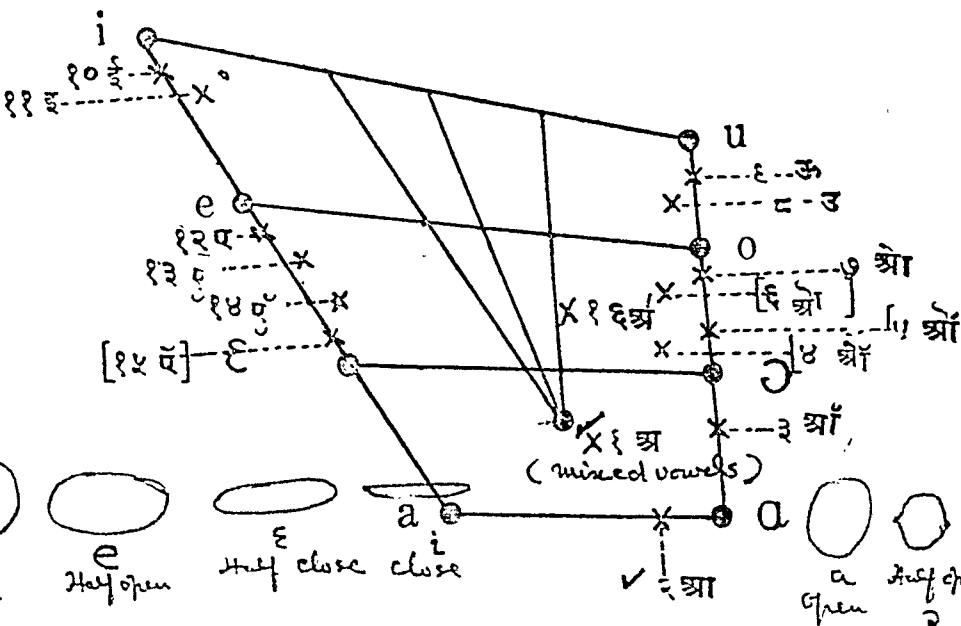
(१) अँगरेजी के स्वरों का चित्र Daniel Jones की Eng. Pronouncing Dictionary में (I. M. Dent & Sons, London); बँगला का डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी की बंगाली फोनेटिक रीडर

चित्र सं० ५ में जो अंतर्राष्ट्रीय लिपि में अक्षर लिखे हैं वे प्रधान स्वर (Cardinal Vowels) हैं और जो नागरी लिपि में लिखे अक्षर हैं वे हिंदी के मूलस्वर हैं; उनमें भी जो कोष्ठक के भीतर दिये गये हैं वे केवल बोलियों में पाये जाते हैं। और एक ही क्रॉस चिह्न (×) के सामने जो दो अक्षर लिखे गये हैं वे एक ही समान उच्चरित होते हैं क्योंकि जपित स्वर के उच्चारण में जिह्वा द्वारा कोई अंतर नहीं होता—केवल काकल की स्थिति थोड़ी भिन्न हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि साधारण स्वर कुल १९ होते हैं, पर यहाँ जीभ की अवस्थाएँ केवल १६ चिह्नित की गई हैं। इसी प्रकार सानुनासिक और संयुक्त स्वरों का भी यहाँ विचार नहीं किया गया है; आगे होगा।

वृत्ताकार और अवृत्ताकार स्वर

स्वरों का गुण ओठों की स्थिति पर निर्भर रहता है। उच्चारण करते समय ओष्ठ स्वाभाविक अर्थात् उदासीन अवस्था में रहते हैं अथवा वे इस प्रकार संकुचित होते हैं कि उनके बीच में कभी गोल और कभी लंबा विवर बन जाता है। जिन स्वरों के उच्चारण में होठों की आकृति गोल सी हो जाती है वे गोल अथवा वृत्ताकार[1] स्वर कहलाते हैं और शेष अवृत्ताकार[2] कहलाते हैं। जैसे ऊ वृत्ताकार और ई, आ आदि अवृत्ताकार अक्षर हैं।

दृढ़ और शिथिल स्वर

मांसपेशियों की शिथिलता और दृढ़ता के विचार से भी स्वरों का विचार किया जाता है और स्वर दृढ़ और शिथिल माने जाते हैं; जैसे—ई और ऊ दृढ़ स्वर हैं; इ और उ शिथिल स्वर हैं। कंठपिटक और चिबुक के बीच में अँगुली रखने से यह सहज ही अनुभव होने लगता है

में और हिंदुस्तानी का चित्र डॉ० कादिरी की हिंदी फोनेटिक रीडर में मिलेगा। इनके देखने से हिंदी की विशेषता विद्यार्थी के ध्यान में आ जायगी।

(१) Rounded.

(२) Unrounded.

कि ह्रस्व इ के उच्चारण में वह भाग कुछ शिथिल हो जाता है पर दीर्घ ई के उच्चारण में वह सर्वथा दृढ़ रहता है।

कंठ अर्थात् कोमल तालु का भी स्वर-गुण पर प्रभाव पड़ता है। साधारण स्वरों के उच्चारण करने में कंठ अर्थात् कोमल तालु उठकर गल-विल की भित्ति से जा लगता है (देखो चित्र सं० २); इसलिए नासिका-विवर बंद हो जाता है और ध्वनि केवल मुख में से निकलती है। पर जब यह कोमल तालु थोड़ा नीचे आ जाता है तब हवा मुख[1] और नासिका दोनों में से निकलती है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं। शिष्ट हिंदी में सानुनासिक[2] स्वर प्रायः नहीं मिलते पर बोलियों में पाये जाते हैं[3]। इन सानुनासिक स्वरों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं, जैसे—संध्यक्षर, श्रुति, प्राण-ध्वनि आदि।

हम पीछे अक्षर को स्वर का पर्याय मान चुके हैं। उसका संस्कृत ग्रंथों में एक अर्थ और भी होता रहा है। अक्षर उस ध्वनि-समुदाय को कहते हैं जो एक आघात अथवा झटके में बोला जाता है। अतः 'अक्षरांग' पद का व्यवहार उन व्यंजनों के लिए होता है जो स्वर के साथ एक झटके में बोले जाते हैं।

अक्षर और अक्षरांग

(१) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। पाणिनि

(२) cf. Nasalization in Hindi Literary works by Dr. Siddheshwar Verma, (published in the Journal of the Department of Letters Vol. XVIII, 1929, Calcutta University). वास्तव में आज पढ़े-लिखे लोग भी अनुनासिक स्वरों का प्रयोग करते हैं, पर लिखने में अनुनासिक स्वर का प्रयोग नहीं ही होता।

(३) द्रव व्यंजन (liquids) भी सानुनासिक हो जाते हैं और स्पर्श-व्यंजन का सानुनासिक उच्चारण होने पर वह अपने वर्ग का अनुनासिक व्यंजन ही हो जाता है जैसे प का म और क का ङ।

उस ध्वनि-समुदाय में एक स्वर अथवा स्वर-सदृश व्यंजन अवश्य रहना चाहिए। उसी स्वर अथवा स्वरवत् व्यंजन के पूर्वांग अथवा परांग[1] बनकर अन्य वर्ण रहते हैं। इस प्रकार एक अक्षर में एक अथवा अनेक वर्ण हो सकते हैं। जैसे पत् अथवा चट् शब्द में एक ही अक्षर है और उस अक्षर में तीन वर्ण हैं—एक स्वर और दो व्यंजन। इन तीनों में आधार-स्वरूप स्वर है, इसी से स्वर ही अक्षर कहा जाता है। शास्त्रीय भाषा में ऐसे स्वर को आक्षरिक (Syllabic) कहते हैं और उसके साथ उच्चरित होनेवाले पूरे ध्वनि-समूह को अक्षर कहते हैं[2]।

जब एक स्वर एक झटके में बोला जाता है तब वह मूल स्वर अथवा समानाक्षर[3] कहलाता है, पर जब दो अथवा दो से अधिक स्वर एक ही झटके में बोले जाते हैं तब वे मिलकर एक संयुक्त स्वर अथवा संध्यक्षर[4] को जन्म देते हैं। अ, आ, ए आदि जिन १९ स्वरों का हम पीछे वर्णन कर चुके हैं वे समानाक्षर अर्थात् मूलस्वर ही थे। संस्कृत में ए ओ संध्यक्षर माने गये हैं पर हिंदी में वे दीर्घ समानाक्षर ही माने जाते हैं, क्योंकि उनके उच्चारण में दो अक्षरों की प्रतीति नहीं होती। ए अथवा ओ का उच्चारण एक अक्षर के समान ही होता है। हिंदी में ऐ और औ संध्यक्षर हैं; जैसे—ऐसा, और, सौ आदि। इनका वर्णन आगे आयगा।

संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर

(१) अक्षर (Syllable) के पूर्वांग और परांग की चिंता प्रातिशाख्यों में भी हुई है। देखो—ऋ० प्रा० प० १।२१ सूत्र।

(२)—देखो ऋक्प्रातिशाख्य—सव्यंजनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्। एक अक्षर में (१) कभी शुद्ध स्वर, (२) कभी स्वर और व्यंजन, (३) कभी स्वर और अनुस्वार; (४) और कभी स्वर, व्यंजन और अनुस्वार सभी रहते हैं।

(३) Simple vowel.

(४) Diphthong, triphthong आदि।

हम देख चुके हैं कि एक ध्वनि के उच्चारण करने में अवयव-विशेष एक विशेष प्रकार का प्रयत्न करते हैं अतः जब एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तब उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना पड़ता है।

श्रुति

उच्चारण-स्थानों की बनावट एक समस्थल नली के समान नहीं है जिससे हवा बराबर प्रवाहित होकर ध्वनि उत्पन्न करती रहे अतः स्थान-परिवर्तन अवश्य होता है। जैसे—'एका' शब्द में तीन ध्वनियाँ हैं; उसके उच्चारण में जीभ को पहले (१) ए-स्थान से क-स्थान को और फिर (२) क-स्थान से आ-स्थान को जाना पड़ता है। इन परिवर्तनों के समय हवा तो निकला ही करती है और फलतः एक स्थान और दूसरे स्थान के बीच परिवर्तन-ध्वनियाँ भी निकला करती हैं[१]। ये परिवर्तन-ध्वनियाँ श्रुति[२] कही जाती हैं। इनके दो भेद होते हैं। पूर्वश्रुति[३] उस परिवर्तन-ध्वनि को कहते हैं जो किसी स्वर अथवा व्यंजन के पूर्व में आती है। और जो पर में आती है उसे पर-श्रुति[४] अथवा पश्चात्श्रुति कहते हैं। बहुत तेजी से और बेपरवाह होकर लिखने में लेखक की लेखनी जहाँ जहाँ रुकती है वहाँ वहाँ वर्णों और शब्दों के बीच में आपसे आप ऐसे चिह्न बन जाते हैं कि एक अजानकार को वे इतने बड़े दीखते हैं कि उसके लिए वह लेख पढ़ना ही कठिन हो जाता है। इसी प्रकार बोलने में भी ये लघु उच्चारणवाली श्रुतियाँ कभी कभी इतनी प्रधान हो जाती हैं कि वे निश्चित ध्वनि ही बन जाती हैं।

(१) प्रायः दो वर्णों के बीच सदा श्रुति होती है पर कभी कभी श्रुति-रहित संयोग भी होता है; जैसे—मयंक में ङ का ही अनुनासिक रूप क है अतः ङ और क के बीच कोई स्थान-परिवर्तन नहीं होता और इसी लिए कोई श्रुति भी नहीं होती।

(२) Glide.

(३) On-glide.

(४) Off-glide.

इसी से ध्वनि के विकार और विकास में श्रुति का भी महत्त्व माना जाता है। पहले श्रुति इतने लघु प्रयत्न से उच्चरित होती है कि उसे लघुप्रयत्नतर[1] भी नहीं कहा जा सकता, पर वही प्रवृत्ति यदि कारणवश थोड़ी बढ़ जाती है तो एक चौथाई अथवा आधे वर्ण के[2] समान श्रुति होती है। श्रुति जब और भी प्रबल होती है तब स्पष्ट एक वर्ण ही बन जाती है। इस प्रकार श्रुति एक नये वर्ण को जन्म देती है। इस वृद्धि के उदाहरण सभी भाषाओं में मिलते हैं। इंद्र, पर्वत, प्रकार, भ्रम आदि के संयुक्त वर्णों के बीच में जो श्रुति होती थी वही मराठी, हिंदी आदि भाषाओं में इतनी बढ़ गई कि इंदर, परवत, परकार, भरम आदि बन गया। इस प्रकार इस 'युक्त

(१) cf. व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य (८।३।१८ पा०)। जब व और य स्पष्ट सुन पड़ते हैं तब उन्हें लघूच्चारणवाला मानते हैं और उन्हें लघु-प्रयत्न, लघुप्रयत्नतर अथवा लघूच्चारण कहते हैं। पर एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि भट्टोजी दीक्षित ने इस सूत्र की टीका में लिखा है—यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः। जिसके उच्चारण में जिह्वा के सभी भाग शिथिल हो जाते हैं वह लघु उच्चारण की ध्वनि है; परिवर्तन-ध्वनि अर्थात् श्रुति के उच्चारण के समय जिह्वा सचमुच शिथिल रहती है क्योंकि जिह्वा एक स्थान पर से दूसरे स्थान पर जाती रहती है, वह किसी एक स्थान पर दृढ़ नहीं रहती; उसी समय श्रुति उच्चरित हो जाती है अतः पाणिनि ने श्रुति की बात का विचार बड़ा सुंदर किया है। इसी लघुप्रयत्न अथवा लघूच्चारण य को हेमचंद्र ने यश्रुति नाम दिया है। देखो—सि० हे० ८।१।१८०। आधुनिक देश-भाषाओं में य और व के अतिरिक्त ह की श्रुति भी पाई जाती है; जैसे—होठ, हाँ आदि में। कुछ लोग श्रुति का प्रयोग अक्षर (Syllable) के लिए भी करते हैं। अतः हमारे इस पारिभाषिक अर्थ को ध्यान में रखना चाहिए। देखो—Gujrati Language and Literature (Wilson Philological Lectures) P. 113.

(२) यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि स्वर-भक्ति (स्वर का एक भाग) एक प्रकार की श्रुति ही है और युक्त-विकर्ष इसी प्रवृत्ति का विकास है—इनका वर्णन आगे इसी प्रकरण में आवेगा।

विकर्ष' का कारण 'श्रुति' में मिलता है। स्कूल और स्नान के लिए जो इस्कूल, अस्कूल, इस्नान, अस्नान आदि रूप बोले जाते हैं वे पूर्वश्रुति के ही फल हैं। इन उदाहरणों में स्वर का आगम हुआ है; इसी प्रकार व्यंजन श्रुति भी होती है, जैसे सुनर में जो न् और अ के बीच में श्रुति होती है वही इतनी बढ़ जाती है कि 'सुंदर' शब्द बन जाता है; 'वानर' का बाँदर (मराठी), बंदर (हिंदी) आदि बन जाता है। ऐसे उदाहरण प्राकृतों और देश-भाषाओं में ही नहीं, स्वयं संस्कृत में मिलते हैं; जैसे—ऋग्वेद में इंद्र का इंदर, दर्शत का दरशत; लौकिक संस्कृत में स्वर्ण का सुवर्ण, पृथ्वी का पृथिवी, सूनरी का सुंदरी आदि। ग्रीक Ἀλκμήνη का पीछे से Alcumena और δραχμή का Drachuma रूप Plautus में पाये जाते हैं। अँगरेजी में भी Henry के लिए Henery और Umbrella के लिए Umberella उच्चारण करना साधारण बात है[1]।

बोलने में हम साँस लेने के लिए अथवा शब्दार्थ स्पष्ट करने के लिए ठहरते हैं। जितने वर्णों अथवा शब्दों का उच्चारण हम बिना विराम अथवा विश्राम लिये एक साँस में कर जाते हैं उनको एक श्वास-वर्ग[2] कहते हैं।

श्वास-वर्ग

जैसे; हाँ, नमस्कार, मैं चलूँगा। इस वाक्य में तीन श्वास-वर्ग हैं—(१) हाँ, (२) नमस्कार और (३) मैं चलूँगा। यदि किसी श्वास-वर्ग के आदि में स्वर रहता है तो उसकी ध्वनि का 'प्रारंभ' कभी 'क्रमिक'[3] होता है; कभी 'स्पष्ट'।

जब काकल के श्वास-स्थान से नाद-स्थान तक आने में एक पूर्वश्रुति होती है तब ध्वनि का प्रारंभ क्रमिक होता है और जब

(१) देखो—Comparative Philology by Edmonds : p. 35.

(२) 'श्वास-वर्ग' (Breath-group) का थोड़ा वर्णन आगे भी आवेगा।

(३) 'Gradual beginning'.

ध्वनि उत्पन्न होने तक श्वास सर्वथा अवरुद्ध रह जाती है तब प्रारंभ स्पष्ट होता है। साधारणतया इन दोनों ही दशाओं में वक्ता की ध्वनि का आघात (अथवा बलाघात) ठीक स्वर पर ही पड़ता है पर कभी कभी वक्ता उस स्वर के उच्चारण के पहले से ही एक आघात अथवा झटके से बोलता है—स्वर का उच्चारण करने के पूर्व ही कुछ जोर देकर बोलता है। ऐसी स्थिति में उस स्वर के पूर्व एक प्राण-ध्वनि सुन पड़ती है जैसे ए, ओ, अरे की पूर्वश्रुतियों पर जोर देने से हे, हो, हरे बन जाते हैं। इसी प्रकार अस्थि और ओष्ठ के समान शब्दों में इसी जोर लगाने की प्रवृत्ति के कारण प्राण-ध्वनि (ह) आ मिलती है और हड्डी, होठ आदि शब्द बन जाते हैं। इस प्रकार हिंदी और अँगरेजी आदि का 'ह' क्रमिक प्रारंभ वाली पूर्व-श्रुति का ही 'जोरदार' रूप है। यही कारण है कि आदि के ह को कई विद्वान्[1] अघोष और श्वास मानते हैं।

प्राण-ध्वनि

इस प्राण-ध्वनि का आगम बोलियों में मध्य और अंत में भी पाया जाता है; जैसे—'भोजपुरिया' फटा और खुला को फट्हा और खुल्हा कहते हैं। दुःख, छिः आदि में जो विसर्ग देख पड़ता है वह भी प्राण-ध्वनि ही है। ख, घ आदि में जो प्राण-ध्वनि सुन पड़ती है उसी के कारण संस्कृत-भाषा-शास्त्रियों ने अल्पप्राण[2] और महाप्राण—दो प्रकार की ध्वनियों के भेद किये हैं।

जब वही श्रुति आदि में न होकर किसी स्पर्श और स्वर के बीच में आती है और उस पर जोर (बल) दिया जाता है तब

(१) अँगरेजी में 'ह' सदा श्वास-ध्वनि होती है और संस्कृत में सदा नाद होती है; पर हिंदी में अंत में आनेवाला ह श्वास होता है और आदि में आनेवाले ह के विषय में मतभेद है। हिंदी के होठ, हाँ, हूँ, गुजराती के हवे, हमारुं, म्हारुं आदि में लघुप्रयत्न ह है, इसी से उसे अनेक विद्वान् श्वास 'ह' मानते हैं। देखो—आगे इसी प्रकरण में।

(२) इनकी परिभाषा आगे मिलेगी।

'सप्राण'[1] अर्थात् 'महाप्राण' स्पर्शों का उच्चारण होता है; जैसे—क्+ह्+अ=ख, ग्+ह्+अ=घ। प्राचीन काल में ग्रीक भाषा के χ, θ, φ ख, थ, फ ऐसे ही सप्राण स्पर्श थे। आज जब कोई आयरिश pat को p'hat अथवा tell को t'hell उच्चारण करता है तो वही प्राण-ध्वनि सुन पड़ती है। संस्कृत के कपाल का देशभाषाओं में खोपड़ा और खप्पर रूप हो गया है। उसमें भी यह सप्राण उच्चारण की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

सप्राण स्पर्श

विश्लेषण की दृष्टि से वर्णन करते समय हम लघूच्चारणवाली श्रुति तक का विचार करते हैं और जब हम ध्वनि को संहिति और

(१) कई लेखक सप्राण स्पर्शों (Aspirated Stops) को भी प्राण-ध्वनि (Aspirates) ही कहते हैं पर हम शुद्ध प्राण-ध्वनि (Pure Aspirate) अर्थात् ह को ही प्राण-ध्वनि कहेंगे और दूसरे वर्णों को सप्राण अथवा महाप्राण वर्ण। भाषा-शास्त्र में भी कारणवश एक ही अर्थ के लिए अनेक संज्ञाएँ चल पड़ती हैं, जैसे—घर्ष-वर्ण के लिए Spirant fricative, durative आदि, अतः उनके समझने में भ्रम न होना चाहिए। इसी प्रकार एक शब्द Aspirate से पहले k^h, T^h, p^h आदि सप्राण स्पर्शों का बोध होता था। देखो—Greek Grammar by ~~Sonnenchein~~ Part I P. 126.) पर अब केवल 'ह' का अर्थ लिया जाता है, अतः भिन्न भिन्न लेखकों में भिन्न भिन्न अर्थ देखकर भ्रम में न पड़ना चाहिए। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि Aspirate और spirant अथवा fricative और Affricate जैसे समानार्थक प्रतीत होनेवाले नामों का अर्थ स्पष्ट समझ लेना चाहिए। Aspirate प्राण-ध्वनि को और spirant घर्ष-वर्ण को कहते हैं। fricative घर्ष-वर्ण (spirant) का ही दूसरा नाम है पर affricate घर्ष-स्पर्श व्यंजन को कहते हैं। देखो—Affricates 'consist of a stop followed by the corresponding spirant when both belong to the same syllable as in German Zahn (Z=ts).—Giles: A short manual of Comp. Philo, §74. इस प्रकार यद्यपि fricative और affricate में संबंध है पर उनमें भेद भी बड़ा है।

संश्लेष की दृष्टि से देखते हैं तब हमें वाक्य तक एक ध्वनि प्रतीत होता है। शास्त्र और अनुभव दोनों का यही निर्णय है कि ध्वनि और अर्थ दोनों के विचार से वाक्य अखंड[1] होता है। वाक्य का विभाग शब्दों में नहीं होता पर मनुष्य की व्यवहार-पटु अन्वय-व्यतिरेक की बुद्धि ने व्यवहार की दृष्टि से विभाग शब्दों में ही नहीं वर्णों में भी कर डाला है पर ध्वनितः आज भी वाक्य अखंड ही उच्चरित होता है। यद्यपि लिखने में और व्यावहारिक दृष्टि से विचार प्रकट करने में शब्दों के बीच में हम अंतर छोड़ते हैं पर शब्दों के बोलने में वह अंतर नहीं होता। वाक्य के शब्दों के बीच में केवल तब विराम होता है जब हम साँस लेने के लिए ठहरते हैं। इस प्रकार जितने शब्द अथवा वाक्य एक साँस में बोले जाते हैं उन्हें मिलाकर एक श्वास-वर्ग कहते हैं। एक लंबे वाक्य में जितने गौण वाक्य होते हैं प्रायः उतने ही श्वास-वर्ग भी होते हैं पर ऐसा होना कोई नियम नहीं है। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि रोमन काल के पूर्व ग्रीक अभिलेखों में यह शब्दों में अंतर छोड़ने की रीति नहीं मिलती। और भारतवर्ष में भी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में यही बात मिलती है।

वाक्य के खंड

अब ध्वनि की दृष्टि से वर्ण और वाक्य दोनों महत्त्व के हैं। दोनों के बीच में किस प्रकार ध्वन्यात्मक संबंध प्रकट किया जाता है, इसकी विवेचना के लिए परिमाण (मात्रा), बल[2], स्वर-विकार (अथवा वाक्य-स्वर), स्वर (गीतात्मक स्वराघात) आदि का थोड़ा विचार करना पड़ता है।

(१) देखो—'अखंडवाक्यस्फोट' (अर्थात् एक पूर्ण वाक्य का जन्म) ही भारत के वैयाकरणों ने तथा आज-कल के विद्वानों ने परमार्थ सत्य माना है पर कारणवश पदस्फोट और वर्णस्फोट भी सत्य माना जाता है। देखो—वैयाकरण-भूषण।

(२) बल (Stress), स्वर-विकार आदि भाषा के अंगों का उल्लेख पीछे पृ० ४५–४६ पर हो चुका है। बल और स्वर की एक सरल व्याख्या नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के एक लेख 'वैदिक स्वर' में भी हो चुकी है। (देखो—पत्रिका १४, अंक ३, पृ० २८६)

परिमाण अथवा मात्रा

उसकी पार्श्ववर्ती ध्वनियों की तुलना में किसी ध्वनि के उच्चारण में जो **काल**[1] लगता है उसे ध्वनि की लंबाई अथवा परिमाण कहते हैं। यह काल तुलना की दृष्टि से मापा जाता है अतः एक छोटे (ह्रस्व) स्वर को जितना समय लगता है उसे एक मात्रा मान लेते हैं इसी लिए जिस अक्षर में दो मात्रा-काल अपेक्षित होता है उसे दीर्घ अक्षर और जिसे दो से भी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है उसे प्लुत कहते हैं। (१) ह्रस्व, (२) दीर्घ, (३) प्लुत इन तीन भेदों के अतिरिक्त दो भेद और होते हैं। (४) ह्रस्वार्ध (स्वर) और (५) दीर्घार्द्ध (स्वर)। जब कभी व्यंजन स्वरवत् प्रयुक्त होते हैं, उनका परिमाण अर्धमात्रा अर्थात् ह्रस्वार्धकाल ही होता है।

बल

'शब्दों के उच्चारण में अक्षरों पर जो जोर (धक्का) लगता है' उसे **बल** ~~अथवा स्वराघात~~ कहते हैं। ध्वनि कंपन की लहरों से बनती है। यह बल अथवा आघात (झटका) उन ध्वनि-लहरों के छोटी-बड़ी होने पर निर्भर होता है। 'मात्रा' का उच्चारण-काल के परिमाण से संबंध रहता है और 'बल' का स्वर-कंपन की छुटाई-बड़ाई के प्रमाण से[2]। इसी से फेफड़ों में से निःश्वास जितने बल से निकलता है उसके अनुसार बल ~~अथवा स्वराघात~~ में अंतर पड़ता है। इस बल के उच्च, मध्य और नीच होने के अनुसार ही ध्वनि के तीन भेद किये जाते हैं—सबल, समबल, निर्बल। जैसे—'कालिमा' में मा तो सबल है इसी पर धक्का लगता है और 'का' पर उससे कम और लि पर सबसे कम बल पड़ता है, अतः 'का' समबल और 'लि' निर्बल है। इसी प्रकार पत्थर में 'पत्', अंतःकरण में 'अः', चंदा में 'चन्' आदि सबल अक्षर हैं[3]।

(१) Its relative duration is quantity.
(२) Stress depends upon the size of the vibrations.
(३) देखो—गुरु का व्याकरण, पृ० ४१ (हि० स्वराघात)।

ग्रीक और संस्कृत के छंद मात्रा से संबंध रखते थे पर अँगरेजी के छंद बल पर निर्भर होते हैं। हिंदी के भी अनेक मात्रिक और वर्णिक छंदों का मूलाधार स्वरों की संख्या या मात्राकाल न होकर वास्तव में बल अथवा आघात ही होता है। छंदों में उच्चारण की दृष्टि से ह्रस्व अथवा दीर्घ हो जाना इस बात का प्रमाण है।

छंद में मात्रा और बल

हिंदी और संस्कृत में 'स्वर' का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। वर्ण, अक्षर (Syllable), सुर (pitch), आवाज (tone of voice) आदि सभी के अर्थ में उसका व्यवहार होता है। यहाँ हम उसके अंतिम दो अर्थों की अर्थात् सुर और आवाज की व्याख्या करेंगे। इनके लिए हम स्वर अथवा पदस्वर और स्वर-विकार अथवा वाक्यस्वर नामों का प्रयोग करेंगे। जिसे हम स्वर (अथवा गीतात्मक स्वर) कहते हैं वह अक्षर का गुण है और स्वर-विकार अथवा आवाज का चढ़ाव-उतार वाक्य का गुण है। स्वर-विकार अथवा वाक्य-स्वर से वक्ता प्रश्न, विस्मय, घृणा, प्रेम, दया आदि के भावों को प्रकट करता है। यह विशेषता सभी भाषाओं में पाई जाती है अतः इसके उदात्तादि भेदों के विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं। पर स्वर अर्थात् अक्षर स्वर कुछ भाषाओं में ही पाया जाता है। उसे समझने के लिए पहले हमें स्वर और बल के भेद पर विचार कर लेना चाहिए। हम देख चुके हैं कि बल जिन कंपनों से ध्वनि बनती है उनके **प्रसारण** पर निर्भर रहता है पर स्वर इन कंपनों की **संख्या** (आवृत्ति) पर निर्भर होता है। इस प्रकार स्वर गेय होता है। चढ़ाव-उतार के अनुसार स्वर के तीन भेद किये जाते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। शब्द के जिस अक्षर पर उदात्त स्वर रहता है वही सस्वर कहलाता है। प्राचीन ग्रीक और वैदिक संस्कृत[1] में ऐसे ही स्वर पाये जाते हैं। लैटिन,

स्वर

(१) देखो—वैदिक स्वर का परिचय (ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० २८४-८६)।

अँगरेजी, आधुनिक ग्रीक, लौकिक संस्कृत और हिंदी आदि में बल ही प्रधान रहा है। आधुनिक युग में भी श्यामी, अनामी आदि अनेक भाषाएँ सस्वर मिलती हैं।

अब ध्वनि के गुणों का इतना परिचय हमें मिल गया है कि हम हिंदी ध्वनि-समूह का थोड़े विस्तार में वर्णन कर सकते हैं। जिन पारिभाषिक शब्दों की पीछे व्याख्या हो चुकी है उन्हीं का हम प्रयोग करेंगे। जैसे यदि हम कहें कि 'क' 'श्वास कण्ठ्य स्पर्श' है तो इस वर्णन से यह समझ लेना चाहिए कि 'क' एक व्यंजन है जिसके उच्चारण में जिह्वामध्य ऊपर उठकर कंठ (अर्थात् कोमल तालु) को छू लेता है; कोमल तालु इतना ऊँचा उठा रहता है कि हवा नासिका में नहीं जा पाती अर्थात् यह ध्वनि अनुनासिक नहीं है; हवा जब फेफड़ों में से निकलकर ऊपर को आती है तो स्वर-तंत्रियाँ कंपन नहीं करतीं (इसी से तो वह श्वास-ध्वनि है); और जीभ कंठ को छूकर इतनी शीघ्र हट जाती है कि स्फोट-ध्वनि उत्पन्न हो जाती है (इसी से वह स्पर्श-ध्वनि कही जाती है)। इसी प्रकार यदि 'इ' को 'संवृत अग्र' स्वर कहा जाता है तो उससे यह समझ लेना चाहिए कि 'इ' एक स्वर है; उसके उच्चारण में जिह्वाग्र कोमल तालु के इतने पास उठकर पहुँच जाता है कि मार्ग बंद सा हो जाने पर घर्षण नहीं सुनाई पड़ता और कोमल तालु नासिकामार्ग को बंद किये रहता है।

स्वर

(१) अ—यह ह्रस्व, अर्द्धविवृत, मिश्र स्वर है अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा की स्थिति न बिलकुल पीछे रहती है और न बिलकुल आगे। और यदि जीभ की खड़ी स्थिति अर्थात् ऊँचाई-निचाई का विचार करें तो इस ध्वनि के उच्चारण में जीभ नीचे नहीं रहती—थोड़ा सा ऊपर उठती है इससे उसे अर्द्धविवृत मानते हैं। इसका उच्चा-

समानाक्षर

रण-काल केवल एक मात्रा है। उदाहरण—अब, कमल, घर, में अ, क, म, घ। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हिंदी शब्द और अक्षर के अंत में अ का उच्चारण नहीं होता। ऊपर के ही उदाहरणों में व, ल, र में हलंत उच्चारण होता है—अ का उच्चारण नहीं होता। पर इस नियम[1] के अपवाद भी होते हैं जैसे दीर्घ स्वर अथवा संयुक्त व्यंजन का परवर्ती अ अवश्य उच्चरित होता है; जैसे—सत्य, सीय[2]। 'न' के समान एकाक्षर शब्दों में भी अ पूरा उच्चारित होता है; पर यदि हम वर्णमाला में अथवा अन्य किसी स्थल में क, ख, ग आदि वर्णों को गिनाते हैं तो अ का उच्चारण नहीं होता अतः 'क' लिखा रहने पर भी ऐसे प्रसंगों में वह हलंत क् ही समझा जाता है।

(२) आ—यह दीर्घ और विवृत पश्च स्वर है और प्रधान आ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह अ का दीर्घ रूप नहीं है क्योंकि दोनों में मात्रा-भेद ही नहीं, प्रयत्न-भेद और स्थान-भेद[३] भी है। अ के उच्चारण में जीभ बीच में रहती है और आ के उच्चारण में बिलकुल पीछे रहती है अतः स्थान-भेद हो जाता है। यह स्वर ह्रस्व रूप में व्यवहृत नहीं होता।

उदा०—आदमी, काम, स्थान।

(३) ऑ—अँगरेजी के कुछ तत्सम शब्दों के बोलने और लिखने में ही इस अर्धविवृत पश्च ऑ का व्यवहार होता है। इसका स्थान[४] आ से ऊँचा और प्रधान स्वर ओं से थोड़ा नीचा होता है।

उदा०—कॉङ्ग्रेस, लॉर्ड।

(१) गु० हिं० व्या० § ३८।

(२) इस प्रकार शब्द अथवा अक्षर (शब्दांश) के अंत में उच्चरित होनेवाला 'अ' कुछ दीर्घ और विवृत सा होता है।

(३-४) स्थान से साधारणतया कंठ, तालु आदि उच्चारणस्थानों का बोध होता है पर कभी कभी जीभ की अवस्था अथवा स्थिति (tongue-position) के लिए भी स्थान का व्यवहार किया जाता है। संस्कृतज्ञ इसको प्रयत्न कहेंगे। पर अँगरेजी शब्द place और Position दोनों के लिए एक ही प्रतिशब्द स्थान का प्रयोग प्रायः होता है, अतः प्रसंग से इसको समझ लेना चाहिए (स्थान = (१) उच्चारण-स्थान, (२) जिह्वा-स्थान)।

(४) ऑ—यह अर्धविवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर
अर्थात् इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग (=जिह्वा
अर्धविवृत पश्च प्रधान स्वर की अपेक्षा थोड़ा ऊपर और भीत
ओर जाकर दब जाता है। होठ गोल रहते हैं। इसका
हार व्रजभाषा में पाया जाता है।

उदा०—अवलोकि हौं सोच-विमोचन को (कवितावली,
कांड १); वरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ा
जू (कवितावली, अयोध्याकांड ६)।

(५) ऑ—यह अर्धविवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर
प्रधान[1] स्वर ऑ से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। इसका व्य
भी व्रजभाषा में ही मिलता है।

उदा०—वाकों, ऐसों, गयों, भयों।

ओ से इसका उच्चारण भिन्न होता है इसी से प्रायः
ऐसे शब्दों में 'औ' लिख दिया करते हैं।

(६) ओ—यह अर्धसंवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर
प्रधान स्वर ओ की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचा तथा
की ओर झुका रहता है। व्रजभाषा और अवधी में इसका
मिलता है। पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं (कवितावली,
कांड, ४), ओहि केर बिटिया (अवधी बोली)।

(७) ओ—यह अर्धसंवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर
हिंदी में यह समानाक्षर अर्थात् मूलस्वर है। संस्कृत मे
प्राचीन काल में ओ संध्यक्षर था पर अब तो न संस्कृत ही मे
संध्यक्षर है और न हिंदी में।

उदा०—ओर, ओला, हटो, घोड़ा।

(१) इस वर्णन को समझने के लिए चित्र सं० ४ और ५ को
में रखना चाहिए और पिछली परिभाषाओं को भी विशेष रूप से स्मरण
चाहिए; क्योंकि इन्हीं शब्दों से अन्य लेखक अन्य अर्थों का भी
कराते हैं।

(८) उ—यह संवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य अर्थात् जीभ का पिछला भाग कंठ की ओर काफी ऊँचा उठता है पर दीर्घ ऊ की अपेक्षा नीचा तथा आगे मध्य की ओर झुका रहता है।

उदा०—उस, मधुर, ऋतु।

(९) उ॒—यह जपित ह्रस्व संवृत पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी की कुछ बोलियों में 'जपित' अर्थात् फुसफुसाहटवाला उ भी मिलता है।

उदा०—ब्र० जातु॒, ब्र० आवतु॒; अव० भोरु॒।

(१०) ऊ—यह संवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसका उच्चारण प्रधान स्वर ऊ के स्थान से थोड़े ही नीचे होता है। इसके उच्चारण में ह्रस्व उ की अपेक्षा ओठ भी अधिक संकीर्ण (बंद से) और गोल हो जाते हैं।

उदा०—ऊसर, मूसल, आलू।

(११) ई—यह संवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ऊपर कठोर तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है तो भी वह प्रधान स्वर ई की अपेक्षा नीचे ही रहता है। और होठ भी फैले[1] रहते हैं।

उदा०—ईश, अहीर, पाती।

(१२) इ—यह संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा-स्थान ई की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा पीछे मध्य की ओर रहता है और होठ फैले और ढीले रहते हैं।

उदा०—इमली, मिठाई, जाति।

(१) जहाँ वृत्ताकार (rounded) नहीं लिखा रहता वहाँ समझना चाहिए कि होठ गोल नहीं होते, अतः बिना लिखे ही इतना गतार्थ हो जाता है।

(१३) इ़—यह इ का जपित रूप है। दोनों में अंतर इतना है कि इ नाद और घोष ध्वनि है पर इ जपित है। यह केवल व्रज, अवधी आदि बोलियों में मिलती है।

उदा०—व्र० आवतइ़, अव० गोलि़।

(१४) ए—यह अर्धसंवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ नीचा है[1]।

उदा०—एक, अनेक, रहे।

(१५) ए—यह अर्धसंवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा नीचा और मध्य की ओर रहता है। इसका भी व्यवहार विभाषाओं और बोलियों में ही होता है।

उदा०—व्र०-अवधेस के द्वारे सकारे गई (कवितावली) अव० ओहि केर बेटवा।

(१६) ए़—नाद ए का यह जपित रूप है और कोई भेद नहीं है। यह ध्वनि भी साहित्यिक हिंदी[2] में नहीं है, केवल बोलियों में मिलती है; जैसे—(अवधी) कहेस़।

(१७) ऍ—यह अर्धविवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका स्थान प्रधान स्वर ऍ से कुछ ऊँचा है। ऑ के समान ऍ भी व्रज की बोली की विशेषता है।

उदा०—ऍसो, कॅसो।

(१८) ऍ—यह अर्धविवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। यह दीर्घ ऍ की अपेक्षा थोड़ा नीचा और भीतर की ओर झुका रहता है।

(१) प्राचीन संस्कृत में ए संध्यक्षर था पर हिंदी में तो वह एक समानाक्षर जैसा उच्चरित होता है।

(२) जपित ए़ पश्चिमी हिंदी की बोलियों में भी नहीं है अतः उसका विवेचन वास्तव में यहाँ अनावश्यक है क्योंकि हमें पश्चिमी हिंदी और उसकी बोलियों की ध्वनियों से ही प्रयोजन है। पूर्वी हिंदी तो शास्त्रीय दृष्टि से एक दूसरी भाषा है। देखो—पीछे पृ० १६६।

उदा०—सुत गोद कै भूपति लै निकसे में कै। हिंदी संध्यक्षर ऐ भी शीघ्र बोलने से ह्रस्व समानाक्षर ऍ के समान सुन पड़ता है।

(१९) अ—यह अर्धविवृत ह्रस्वार्ध मिश्र स्वर है और हिंदी 'अ' से मिलता-जुलता है। इसके उच्चारण में जीभ 'अ' की अपेक्षा थोड़ा और ऊपर उठ जाती है। जब यह ध्वनि काकल से निकलती है तब काकल के ऊपर के गले और मुख में कोई निश्चित क्रिया नहीं होती; इससे इसे अनिश्चित (Indeterminate) अथवा उदासीन[1] (neutral) स्वर कहते हैं। इस पर कभी बल-प्रयोग नहीं होता। अँगरेजी में इसका संकेत ə है। पंजाबी[2] भाषा में यह ध्वनि बहुत शब्दों में सुन पड़ती है; जैसे—पं० रईस, वंचारा (हिं० विचारा), नौकर। कुछ लोगों का मत है कि यह उदासीन अ पश्चिमी हिंदी की पश्चिमी बोली में भी पाया जाता है। अवधी में तो यह पाया ही जाता है; जैसे—सोरही रामक[3]।

आजकल की टकसाली खड़ी बोली के उच्चारण के विचार से इन १९ अक्षरों में से केवल ९ ही विचारणीय हैं—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। इनमें भी ऑ केवल विदेशी शब्दों में प्रयुक्त होता है अर्थात्

खड़ी बोली के स्वर

हिंदी में समानाक्षर आठ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी में ह्रस्व ऍ और ऒ का भी व्यवहार[4] होता है; जैसे—ऍक्का, सोनार, लोहार। शेष विशेष स्वर विभाषाओं और बोलियों में ही पाये जाते हैं।

(१) देखो—पीछे पृ० १४२ का फुटनोट। इसको कई विद्वान् अर्धमात्रिक अ भी कहते हैं और अॅ से चिह्नित करते हैं पर हम आगे अ ही लिखेंगे।

(२) देखो—Bailey : Punjabi Phonetic Reader, pp. XIV.

(३) सक०, ए० अ०, § ४८ (श्रीधीरेंद्र वर्मा द्वारा हिंदी भाषा के विकास में उद्धृत, पृ० ६२)।

(४) देखो—ना० प्र० प०, भाग १३, पृ० ४७।

ऊपर वर्णित सभी अक्षरों के प्राय: अनुनासिक रूप भी मिलते हैं पर इनका व्यवहार शब्दों में सभी स्थानों पर नहीं होता—कुछ विशेष स्थानों पर ही होता है[1]। हिंदी की बोलियों में बुंदेली अधिक अनुनासिक-बहुला है।

अनुनासिक स्वर

अनुनासिक और अननुनासिक स्वरों का उच्चारण-स्थान तो वही रहता है; अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में केवल कोमल तालु और कौआ कुछ नीचे झुक जाते हैं जिससे हवा मुख के अतिरिक्त नासिका-विवर में भी पहुँच जाती है और गूँजकर निकलती है। इसी से स्वर 'अनुनासिक' हो जाते हैं[2]। उदाहरण—

अँ—अँगरखा, हँसी, गँवार।

आँ—आँसू, बाँस, साँचा।

इँ—बिँदिया, सिँघाड़ा, धनिँया।

ईं—ईंट, ईंगुर, सींचना, आईं।

उँ—घुँघची, बुँदेली, मुँह।

ऊँ—ऊँघना, सूँघना, गेहूँ।

एं—गेंद, ऐंचा, बातें।

इसके अतिरिक्त ब्रज के लौं, सौं, हौं, मैं आदि अवधी के घेंटुआ, गोंठिवा (गाँठ में बाँधूँगा) आदि शब्दों में अन्य विशेष स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिलते हैं।

संध्यक्षर उन असवर्ण स्वरों के समूह को कहते हैं जिनका उच्चारण श्वास के एक ही वेग में होता है अर्थात् जिनका उच्चा-

(१) देखो—Nasalisation in Hindi Literary Works by Dr. S. Verma in Journal of the Department of Letters, Calcutta University, Vol. XVIII 1929.

(२) हिंदी में अनुनासिक के लिए बिंदु और चंद्रबिंदु दोनों का प्रयोग होता है। साधारणतः चंद्रबिंदु तद्भव ह्रस्व अक्षरों में लगना चाहिए। दीर्घ अक्षरों में तो इसका चंद्रबिंदुवत् उच्चारण होता ही है।

रण एक अक्षरवत् होता है। संध्यक्षर के उच्चारण में मुखावयव एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की

संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर

ओर बड़ी शीघ्रता से जाते हैं जिससे साँस के एक ही झोंके में ध्वनि का उच्चारण होता है और अवयवों में परिवर्तन स्पष्ट लक्षित नहीं होता[1]। क्योंकि इस परिवर्तन-काल में ही तो ध्वनि स्पष्ट होती है। अतः संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर एक अक्षर हो जाता है; उसे ध्वनि-समूह अथवा अक्षर-समूह मानना ठीक नहीं। पर व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो कई स्वर निकट आने से इतने शीघ्र उच्चरित होते हैं कि वे संध्यक्षर से प्रतीत होते हैं। इससे कुछ विद्वान् अनेक स्वरों के संयुक्त रूपों को भी संध्यक्षर मानते हैं[2]।

हिंदी में सच्चे संध्यक्षर दो ही हैं और उन्हीं के लिए लिपि-चिह्न भी प्रचलित हैं। (१) ऐ ह्रस्व अ और ह्रस्व ए की संधि से बना है; उदा०—ऐसा, कैसा, वैर। और (२) औ ह्रस्व अ और ह्रस्व ओ की संधि से बना है; उदा०—औरत, बौनी, कौड़ी, सौ। इन्हीं दोनों ऐ, औ का उच्चारण कई बोलियों में अइ, अउ के समान भी होता है; जैसे—पैसा और मौसी, पइसा और मउसी के समान उच्चरित होते हैं।

यदि दो अथवा अनेक स्वरों के संयोग को संध्यक्षर मान लें तो भैआ[3], कौआ, आओ, बोए आदि में अइआ, अउआ, आओ, ओए आदि संध्यक्षर माने जा सकते हैं। इन तीन अथवा दो अक्षरों का शीघ्र उच्चारण मुखद्वार की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होते समय किया जाता है, इसी से इन्हें

(१) देखो—Ward's Phonetics of English. § 169.

(२) देखो—Daniel Jones: Pronunciation of Eng. P. 56 and श्री धीरेंद्र वर्मा, हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ६४।

(३) यह त्रिवर्णज (triphthong) संध्यक्षर का उदाहरण है। द्विवर्णज संध्यक्षर (diphthongs) तो अनेक होते हैं।

लोग संध्यक्षर मानते हैं। इनके अतिरिक्त व्रज, अवधी आदि बोलियों में अनेक स्वर-समूह पाये जाते हैं जो संध्यक्षर जैसे उच्चरित होते हैं। उदा०—(व्र०) अइसी, गऊ और (अवधी) होइहै, होउ आदि[1]।

व्यंजन

(१) क़[2] — यह अल्पप्राण[3] श्वास, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है। इसका स्थान जीभ तथा तालु दोनों की दृष्टि से सबसे पीछे है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कौए के स्पर्श से होता है। वास्तव में यह ध्वनि विदेशी है और अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। प्राचीन साहित्य में तथा साधारण हिंदी में क़ के स्थान पर क हो जाता है।

स्पर्श-व्यंजन

उदा०—क़ाबिल, मुक़ाम, ताक़ ।

(१) देखो—श्री धीरेंद्र वर्मा ने अपने 'हिंदी भाषा के इतिहास' में अनेक उदाहरणों का संग्रह किया है।

(२) क, ख आदि का शुद्ध व्यंजन रूप क्, ख् आदि हलंत रूप माना जाता है; क्योंकि अ यहाँ उच्चारण के लिए उसमें लगा रहता है। व्यंजनों के प्रकरण में बिना हलंत का चिह्न लगाये भी इस बात का बोध हो जाता है। अतः अन्य विशेष स्थलों पर ही हम हलंत चिह्न का प्रयोग करेंगे। सामान्यतया क को स्वरहीन व्यंजन ही समझना चाहिए।

(३) अल्पप्राण, घोष आदि सोलह प्रकार के प्रयत्नों का वर्णन आगे इसी प्रकरण में आयगा। आजकल के विद्वानों ने उसमें से केवल चार को अपना लिया है—अल्पप्राण, महाप्राण, घोष और अघोष। घोष और अघोष तो नाद और श्वास के पर्यायवत् प्रयुक्त होते हैं; और अल्पप्राण तथा महाप्राण का संबंध प्राण-ध्वनि (ह) से है। प्राणवायु तो सभी ध्वनियों का (उपादान) कारण है पर किसी में वह अधिक रहती है और किसी में कम। ह में प्राणवायु इतनी अधिक रहती है कि उसे प्राण-ध्वनि ही कहते हैं, और जिन ध्वनियों में 'ह' प्राण-ध्वनि सुन पड़ती है वे महाप्राण और जिनमें वह नहीं सुन पड़ती वे अल्पप्राण कही जाती हैं।

(२) क—यह अल्पप्राण, अघोष, कंठ्य स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग अर्थात् जिह्वामध्य कोमल तालु को छूता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० आ० काल में कवर्ग का उच्चारण और भी पीछे होता था। क्योंकि कवर्ग 'जिह्वामूलीय'[1] माना जाता था। पीछे कंठ्य हो गया। कंठ्य का अर्थ गले में उत्पन्न (guttural) नहीं लिया जाता। हम पहले ही लिख चुके हैं कि कंठ कोमल तालु का पर्याय है, अतः कंठ्य का अर्थ है 'कोमल-तालव्य'।

उदा०—कम[2], चकिया, एक।

(३) ख—यह महाप्राण, अघोष, कंठ्य स्पर्श है। क और ख में केवल यही भेद है कि ख महाप्राण है।

उदा०—खेत, भिखारी, सुख।

(४) ग—अल्पप्राण, घोष, कंठ्य स्पर्श है।

उदा०—गमला, गागर, नाग[3]।

(५) घ—महाप्राण, घोष, कंठ्य-स्पर्श है।

उदा०—घर, रिघाना, बघारना, करघा।

(६) ट—अल्पप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है। मूर्धा से कठोर तालु का सबसे पिछला भाग समझा जाता है पर आज समस्त टवर्गी ध्वनियाँ कठोर तालु के मध्यभाग में उलटी जीभ की नोक के स्पर्श से उत्पन्न होती हैं। तुलना की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण-स्थान तालव्य वर्णों की अपेक्षा पीछे

(१) देखो—ऋक्प्रातिशाख्य, पृ० ४१—ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः।

(२) उदाहरण देने में तद्भव शब्द ही चुने गये हैं क्योंकि उन्हीं में ध्वनि का प्राकृत रूप देख पड़ता है।

(३) क़, ख़, ग़ आदि जिह्वामूलीय ध्वनियाँ केवल विदेशी तत्सम शब्दों में पाई जाती हैं। हिंदी की ब्रज, अवधी आदि विभाषाओं में तथा आज-कल की बोलचाल में भी वे कंठ्य-स्पर्श क, ख, ग हो जाती हैं।

है। वर्णमाला[1] में कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दंत्य वर्णों को क्रम से रखा जाता है इससे यह न समझना चाहिए कि कंठ के बाद तालु और तब मूर्धा आता है। प्रत्युत कंठ्य और तालव्य तथा मूर्धन्य[2] और दंत्य वर्णों के परस्पर संबंध को देखकर यह वर्णक्रम रखा गया है—वाक् से वाच् का और विकृत से विकट का संबंध प्रसिद्ध ही है।

उदा०—टीका, रटना, चौपट।

अँगरेजी में ट, ड् ध्वनि नहीं हैं। अंग्रेजी t और d वर्त्स्य हैं अर्थात् उनका उच्चारण ऊपर के मसूढ़े को बिना उलटी हुई जीभ की नोक से छूकर किया जाता है; पर हिंदी में वर्त्स्य ध्वनि न होने से बोलनेवाले इन अंग्रेजी ध्वनियों को प्रायः मूर्धन्य बोलते हैं।

(७) ठ—महाप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है।

उदा०—ठाट, कठघरा, साठ।

(८) ड—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य, स्पर्श-व्यंजन है।

उदा०—डाक, गाडर, गँडेरी, टोडर, गड्ढा, खड।

(९) ढ—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य स्पर्श है।

(१) वर्णमाला के क्रम से यह कल्पना की जाती है कि पहले कंठ्य, तालव्य और वर्त्स्य (दंतमूलीय) यह क्रम था। पीछे उसमें मूर्धन्य जोड़ा गया। मूर्धन्य वर्त्स्य वर्ण का ही विशेष रूप था। उसका स्थान तालु का अग्र भाग ही था पर धीरे धीरे मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण और भी पीछे से होने लगा। वर्त्स्य तवर्ग का उच्चारण और आगे दाँतों से होने लगा। तालव्य चवर्ग का उच्चारण भी तालुमध्य से न होकर तालु के अग्र भाग से होने लगा और किन्हीं किन्हीं भाषाओं में तो तालव्य सर्वथा दंत्य घर्ष-स्पर्श ही हो गया।

(२) विद्वानों का मत है कि मूर्धन्य वर्ण भारोपीय भाषा में नहीं थे। भारत में आने पर इनका प्रादुर्भाव हुआ। संभवतः तवर्ग को ही भारत के मूल निवासी इस प्रकार जीभ उलटकर और कुछ पीछे ले जाकर बोलते थे कि वह वर्ग मूर्धन्य टवर्ग बन गया। कुछ भी हो, ऋग्वेद में मूर्धन्य ध्वनि का कम व्यवहार हुआ है। पर हिंदी में उसका प्रचुर प्रयोग होता है।

उदा०—ढकना, ढीला, पंढ, पंढरपूर, मेंढक[1]।

ढ का प्रयोग हिंदी तद्भव शब्दों के आदि में ही पाया जाता है। पंढ संस्कृत का और पंढरपूर मराठी का है।

(१०) त—अल्पप्राण, अघोष, दंत्य-स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक दाँतों की ऊपरवाली पंक्ति को छूती है।

उदा०—तव, मतवाली, बात।

(११) थ—त और थ में केवल यही भेद है कि थ महाप्राण है।

उदा०—थोड़ा, पत्थर, साथ।

(१२) द—इसका भी उच्चारण त की भाँति होता है। यह अल्पप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—दादा, मदारी, चाँदी।

(१३) ध—महाप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—धान, बधाई, आधा।

(१४) प—अल्पप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है। ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में दोनों ओठों का स्पर्श होता है और जीभ से सहायता नहीं ली जाती। यदि कोई ओष्ठ्य वर्ण शब्द अथवा 'अक्षर' के अंत में आता है तो उसमें केवल स्पर्श होता है, स्फोट नहीं होता।

उदा०—पत्ता, अपना, बाप।

(१५) फ—यह महाप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—फूल, बफारा, कफ।

(१६) ब—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—बीन, धोबिन, अब।

(१७) भ—यह महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—भला, मनभर, साँभर, कभी।

(१) मेंडक, बेढंगा आदि कुछ ऐसे अपवाद भी हैं जिनमें ढ का स्पर्श-उच्चारण होता है अन्यथा मध्य में उसका उत्क्षिप्त ढ़ जैसा उच्चारण होता है। इसी प्रकार डकार भी दो स्वरों के बीच में आने पर, ड़ के समान उच्चरित होता है। वास्तव में टोडर और गाडर का सामान्य उच्चारण टोड़र, गाड़र है।

(१८) च—च के उच्चारण में जिह्वोपाग्र ऊपरी मसूढ़ों के पास के तालवग्र का इस प्रकार स्पर्श करता है कि एक प्रकार की रगड़ होती है अतः यह घर्ष-स्पर्श अथवा स्पर्श-संघर्षी ध्वनि मानी जाती है। तालु की दृष्टि से देखें तो कंठ के आगे टवर्ग आता है और उसके आगे चवर्ग अर्थात् चवर्ग का स्थान आगे की ओर बढ़ गया है[2]।

घर्ष-स्पर्श[1]

च—अल्पप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श व्यंजन है।

उदा०—चमार, कचनार, नाच।

(१९) छ—महाप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—छिलका, कुछ, कछार।

(२०) ज—अल्पप्राण, घोष, तालव्य स्पर्श-घर्ष वर्ण है।

उदा०—जमना, जाना, काजल, आज।

(२१) झ—महाप्राण, घोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—झाड़, सुलझाना, बाँझ।

(२२) ङ—घोष, अल्पप्राण, कंठ्य, अनुनासिक स्पर्श-ध्वनि

(१) प्रयोग करके विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की चवर्ग-ध्वनियाँ शुद्ध स्पर्श नहीं है। केवल बेली ने अपनी पंजाबी रीडर में चवर्ग को शुद्ध स्पर्श माना है (Bailey's Punjabi Phonetic Reader P. XI.)। हिंदी का आदर्श उच्चारण दिल्ली और मेरठ के आसपास की खड़ी बोली है। उसकी विशेष रूप से परीक्षा होनी चाहिए तब इसका स्पष्ट निर्णय हो सकेगा।

(२) प्राचीन काल में शुद्ध तालव्यों का स्थान पीछे की ओर रहा होगा। तालव्य ध्वनियों के चार ऐतिहासिक काल माने जाते हैं—पहला भारोपीय काल जब तालव्य कंठ के बहुत पास उच्चरित होते थे। दूसरा काल था भारतीय शुद्ध तालव्यों का, तीसरा काल था घर्ष-स्पर्श तालव्यों का, चौथा काल था दंततालव्य घर्ष-स्पर्श वर्णों का। अंतिम दो ढंग के तालव्य आज भी विद्यमान हैं। मराठी में दोनों मिलते हैं। हिंदी में केवल तालव्य घर्ष-स्पर्श और गुजराती, मारवाड़ी, पूर्वी बँगला आदि में केवल दंततालव्य घर्ष-स्पर्श मिलते हैं।

है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य कोमल तालु का स्पर्श करता है और कौआ सहित कोमल तालु कुछ नीचे झुक आता है जिससे कुछ हवा नासिका-विवर में पहुँचकर गूँज उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार स्पर्श-ध्वनि अनुनासिक हो जाती है।

अनुनासिक

शब्दों के बीच में कवर्ग के पहले ङ सुनाई पड़ता है। शब्दों के आदि या अंत में इसका व्यवहार नहीं होता। स्वर-सहित ङ का भी व्यवहार हिंदी में नहीं पाया जाता।

उदा०—रंक, शंख, कंघा, भंगी[1]।

(२३) ञ्—घोष, अल्पप्राण, तालव्य, अनुनासिक ध्वनि है। हिंदी में यह ध्वनि होती ही नहीं और जिन संस्कृत शब्दों में वह लिखी जाती है उनमें भी उसका उच्चारण न् के समान होता है जैसे—चञ्चल, अञ्चल आदि का उच्चारण हिंदी में चन्चल, अन्चल की भाँति होता है। कहा जाता है कि व्रज, अवधी आदि में ञ ध्वनि पाई जाती है; पर खड़ी बोली के साहित्य में वह नहीं मिलती।

(२४) ण—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य अनुनासिक स्पर्श है। स्वरसहित ण केवल तत्सम संस्कृत शब्दों में मिलता है और वह भी शब्दों के आदि में नहीं।

उदा०—गुण, मणि, परिणाम।

संस्कृत शब्दों में भी पर-सवर्ण 'ण' का उच्चारण 'न' के समान ही होता है। जैसे—सं० पण्डित, कण्ठ आदि पन्डित, कन्ठ आदि

(१) आजकल हिंदी में स्वर-रहित अनुनासिक व्यंजनों के लिए अनुस्वार लिखा जाता है। केवल संस्कृत तत्सम शब्दों में पर-सवर्ण का कुछ लोग प्रयोग करते हैं। वास्तव में विचार किया जाय तो हिंदी ङ्, ञ्, ण् और न् सबकी पर-सवर्ण-ध्वनि एक सी होती है। अतः उन सबके लिए एक ही अनुस्वार का प्रयोग ठीक प्रतीत होता है और जो स्वाभाविक पर-सवर्णता का रंग आना चाहिए वह आपसे आप आ जाता है।

के समान उच्चरित होते हैं। अर्द्ध स्वरों के पहले अवश्य हलंत ण ध्वनि सुन पड़ती है, जैसे—कण्व, गण्य, पुण्य आदि। इनके अतिरिक्त जिन हिंदी शब्दों में यह ध्वनि बताई जाती है उनमें 'न' की ही ध्वनि सुन पड़ती है; जैसे—कंडा, गंडा, भंटा, ठंढा।

(२५) न—अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक स्पर्श है। इसके उच्चारण में ऊपर के मसूढ़े से जिह्वानीक का स्पर्श होता है। अतः इसे दंत्य मानना उचित नहीं।

उदा०—नमक, कनक, कान, बंदर।

(२६) न्ह—महाप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक व्यंजन है। पहले इसे विद्वान् संयुक्त व्यंजन मानते थे पर अब कुछ आधुनिक विद्वान्[1] इसे घ, ध, भ आदि की तरह मूल महाप्राण ध्वनि मानते हैं।

उदा०—उन्हें, कन्हैया, जुन्हैया, नन्हा।

(२७) म—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक स्पर्श है।

उदा०—माता, रमता, काम।

(२८) म्ह—महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक स्पर्श है। न्ह के समान इसे भी अब विद्वान् संयुक्त व्यंजन न मानकर मूल महाप्राण[2] व्यंजन मानते हैं।

उदा०—तुम्हारा, कुम्हार।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि हिंदी के विचार से न, न्ह, म और म्ह, ये ही अनुनासिक ध्वनियाँ हैं। शेष तीन ङ्, ञ् और ण के स्थान में 'न' ही आता है। केवल तत्सम शब्दों में इनका प्रयोग किया जाता है। और अनुस्वार के विचार से तो दो ही प्रकार के उच्चारण होते हैं—न और म।

(१) देखो—Hindustani Phonetics by Qadri 89.

(२) देखो—Hindustani Phonetics P. 87. भारत के प्राचीन-शिक्षा शास्त्रियों ने भी म्ह को एक पृथक् ध्वनि माना है।

(२९) ल—पार्श्विक, अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूढ़ों को अच्छी तरह छूती है किंतु साथ ही जीभ के दोनों ओर खुला स्थान रहने से हवा निकला करती है।

पार्श्विक

यद्यपि ल और र एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं पर ल पार्श्विक होने से सरल होता है।

उदा०—लाल, जलना, कल।

(३०) ल्ह—यह ल का महाप्राण रूप है। न्ह और म्ह की भाँति यह भी मूल व्यंजन[1] ही माना जाता है। इसका प्रयोग केवल बोलियों में मिलता है।

उदा०—ब्र०—काल्हि, कल्ह (बुंदेलखंडी), ब्र० सल्हा (हिं० सलाह)। 'कल्ही' जैसे खड़ी बोली के शब्दों में भी यह ध्वनि सुन पड़ती है।

(३१) र—लुंठित[2], अल्पप्राण, वर्त्स्य, घोष-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक लपेट खाकर वर्त्स अर्थात् ऊपर के मसूढ़े को कई बार जल्दी जल्दी छूती है।

लुंठित

उदा०—रटना, करना, पार, रिण[3]।

(३२) र्ह—र का महाप्राण रूप है। इसे भी मूल ध्वनि माना जाता है। पर यह केवल बोलियों में पाई जाती है। जैसे—कर्हानो, उर्हानो आदि (ब्रज)।

(३३) ड़—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिंदी की नवीन ध्वनियों में से यह एक है। इसके उच्चारण में उलटी जीभ की नोक से कठोर तालु का स्पर्श झटके के साथ किया जाता है। ड़ शब्दों के आदि

उत्क्षिप्त

(१) देखो—Hindustani Phonetics by Qadri, P.90

(२) चैटर्जी (Bengali Language : § 140) और कादरी (Hindustani Phonetics P. 64) आधुनिक र को उत्क्षिप्त (flapped) मानते हैं। उनके अनुसार जीभ लपेट नहीं खाती।

(३) ध्वनि की दृष्टि से ऋण को रिण ही लिखना चाहिए इसी से हमने स्वरों में 'ऋ' का विचार नहीं किया है।

में नहीं आता; केवल मध्य अथवा अंत में दो स्वरों के बीच में ही आता है।

उदा०—सूँड़, कड़ा, बड़ा, बड़हार। हिंदी में इस ध्वनि का बाहुल्य है।

(३४) ढ़—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। यह ड़ का ही महाप्राण रूप है। ड, ढ स्पर्श हैं और ड़, ढ़ उत्क्षिप्त ध्वनि हैं। बस यही भेद है। ड, ढ का व्यवहार शब्दों के आदि में ही होता है और ड़, ढ़ का प्रयोग दो स्वरों के बीच में ही होता है।

उदा०—बढ़ना, बूढ़ा, मूढ़।

(३५) ह—काकल्य, घोष, घर्ष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ, तालु अथवा होठों से सहायता नहीं ली जाती। जब हवा फेफड़े में से वेग से निकलती है और मुखद्वार के खुले रहने से काकल के बाहर रगड़ उत्पन्न करती है तब इस ध्वनि का उच्चारण होता है। ह और अ में मुख के अवयव प्रायः समान रहते हैं पर ह में रगड़ होती है।

घर्ष वर्ण

उदा०—हाथ, कहानी, टोह।

ह के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य है। 'ह' शब्द के आदि और अंत में अघोष उच्चरित होता है; जैसे—हम, होठ, हिंदु और छिह्, छह्, कह्, यह् आदि। पर जब ह दो स्वरों के मध्य में आता है तब उसका उच्चारण घोष होता है, जैसे—रहन, सहन। पर जब वह महाप्राण व्यंजनों में सुन पड़ता है तब कभी अघोष और कभी घोष होता है। जैसे—ख, छ, थ में अघोष ह है और घ, झ, ध, ढ, भ, ल्ह, न्ह आदि में घोष है। अघोष ह का ही नाम विसर्ग है। 'ख' जैसे वर्णों में और छिः जैसे शब्दों के अंत में यही अघोष ह अथवा विसर्ग सुन पड़ता है। यह सब कल्पना अनुमान और स्थूल पर्यवेक्षण से सर्वथा संगत लगती है पर अभी परीक्षा द्वारा

सिद्ध नहीं हो सकी है। कादरी, सक्सेना, चैटर्जी आदि ने कुछ प्रयोग किये हैं पर उनमें भी ऐकमत्य नहीं है।

विसर्ग के लिए लिपि-संकेत ह़ अथवा : है। हिंदी ध्वनियों में इसका प्रयोग कम होता है। वास्तव में यह अघोष ह है पर कुछ लोग इसे पृथक् ध्वनि मानते हैं।

विसर्ग

(३६) ख़—ख़ जिह्वामूलीय, अघोष, घर्ष-ध्वनि है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कोमल तालु के पिछले भाग से होता है, पर दोनों अवयवों का पूर्ण स्पर्श नहीं होता। अतः उस खुले विवर से हवा रगड़ खाकर निकलती है, अतः इसे स्पर्श-व्यंजनों के वर्ग में रखना उचित नहीं माना जाता। यह ध्वनि फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है और हिंदी बोलियों में स्पर्श ख के समान उच्चरित होती है।

उदा०—ख़राब, बुख़ार और बलख़।

(३७) ग़—इसमें और ख़ में केवल एक भेद है कि यह घोष है। अर्थात् ग़ जिह्वामूलीय, घोष, घर्ष-ध्वनि है। यह भी भारतीय ध्वनि नहीं है, केवल फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में पाई जाती है। वास्तव में ग़ और ग में कोई संबंध नहीं है पर बोलचाल में ग़ के स्थान में ग ही बोला जाता है।

उदा०—ग़रीब, चोग़ा, दाग़।

(३८) श—यह अघोष, घर्ष, तालव्य ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक कठोर तालु के बहुत पास पहुँच जाती है पर पूरा स्पर्श नहीं होता, अतः तालु और जीभ के बीच में से हवा रगड़ खाती हुई बिना रुके आगे निकल जाती है। इसी से यह ध्वनि घर्ष तथा अनवरुद्ध कही जाती है। इसमें 'शी', 'शी' के समान ऊष्मा निकलता है इससे इसे ऊष्म ध्वनि भी कहते हैं। यह ध्वनि प्राचीन है। साथ ही यह अँगरेजी, फारसी, अरबी आदि से आये हुए विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है। पर हिंदी की बोलियों में श का दंत्य (स) उच्चारण होता है।

उदा०—शांति, पशु, यश; शायद, शाम, शेयर, शेड।

(३९) स—वर्त्स्य, घर्ष, अघोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक और वर्त्स के बीच घर्षण (रगड़) होता है।

उदा०—सेवक, असगुन, कपास।

(४०) ज़—ज़ और स का उच्चारण-स्थान एक ही है। ज़ भी वर्त्स्य, घर्ष-ध्वनि है किंतु यह घोष है। अत: ज़ का संबंध स से है; ज से नहीं। ज़ भी विदेशी ध्वनि है और फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही बोली जाती है। हिंदी बोलियों में ज़ का ज हो जाता है।

उदा०—ज़ुल्म, गुज़र, बाज़।

(४१) फ़—दंतोष्ठ्य, घर्ष, अघोष व्यंजन है। इसके उच्चारण में नीचे का होठ ऊपर के दाँतों से लग जाता है पर होठ और दाँत दोनों के बीच में से हवा रगड़ के साथ निकलती रहती है। इसको द्व्योष्ठ्य फ का रूपांतर मानना शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है[1]। वास्तव में फ़ विदेशी ध्वनि है और विदेशी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। हिंदी बोलियों में इसका स्थान फ ले लेता है।

उदा०—फ़स्ल, कफ़न, साफ़।

(४२) व—उच्चारण फ़ के समान होता है। परंतु यह घोष है। अर्थात् व दंतोष्ठ्य घोष घर्ष-ध्वनि है। यह प्राचीन ध्वनि है और विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है[2]।

उदा०—वन, सुवन, यादव।

(१) यह घोष व का संबंधी माना जा सकता है।

(२) यह ध्वनि व द्व्योष्ठ्य व और अर्द्धस्वर (अंतस्थ) व दोनों से भिन्न है। कादरी ने तो इसके महाप्राण रूप व्ह का भी उल्लेख किया है पर अभी उसका हिंदी में अधिक व्यवहार नहीं होता। देखो—Qadri : Hindustani Phonetics. P. 94.

य (अथवा इ़)—यह तालव्य, घोष, अर्द्धस्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वोपाग्र कठोर तालु की ओर उठता है पर स्पष्ट घर्षण नहीं होता। जिह्वा का स्थान भी व्यंजन च और स्वर इ के बीच में रहता है इसी से इसे अंतस्थ अर्थात् व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनि मानते हैं।

अर्द्धस्वर (अंतस्थ)

वास्तव में व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनियाँ हैं घर्ष व्यंजन। जब किसी घर्ष व्यंजन में घर्ष स्पष्ट नहीं होता तब वह स्वरवत् हो जाता है। ऐसे ही वर्णों को अर्धस्वर अथवा अंतस्थ कहते हैं[1]। य इसी प्रकार का अर्धस्वर है।

उदा०—कन्या, प्यास, ह्याँ, यम, धाय, आये।

य का उच्चारण एअ सा होता है और कुछ कठिन होता है, इसी से हिंदी बोलियों में य के स्थान में ज हो जाता है। जैसे—यमुना—जमुना, यम—जम।

(४४) व़—ओअ से बहुत कुछ मिलता है। यह घर्ष व का ही अघर्ष रूप[2] है। यह ध्वनि प्राचीन है। संस्कृत तत्सम और हिंदी तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों में पाई जाती है।

उदा०—क्व़ार, स्व़ाद, स्व़र, अध्व़र्यु आदि।

ध्वनि-शिक्षा का प्रयोग से संबंध था पर ध्वनि-विचार ध्वनियों के इतिहास, तुलना और सिद्धांत आदि सभी का सम्यक् विवेचन करता है। ध्वनि-शास्त्र के सिद्धांत इतिहास और तुलना की सहायता से ही बनते हैं, अतः ध्वनि-विचार के दो साधारण विभाग कर लिये जाते हैं—(१)

ध्वनि-विचार

(१) देखो—Daniel Jones : Pronunciation of English. P. 33. अँगरेजी में भी w, ɹ, और j (व, र और य) अर्धस्वर माने जाते हैं।

(२) हिंदी में केवल व ऐसा घर्ष वर्ण है जिसका अस्पष्ट घर्षवाला रूप अर्थात् अर्धस्वर मिलता है। सिद्धांत तो यह है कि प्रत्येक घर्ष वर्ण की बराबरी का अर्धस्वर भी हो सकता है।

इतिहास और तुलना तथा (२) ध्वनि-संबंधी सामान्य और विशेष सिद्धांत।

इसी प्रकरण के प्रारंभ में ध्वनि के शास्त्रीय विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि ध्वनि—कम से कम भाषण-ध्वनि—असंख्य होती हैं, अतः उनमें से प्रत्येक के लिए संकेत बनाना कठिन ही नहीं असंभव है। वास्तव में देखा जाय तो व्यवहार में जो भाषा आती है उसकी ध्वनि-संख्या परिमित ही होती है अतः बीस या तीस लिपिचिह्नों से भी किसी किसी भाषा का सब काम चल जाता है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि प्रत्येक भाषा की परिस्थिति और आवश्यकता एक सी नहीं होती, इसी से ध्वनियाँ भी भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। कभी कभी तो एक ही वर्ण एक भाषा में एक ढंग से उच्चरित होता है और दूसरी भाषा में दूसरे ढंग से। उदाहरणार्थ हिंदी और मराठी की लिपि नागरी है पर दोनों के उच्चारण में बड़ा अंतर पाया जाता है। इसी प्रकार अँगरेजी और फ्रेंच की वर्णमाला प्रायः समान हैं तो भी ध्वनियों के उच्चारण में बड़ा अंतर है। अतः किसी विदेशी भाषा के ध्वनि-प्रबंध[1] (अर्थात् ध्वनि-माला) से परिचित होने के लिए—उस भाषा को ठीक ठीक लिख और बोल सकने के लिए—हमें या तो उस भाषा के विशेषज्ञ वक्ताओं के उच्चारण को सुनना चाहिए अथवा उसकी ध्वनियों का वैज्ञानिक वर्णन पढ़कर उन्हें सीखना चाहिए। पहली विधि व्यवहार के लिए और दूसरी विधि शास्त्रीय विवेचन के लिए अधिक सुंदर और सरल होती है। इसी उद्देश्य से आजकल भाषा-वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकें[2] लिखी जाती हैं। उनसे

(१) Sound-scheme.

(२) अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटाली, पंजाबी, बंगाली आदि भाषाओं की सुंदर फोनेटिक रीडर × (Phonetic Readers) का डेनियल जोन्स ने संपादन किया है। इन्हें (London Phonetic Readers) भाषा-शास्त्र के विद्यार्थी को अवश्य देखना चाहिए।

सहज ही विदेशी ध्वनियों का ज्ञान हो जाता है। पर किसी मृत भाषा की—अमर वाणी की—ध्वनियों का ज्ञान इस प्रकार नहीं हो सकता। हमें उसके लिए बड़ी खोज करनी पड़ती है और तब भी सर्वथा संदेह दूर नहीं हो पाता। पर इतिहास की उत्सुकता शांत करने के लिए—भाषा के रहस्य का भेदन करने के लिए—अतीत काल की अमर बोलियों के ध्वनि-प्रबंध की खोज करना आवश्यक होता है। यदि अँगरेजी अथवा फ्रेंच का हमें वैज्ञानिक अध्ययन करना है तो ग्रीक और लैटिन का उच्चारण जानना चाहिए; यदि हमें हिंदी, मराठी, बँगला आदि का अच्छा अध्ययन करना है तो वैदिक, संस्कृत, प्राकृत आदि के उच्चारण का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इन प्राचीन भाषाओं के उच्चारण का पता कई ढंगों से लगता है। जैसे ग्रीक और लैटिन का प्राचीन उच्चारण जानने के लिए विद्वान् प्रायः निम्नलिखित बातों की खोज करते हैं—

(१) डायोनीसीअस (३० ई० पू०) और व्हारो (७० ई० पू०) के समान लेखकों के ग्रंथों में ध्वनियों का वर्णन और विवेचन।

(२) व्यक्तिवाचक नामों का प्रत्यक्षरीकरण भी उच्चारण का ज्ञापक होता है; जैसे—Κικέρων, Cyrus, Old Eng. bisceop; L. Episcopus, and Greek, ἐπίσκοπος.

(३) कुछ साहित्यिक श्लेष आदि के प्रयोगों पर।

(४) शिलालेखों के लेखों की परस्पर तुलना से।

(५) उन्हीं भाषाओं के जीवन-काल में ही जो वर्ण-विन्यास में परिवर्तन हो जाते हैं उनके आधार पर।

(६) आजकल की आधुनिक ग्रीक और इटाली, स्पेनी आदि रोमांस भाषाओं के प्रत्यक्ष उच्चारण के आधार पर।

(७) और साहित्य में पशु-पक्षियों के अव्यक्तानुकरणमूलक शब्दों को देखकर।

इस प्रकार हमें ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व की ग्रीक भाषा तथा उसके उत्तर काल की लैटिन के उच्चारण का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

संस्कृत के उच्चारण का भी पता इन सभी उपायों से लगाया गया है। संस्कृत के सबसे प्राचीन रूप वैदिक का भी उच्चारण हमें मिल गया है। अनेक ब्राह्मण आज भी वेद की संहिताओं का प्राचीन परंपरा के अनुकूल उच्चारण करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रंथों में उच्चारण का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन मिलता है। पाणिनि, पतंजलि आदि संस्कृत वैयाकरणों ने भी उच्चारण का अच्छा विवेचन किया है। ग्रीक, चीनी, तिब्बती आदि लेखकों ने संस्कृत के 'चंद्रगुप्त' आदि शब्दों का जो प्रत्यक्षरीकरण किया है वह भी प्राचीन उच्चारण का ज्ञापक होता है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता से संहिता को और उसके बाहर के ध्वनि-विकारों को देखकर यह पूर्ण निश्चय हो गया है कि भारत के प्राचीन वैयाकरणों ने जो ध्वनि-शिक्षा का विवेचन किया था वह सर्वथा वैज्ञानिक था[1]।

इसी प्रकार पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के उच्चारण का भी ज्ञान हमें शिलालेख, व्याकरण और साहित्य से लग[2] जाता है। भारतीय आर्यभाषा के विद्यार्थी को ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा संस्कृत, प्राकृत आदि के उच्चारण की विशेष आवश्यकता होती है अतः हम नीचे वैदिक, परवर्ती संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी और हिंदी के ध्वनि-समूह का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे हिंदी की ध्वनियों का एक इतिहास प्रस्तुत हो जाय।

हम पिछले प्रकरण में देख चुके हैं कि हमारी संस्कृत भाषा उस भारोपीय परिवार की कन्या है जिसका सुंदर अध्ययन हुआ है। इस परिवार की अनेक भाषाएँ आज भी जीवित हैं, अनेक

(१) देखो—Macdonell's Vedic Grammar p. 5.

(२) देखो—Woolner's Introduction to Prakrit.

के साहित्य-चिह्न मिलते हैं और इन्हीं के आधार पर इस परिवार की आदिमाता अर्थात् भारोपीय मातृभाषा की भी रूप-रेखा खींचने का यत्न किया गया है। अतः हिंदी की ध्वनियों का इतिहास[1] जानने के लिए उस भारोपीय मातृभाषा की ध्वनियों से भी संक्षिप्त परिचय कर लेना अच्छा होता है। यद्यपि आदिभाषा की ध्वनियों के विषय में मतभेद है तथापि हम अधिक विद्वानों[2] द्वारा गृहीत सिद्धांतों को मानकर ही आगे बढ़ेंगे। विशेष विवाद यहाँ उपयोगी नहीं प्रतीत होता। उस मूल भारोपीय भाषा में स्वर और व्यंजन दोनों की ही संख्या अधिक थी। कुछ दिन पहले यह माना जाता था कि संस्कृत की वर्णमाला सबसे अधिक पूर्ण है। यही ध्वनियाँ थोड़े परिवर्तन के साथ मूल भाषा में रही होंगी पर अब खोजों द्वारा सिद्ध हो गया है कि संस्कृत की अपेक्षा मूल भाषा में स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ कहीं अधिक थीं।

भारोपीय ध्वनि-समूह

स्वर—उस काल के अक्षरों का ठीक उच्चारण सर्वथा निश्चित तो नहीं हो सका है तो भी सामान्य व्यवहार के लिए निम्न-लिखित संकेतों[3] से उन्हें हम प्रकट कर सकते हैं।

(१) यदि हिंदी ध्वनियों के इतिहास के मुख्य काल-भाग करें तो (१) भारोपीय काल, (२) आर्य अर्थात् भारत-ईरानी काल, (३) वै० संस्कृत, (४) पाली, (५) प्राकृत, (६) अपभ्रंश, (७) पुरानी हिंदी और (८) आधुनिक हिंदी—ये आठ प्रधान काल माने जा सकते हैं। इन सभी कालों की भाषाएँ बड़ी उन्नत और साहित्य-संपन्न रही हैं।

(२) जर्मन विद्वानों की सर्वमान्य खोजों के आधार पर ही मेकडा-नेल (Vedic Grammar) और ज़ुलेनवेग (Manual of S. phonetics) ने अपने ग्रंथ लिखे हैं जिनके अँगरेजी रूपांतर भी मिलते हैं।

(३) नागरी के चिह्नों का प्रयोग करने से कुछ भ्रम हो जाने का भय है। इससे वर्तमान परिस्थिति में इन रोमन अक्षरों की सहायता से ही काम चला लेना सुविधाजनक होता है। उस मातृ-भाषा को एक विशेष लिपि में लिखना ही अच्छा होता है।

समानाक्षर—ă, ā; ĕ, ē; ŏ, ō; ə; ĭ, ī; ŭ, ū;

(१) इनमें से ă, ĕ, ŏ, ĭ, ŭ ह्रस्व अक्षर हैं। नागरी लिपि में हम इन्हें अ, ए, ओ, इ तथा उ से अंकित कर सकते हैं। (२) और ā आ, ē ए, ō ओ, ī ई और ū ऊ दीर्घ अक्षर होते हैं। (३) ə अ एक ह्रस्वार्ध स्वर है जिसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता। इसे ही उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं।

स्वनंत[1] वर्ण—उस मूल भाषा में कुछ ऐसे स्वनंत वर्ण भी थे जो अक्षर का काम करते थे; जैसे—m̥, n̥, r̥, l̥; नागरी में इन्हें हम म्̥, न्̥, र्̥, ल्̥ लिख सकते हैं। m̥, n̥ आक्षरिक अनुनासिक व्यंजन हैं और r̥, l̥ आक्षरिक द्रव (अथवा अंतस्थ) व्यंजन हैं।

संध्यक्षर—अर्धस्वरों, अनुनासिकों और अन्य द्रव वर्णों के साथ स्वरों के संयोग से उत्पन्न अनेक संध्यक्षर अथवा संयुक्ताक्षर भी उस मूलभाषा में मिलते हैं। इनकी संख्या अल्प नहीं है। उनमें से मुख्य ये हैं—

ai̯, āi̯, ei̯, ēi̯, oi, ōi; au̯, āu̯, eu̯, ēu̯, ou̯, ōu;
əm, ən, ər, əl.

व्यंजन—स्पर्श-वर्ण—

(१) ओष्ठ्य वर्ण- p, ph, b, bh.
(२) दंत्य- t, th, d, dh.

(१) स्वनंत (sonant) उन अनुनासिक और अंतस्थ व्यंजनों को कहते हैं जो अक्षर-रचना में स्वर का काम करते हैं। इन्हें आक्षरिक (syllabic) भी कह सकते हैं। समस्त वर्ण-समूह को दो वर्गों में बाँट सकते हैं (१) स्वनंत (Sonant) और (२) व्यंजन (Consonant)। आक्षरिक ध्वनि को स्वनंत कहते हैं और उसके साथ अंग होकर रहनेवाली ध्वनि को व्यंजन। इस प्रकार स्वनंत वर्ग में स्वर तो आ ही जाते हैं पर कुछ ऐसे व्यंजन भी आते हैं जो स्वर के समान आक्षरिक होते हैं। स्वर तो सभी स्वनंत और आक्षरिक होते हैं पर व्यंजनों में कुछ ही ऐसे होते हैं, इसी से अधिक विद्वान् sonant का sonant consonant के अर्थ में ही प्रयोग करते हैं।

(३) कंठ्य- q, qh, g, gh.

(४) मध्य कंठ्य- k, kh, g, gh.

(५) तालव्य[1]- k̑, k̑h, ĝ, ĝh.

अनुनासिक व्यंजन—m, n, ṅ (ङ) और ñ (ञ्)

अर्धस्वर—i̯ और u̯ अर्थात् य और व।

द्रव-वर्ण—अनुनासिक और अर्धस्वर वर्णों के अतिरिक्त दो द्रववर्ण अवश्य मूल भारोपीय भाषा में विद्यमान थे अर्थात् र् और ल्।

सोष्म ध्वनि— s स, z ज़, j य, v व्ह, γ ग[2], þ थ, đ द, ये सात मुख्य सोष्म ध्वनियाँ थीं।

यह हमारी भाषा की प्राथमिक ध्वनियों का दिग्दर्शन[3] हुआ। आगे हम अवेस्ता, संस्कृत आदि की ध्वनियों के विवेचन के समय इनकी भी यथासमय यथोचित तुलना करेंगे। वास्तव में हम दो भाषाओं को—वैदिक संस्कृत और वर्तमान हिंदी को—ही उपमान मानकर अन्य भाषाओं का वर्णन करेंगे क्योंकि इनमें से एक संसार की सबसे अधिक प्राचीन भाषा है और दूसरी सर्वथा आधुनिक हमारी बोलचाल की भाषा (हिंदी) है। इसी से जब हम अवेस्ता के अनंतर वैदिक ध्वनियों का परिचय पा जायँगे तभी सामान्य तुलना की चर्चा कर सकेंगे।

(१) ये तालव्य संस्कृत के तालव्य वर्ग वर्णों से भिन्न थे। इसी प्रकार कंठ्य और मध्य कंठ्य को भी भिन्न समझना चाहिए। संक्षेप में आगे तुलना की जायगी।

(२) यह सोष्म ग संस्कृत में आकर ह, अवेस्ता में ज़, ग्रीक में गामा γ, लैटिन में g और जर्मन में क हो गया है। देखो—Uhlenbeck, p. 78. § 66.

(३) यह तो ७१ से अधिक ध्वनियों का नामोल्लेख मात्र है। उनका संक्षिप्त विवेचन Uhlenbeck की S. phonetics में पढ़ना चाहिए।

अवेस्ता ध्वनि-समूह

अवेस्ता की ध्वनियाँ—

स्वर—

ह्रस्व समानाक्षर—a अ, i इ, u उ, ə अ॑, e ए, o ओ

दीर्घ समानाक्षर—ā आ, ī ई, ū ऊ, ə̄ आ॑, ē ए, ō ओ, āə आअ॑, a_e अँ अथवा ऑ

संध्यक्षर—āi ऐ, āu औ, ōi ओइ, aē अए, ao अओ, ə̄u आउ

ये सहज संध्यक्षर हैं। इनके अतिरिक्त गुण, वृद्धि, संप्रसारण आदि से भी अनेक संध्यक्षर बन जाते हैं।

स्वरांत— ŗ भी अवेस्ता में पाया जाता है।

व्यंजन—

कंठ्य —k क, h ख़, g ग, γ घ

तालव्य —c च, —— j ज, ——

दंत्य —t त, þ थ़, d द, d^t द़, t_e त़

ओष्ठ्य —p प, f फ, b ब, w व

अनुनासिक—n ङ, m म, n न, ṃ और ṇ

अर्धस्वर —y य, v व

द्रव-वर्ण — र

ऊष्म —s, š, §̌, §̣̌, z, ž

प्राण-ध्वनि—h ह, ḥ ह

बंधन[1] अथवा योग—h ह्व

नागरी लिपि-संकेतों से इनके उच्चारण का अनुमान किया जा सकता है; इसके सोष्म अर्थात् घर्ष वर्णों का उच्चारण विशेष ध्यान देने की बात है।

(1) Ligature.

(१) h ख़ Scotch 'loch' में ch के समान।

(२) y जर्मन 'tage' में के g ग़ के समान।

(३) p थ़ अँगरेजी के thin में th के समान।

(४) ḍ द़ अँगरेजी then में th के समान।

(५) ṭ त़ कभी कुछ कुछ थ़ के समान और कभी कुछ कुछ द़ के समान।

(६) f फ़ अँगरेजी fan में f के समान।

(७) w व्ह German w अथवा Modern Greek β के समान।

(८) s स sister में s के समान।

(९) z ज़ अँगरेजी zeal में z के समान (स का नाद प्रतिरूप)।

(१०) š श अँगरेजी dash में sh के समान।

(११) ž झ़ अँगरेजी के pleasure अथवा azure में सुन पड़नेवाली झ़ ध्वनि के समान।

(१२) š श और

(१३) š दोनों ही š श के भेद हैं। इन तेरह सोष्म ध्वनियों के अतिरिक्त जो तीन प्राण-ध्वनियाँ आती हैं उन्हें भी सोष्म मान सकते हैं क्योंकि वे spirant s से ही उत्पन्न होती हैं[1]।

अवेस्ता स्वरों में गुण, वृद्धि, संप्रसारण आदि का वर्णन प्रसंगानुसार आगे आवेगा पर यहाँ तीन प्रकार की विशेष ध्वनियों का विचार कर लेना उच्चारण की दृष्टि से आवश्यक है। अवेस्ता के अनेक शब्दों में कभी आदि में, कभी मध्य में और कभी अंत में

(१) इन अवेस्ता ध्वनियों का सुंदर विवेचन Jackson's Avesta Grammar part I में दिया हुआ है। नागरी लिपि में उच्चारण देने के साथ ही कहीं कहीं अँगरेजी, जर्मन आदि के उदाहरण इसलिए दिये गये हैं जिसमें अभिज्ञ विद्यार्थी विशेष लाभ उठा सकें। यही तुलना की पद्धति है। इस शास्त्र के विद्यार्थी से संस्कृत और अँगरेजी का ज्ञान तो अवश्य अपेक्षित होता है।

एक प्रकार की श्रुति होती है। इस ध्वनि-कार्य के तीन नाम हैं—पुरोहिति, अपिनिहिति और स्वरभक्ति।

(१) शब्द के आदि में व्यंजन के पहले उच्चारणार्थक इ अथवा उ के आगम को पुरोहिति अथवा पूर्वागम कहते हैं। जैसे—^{i}rinahti (सं० रिणक्ति) में i और ^{u}rūpay^{i}nti (सं० = रोपयंति) में u। यह पूर्वहिति अथवा पुरोहिति अवेस्ता में र से प्रारंभ होनेवाले शब्दों में सदा होती है। पर th थ़ के पूर्व में भी इसका एक उदाहरण मिलता है।

(२) अपिनिहिति का अर्थ है शब्द के मध्य में इ अथवा उ का आगम। यह मध्यागम तभी होता है जब उसी शब्द के उत्तर अंश अर्थात् पर अक्षर में इ, ई, ॠ, ए, य, उ अथवा व रहता है। र, न, त, प, व, न्ह आदि के पूर्व में इ का आगम होता है पर उ का आगम केवल र के पूर्व में होता है। पूर्वहिति के समान अपिनिहिति भी एक प्रकार की पूर्वश्रुति[1] ही है।

उदाहरण—bava^{i}ti (सं० भवति); ae^{i}ti (सं० एति); a^{i}ryo (सं० अर्यः); a^{u}runa (सं० अरुण); ha^{u}rvam (सर्वाम्)।

स्वर-भक्ति

(३) इसका शब्दार्थ है स्वर का एक भाग और इस प्रकार पुरोहिति और अपिनिहिति भी इसी के अंतर्गत आ सकती है क्योंकि उनमें भी तो स्वर का एक भाग ही सुन पड़ता है। पर स्वर-भक्ति का पारिभाषिक अर्थ यहाँ पर यह है कि अवेस्ता में दो संयुक्त व्यंजनों के बीच में

(१) पूर्वश्रुति (on-glide) की व्याख्या पीछे इसी प्रकरण में हो चुकी है। वास्तव में यहाँ इ और उ को आगम कहना उचित नहीं है क्योंकि पूर्ण ध्वनि का आगम नहीं होता—केवल एक लघु स्वर की श्रुति होती है और जब आगम होता है तब तो वह पूर्णोच्चरित इ अथवा उ वर्ण ही बन बैठता है। अतः आगम का साधारण अर्थ 'आना' (insertion) ही यहाँ अभिप्रेत है।

एक ऐसा स्वर आ जाता है जिसका छंद से कोई संबंध नहीं रहता। इन दो व्यंजनों में से एक प्रायः र रहता है। इसके अतिरिक्त अवेस्ता में स्वर-भक्ति अंतिम र के बाद अवश्य उच्चरित होती है। स्वर-भक्ति अधिकतर ə की और कभी कभी a, i अथवा ō की भी होती है।

उदाहरण—vah^{ə}ḍra = शब्द (सं० वक्त्र); z^{ə}mō पृथिवी का (ज्मा); gar^{ə}mō गर्म (सं० घर्मः); antr^{ə} भीतर (सं० अंतर्); hvar^{ə} सूर्य (सं० स्वः)।

वैदिक ध्वनि-समूह

अब हम तीसरे काल की ध्वनियों का विचार करेंगे। वैदिक ध्वनि-समूह, सच पूछा जाय तो इस भारोपीय परिवार में सबसे प्राचीन है। उस ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ पाई जाती हैं—१३ स्वर और ३९ व्यंजन।

स्वर—

नव समानाक्षर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ

चार संध्यक्षर—ए[1], ओ, ऐ, औ[2]

व्यंजन—

कंठ्य—क, ख, ग, घ, ङ

तालव्य—च, छ, ज, झ, ञ

(१) ए और ओ के मूल रूप अइ, अउ थे पर वैदिक संस्कृत में भी ये दोनों वर्ण समानाक्षर के समान उच्चरित होते थे।

(२) वास्तव में ऐ, औ वैदिक संध्यक्षर थे। इनका उच्चारण अइ, अउ के समान होता था; पर इनकी उत्पत्ति आइ, आउ से हुई थी। देखो—Whitney on A. pr. 1·40 and T. pr. II, 29 अथवा Uhlenbeck's Manual or Macdonell's Vedic Grammar.

मूर्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ळ[1], ळ्ह, ष

दंत्य—त, थ, द, ध, न

ओष्ठ्य—प, फ, ब, भ, म

अंतस्थ—य, र, ल, व

ऊष्म—श, ष, स

प्राणध्वनि—ह

अनुनासिक— ं (अनुस्वार)[2]

अघोष सोष्म वर्ण—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

ऐतिहासिक तुलना की दृष्टि से देखें तो वैदिक भाषा में कई परिवर्तन देख पड़ते हैं। भारोपीय मूलभाषा की अनेक ध्वनियाँ उसमें नहीं पाई जातीं। उसमें (१) ह्रस्व ĕ, ŏ और ə; (२) दीर्घ ē, ō; (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi, ĕu, ŏu; āi, ēi, ōi, āu, ēu, ōu; (४) स्वनंत अनुनासिक व्यंजन, (५) और नाद सोष्म z का अभाव हो गया है।

अभाव

वैदिक में (१) ĕ, ŏ के स्थान में ă अ, ə के स्थान में इ; (२) दीर्घ ē, ō के स्थान में आ; (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi के स्थान में ē ए, ĕu, ŏu के स्थान में ō ओ; और ăz, ĕz, ŏz के स्थान में भी ē, ō; (४) ṛ के स्थान में ईर, ऊर, ḷ के स्थान में ṛ ऋ; (५) āi, ēi,

परिवर्तन

ईळे और ईड्य; मीळ्हुषे और मीड्वान्

(1) ड और ढ दो स्वरों के बीच में ळ और ळ्ह हो जाते हैं। जैसे—~~ईळे पर ईड्य, मीळ्हुषे पर मीढ्वान्~~। देखो—ऋक्प्रातिशाख्य द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते सडकारो ळकारः। १। ५२। यही नियम हिंदी में ड़, ढ़ के विषय में भी लग सकता है।

(2) ङ, ञ, ण, न और म भी अनुनासिक हैं पर शुद्ध अनुनासिक एक अनुस्वार ही है।

oi के स्थान में ai ऐ; au, eu, ou के स्थान में au औ; आता है। इसके अतिरिक्त जब ऋ के पीछे अनुनासिक आता है, ऋ का ॠ हो जाता है। अनेक कंठ्य वर्ण तालव्य हो गये हैं। भारोपीय काल का तालव्य स्पर्श वैदिक में सोष्म श के रूप में देख पड़ता है।

अर्जन—सात मूर्द्धन्य व्यंजन और एक मूर्धन्य ष ये आठ ध्वनि वैदिक में नई संपत्ति है[1]।

आजकल की भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ५२ वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

स्वर— (तेरह स्वर)

	पश्च	मध्य अथवा मिश्र	अग्र
संवृत (उच्च)	ऊ, उ		ई, इ
अर्धसंवृत (उच्च-मध्य)	ओ	(अ)	ए
अर्ध-विवृत (नीच-मध्य)	....	....	....
विवृत (नीच)	आ, अ		
संयुक्त स्वर	औ		ऐ
आक्षरिक			ऋ, ॠ, ऌ

(१) विशद विवेचन के लिए देखो—Uhlenbeck's Manual of Sanskrit phonetics और Macdonell's Vedic Grammar.

व्यंजन—

	काकल्य	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	च ज	ट ड	त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख घ	छ झ	ठ ढ	थ ध	फ भ
अनुनासिक		ङ	ञ	ण	न	म
घर्ष वर्ण	ह,: (विस०)	≍ (जिह्वा०)	श	ष	स	≍ (उप०
पार्श्विक				ळ ळ्ह	ल	
उत्क्षिप्त					र	
अर्द्धस्वर			इ (य)			उ (व)

इन सब ध्वनियों के उच्चारण के विषय में अच्छी छानबीन हो चुकी है। (१) सबसे बड़ा प्रमाण कोई तीन हजार वर्ष पूर्व से अविच्छिन्न चली आनेवाली वैदिकों और संस्कृतज्ञों की परंपरा है। उनका उच्चारण अधिक भिन्न नहीं हुआ है। (२) शिक्षा और प्रातिशाख्य आदि से भी उस काल के उच्चारण का अच्छा परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त दूसरी निम्नलिखित सामग्री भी बड़ी सहायता करती है। (३) भारतीय नामों और शब्दों का ग्रीक प्रत्यक्षरीकरण (चीनी लेखों से विशेष लाभ नहीं होता पर ईरानी, मोन, ख्मेर, स्यामी, तिब्बती, बर्मी, जावा और मलय, मंगोल और अरबी के प्रत्यक्षरीकरण कभी कभी मध्यकालीन उच्चारण के निश्चित करने में सहायता देते हैं।) (४) मध्यकालीन आर्य-भाषाओं (अर्थात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि) और आधुनिक आर्य देश-भाषाओं (हिंदी, मराठी, बँगला आदि) के ध्वनि-

विकास से भी प्रचुर प्रमाण मिलता है। (५) इसी प्रकार अवेस्ता, प्राचीन फारसी, ग्रीक, गाथिक, लैटिन आदि संस्कृत की सजातीय भारोपीय भाषाओं की तुलना से भी सहायता मिलती है। (६) और इन सबकी उचित खोज करने के लिए ध्वनि-शिक्षा के सिद्धांत और भाषा के सामान्य ध्वनि-विकास का भी विचार करना पड़ता है।

इस प्रकार विचार करने पर जो प्राचीन उच्चारण की विशेषताएँ ध्यान में आती हैं उनमें से कुछ मुख्य बातें जान लेनी चाहिएँ। सबसे पहली बात यह है कि आज ह्रस्व 'अ' का उच्चारण संवृत होता है। उसका यही उच्चारण पाणिनि और प्रातिशाख्यों के समय भी होता था पर वैदिक काल के प्रारंभ में अ विवृत उच्चरित होता था। वह विवृत आ का ह्रस्व रूप था। (२) इसी प्रकार ऋ और ऌ का उच्चारण भी आज से भिन्न होता था। आज ऋ का उच्चारण रि अथवा रु के समान किया जाता है पर प्राचीन काल में ऋ स्वर थी—आक्षरिक र थी। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है कि ऋ के मध्य में र का अंश मिलता है (ऋ = $\frac{1}{4}$ अ + $\frac{1}{2}$ र + $\frac{1}{4}$ अ)। इस प्रकार वैदिक ऋ प्राचीन ईरानी (अर्थात् अवेस्ता) की (ərə) ध्वनि की बराबरी पर रखी जा सकती है। (३) ऌ का प्रयोग तो वेद में भी कम होता है और पीछे तो सर्वथा लुप्त ही हो गया। उसका उच्चारण बहुत कुछ अँगरेजी के little शब्द में उच्चरित आक्षरिक ल के समान होता था। (४) संध्यक्षर ए, ओ का उच्चारण जिस प्रकार आज दीर्घ समानाक्षरों के समान होता है वैसा ही संहिता-काल में भी होता था क्योंकि ए और ओ के परे अ का अभिनिधान हो जाता था। यदि ए, ओ संध्यक्षरवत् उच्चरित होते तो उनका संधि में अय और अव रूप ही होता। पर अति प्राचीन काल में वैदिक ए, ओ संध्यक्षर थे क्योंकि संधि में वे अ + इ और अ + उ से उत्पन्न होते हैं। ओतृ और अवः, ऐति और अयन जैसे प्रयोगों में भी यह संध्यक्षरत्व स्पष्ट देख पड़ता है। अतः वैदिक ए, ओ उच्चारण में तो भारोपीय मूलभाषा के समानाक्षर से प्रतीत होते हैं

पर वास्तव में वे अइ, अउ संध्यक्षरों के विकसित रूप हैं। (५) दीर्घ संध्यक्षर ऐ, औ का प्राचीनतम उच्चारण तो आइ, आउ है पर प्रातिशाख्यों के वैदिक काल में ही उनका उच्चारण अइ, अउ होने लगा था और यही उच्चारण आज तक प्रचलित है। (६) अवेस्ता के समान वैदिक उच्चारण की एक विशेषता स्वर-भक्ति भी है। जब किसी व्यंजन का रेफ अथवा अनुनासिक से संयोग होता है तब प्राय: एक लघु स्वर दोनों व्यंजनों के बीच में सुन पड़ता है। इस स्वर को स्वरभक्ति कहते हैं। जैसे इंद्र का इंदर (Indara), ग्ना का गना। इस स्वर-भक्ति की मात्रा $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{8}$ अथवा $\frac{1}{3}$ मानी गई है पर वह पूर्ण स्वर नहीं है। (७) इसके अतिरिक्त वैदिक उच्चारण में भी दो स्वरों के बीच में उसी प्रकार विवृत्ति पाई जाती थी जिस प्रकार पीछे प्राकृत में और आज देश-भाषाओं में मिलती है, परवर्ती लौकिक संस्कृत में विवृत्ति नहीं पाई जाती पर वैदिक में तितउ (चलनी) के समान शब्द तो थे ही; 'ज्येष्ठ' के समान शब्दों में भी ज्य + इष्ठ अ और इ का उच्चारण पृथक् पृथक् होता था।

व्यंजनों का उच्चारण आज की हिंदी में भी बहुत कुछ वैसा ही है। वैदिक तालव्य-स्पर्शों में सोष्मता कुछ कम थी पर पीछे सोष्म श्रुति इतनी बढ़ गई है कि तालव्य वर्ग को घर्ष-स्पर्श मानना ही उचित जान पड़ा। तालव्य श पहले तो कंठ और तालु के मध्य में उच्चरित होता था इसी से कभी क और कभी च के स्थान में आया करता था पर पीछे से तालु के अधिक आगे उच्चरित होने लगा इसी से वैदिक में श और स एक दूसरे के स्थान में भी आने-जाने लगे थे।

मूर्धन्य वर्ण तालु के मूर्धा से अर्थात् सबसे ऊँचे स्थान से उच्चरित होते थे। इसी से मूर्धन्य ष का प्राचीन उच्चारण जिह्वामूलीय x के समान माना जाता है। इसी कारण मध्यकाल में ष के स्थान में 'ख' उच्चारण मिलता है। उस प्राचीन मूर्धन्य उच्चारण से मिलता-जुलता ख होने से वही मध्यकाल से लेकर आज तक ष

का समीपी समझा जाता है। संस्कृत का स्नुपा, स्लाव्ह का स्नुख़ा (Snuxa), पप्तो और पख़्तो आदि की तुलना से भी ष के प्राचीन उच्चारण की यही कल्पना पुष्ट होती है। ळ, ळ्ह ऋग्वेद की किसी विभाषा में प्रयुक्त होते थे इसी से पाली से होते हुए अप-भ्रंश और हिंदी मराठी आदि में तो आ गये पर वे साहित्यिक संस्कृत, प्राकृत आदि से बाहर ही रहे।

द्वयोष्ठ्य ध्वनियों की अर्थात् प, फ, व आदि की कोई विशेषता उल्लेखनीय नहीं है पर उपध्मानीय फ़ (F) के उच्चारण पर ध्यान देना चाहिए। दीपक बुझाने में मुख से दोनों होठों के बीच से जो धौंकनी की सी ध्वनि निकलती है वही उपध्मानीय ध्वनि है। यह उत्तर भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में साधारण ध्वनि हो गई है। प्राचीन वैदिक काल में प के पूर्व में जो अघोष ह रहता था वह उपध्मानीय ध्वनि इसी F (फ़) की प्रतिनिधि थी। जैसे—पुन ⌣ पुनः। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों को ही संस्कृत में ⌣ इस चिह्न से प्रकट करते हैं। और उपध्मानीय की भाँति जिह्वामूलीय भी विसर्जनीय का एक भेद है। जो विसर्ग 'क' के पूर्व में आवे वह जिह्वामूलीय है; जैसे—ततः किम् में विसर्ग जिह्वा-मूलीय है। इसका उच्चारण जर्मन भाषा के ach में ch के रूप में मिलता है।

अर्द्धस्वर इ॒, उ॒ (य, व) वैदिक काल में स्वरवत् काम में आते थे पर पाणिनि के काल में आकर उ॒ सोष्म वकार हो गया। उसके दंतोष्ठ्य उच्चारण का वर्णन पाणिनीय व्याकरण में मिलता है पर व का द्वयोष्ठ्य उच्चारण भी उसी काल में प्रचलित हो गया था और आज तक चला जा रहा है। इस प्रकार परवर्ती संस्कृत-काल में सोष्म व के दो उच्चारण प्रचलित थे पर प्राचीनतर वैदिक-काल में उसमें स्वरत्व अधिक था। इ॒ भी पीछे सोष्म ध्वनि हो गई जिससे 'य' के स्थान में Zh ज़ के समान ध्वनि वैदिक काल में ही सुन पड़ने लगी थी।

अनुस्वार का वैदिक उच्चारण भी कुछ भिन्न होता था। आज अनुस्वार का उच्चारण प्रायः म अथवा न के समान होता है पर प्राचीन वैदिक काल में अनुस्वार स्वर के पीछे सुन पड़नेवाली एक अनुनासिक श्रुति थी। इसका विचार वैदिक भाषा में अधिक होता था पर आजकल उसका विचार अनुनासिक व्यंजनों के अंतर्गत मान लिया गया है।

वैदिक के बाद मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा के दो प्रारंभिक रूप हमारे सामने आते हैं। लौकिक संस्कृत और पाली। लौकिक संस्कृत उसी प्राचीन भाषा का ही साहित्यिक रूप था और पाली उस प्राचीन भाषा की एक विकसित बोली का साहित्यिक रूप। हम दोनों की ध्वनियों का दिग्दर्शन मात्र करावेंगे। पाणिनि के चौदह शिव-सूत्रों में बड़े सुंदर ढंग से परवर्ती साहित्यिक संस्कृत की ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उसका भाषा-वैज्ञानिक क्रम देखकर उसे घुणाक्षरन्यायेन बना कभी नहीं कहा जा सकता। उसमें भारतीय वैज्ञानिकों का तप निहित है। वे सूत्र ये हैं,—

१—अइउण्	८—झभञ्
२—ऋलृक्	९—घढधष्
३—एओङ्	१०—जबगडदश्
४—ऐऔच्	११—खफछठथचटतव्
५—हयवरट्	१२—कपय्
६—लण्	१३—शषसर्
७—ञमङणनम्	१४—हल्

पहले चार सूत्रों में स्वरों का परिगणन हुआ है। उनमें से भी पहले तीन में समानाक्षर गिनाये गये हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ—ये ग्यारहों वैदिक काल के समानाक्षर हैं; परवर्ती काल में अ का उच्चारण संवृत ʌ होने लगा था और ऋ तथा लृ का प्रयोग कम और उच्चारण संदिग्ध हो चला था।

(२) चौथे सूत्र में दो संध्यक्षर आते हैं। ऐ, औ।

(३) पाँचवें और छठे सूत्रों में प्राण-ध्वनि ह और चार अंतःस्थ वर्णों का नामोद्देश मिलता है। अ, इ, उ, ऋ, ऌ के क्रमशः बराबरी वाले व्यंजन ह, य, व, र, ल हैं। स्वरों के समान ये पाँचों व्यंजन भी घोष होते हैं।

(४) सातवें सूत्र में पाँचों अनुनासिक व्यंजनों का वर्णन है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि स्वर और व्यंजनों के बीच में अंतस्थ और अनुनासिक व्यंजनों का आना सूचित करता है कि इतनी ध्वनि आक्षरिक भी हो सकती हैं।

(५) इसके बाद ८, ९, १०, ११ और १२ सूत्रों में २० स्पर्श-व्यंजनों का परिगणन है। उनमें भी पहले ८, ९, १० सूत्रों में घोष-व्यंजनों का वर्णन है; उन घोष-स्पर्शों में से भी पहले महाप्राण घ, झ, ढ, ध, भ आते हैं तब अल्पप्राण ज, ब, ग, ड, द आते हैं। फिर ११ और १२ सूत्रों में अघोष स्पर्शों का वर्णन महाप्राण और अल्पप्राण के क्रम से हुआ है—ख, फ, छ, ठ, थ और क, च, ट, त, प।

(६) १३ और १४ सूत्र में अघोष सोष्म वर्णों का उल्लेख है—श, ष, स और ह। संस्कृत में ये ही घर्ष-व्यंजन हैं। इन्हें ही ऊष्मा कहते हैं। अंतिम सूत्र हल् ध्यान देने योग्य है। बीच में पाँचवें सूत्र में प्राण-ध्वनि ह की गणना की जा चुकी है। यह अंत में एक नया सूत्र रखकर अघोष तीन सोष्म ध्वनियों की ओर संकेत किया गया है। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय ये तीन प्राण-ध्वनि ह के ही अघोष रूप हैं।

इस प्रकार इन सूत्रों में क्रम से चार प्रकार की ध्वनियाँ आती हैं—पहले स्वर; फिर ऐसे व्यंजन जो स्वनंत स्वरों के समानधर्मा (corresponding) व्यंजन हैं; तब स्पर्श-व्यंजन और अंत में घर्ष-व्यंजन। आजकल के भाषा-वैज्ञानिक भी इसी क्रम से वर्णों का वर्गीकरण करते हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।
(२) ह, य, व, र, ल, ङ, ञ, ण, न, म।
(३) क, ख, ग, घ; च, छ, ज, झ इत्यादि बीसों स्पर्श।
(४) श, ष, स, ह।

पाली ध्वनि-समूह

पाली में दस स्वर अ आ इ ई उ ऊ ऎ ए ऒ ओ पाये जाते हैं। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ का सर्वथा अभाव पाया जाता है। ऋ के स्थान में अ, इ अथवा उ का प्रयोग होता है। ऐ औ के स्थान में पाली में ए ओ हो जाते हैं। संयुक्त व्यंजनों के पहले ह्रस्व ऎ ऒ भी मिलते हैं। वैदिक संस्कृत की किसी किसी विभाषा में ह्रस्व ऎ ऒ मिलते थे पर साहित्यिक वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत में तो उनका सर्वथा अभाव हो गया था (तेषां ह्रस्वाभावात्)। पाली के बाद ह्रस्व ऎ ऒ प्राकृत और अपभ्रंश में से होते हुए हिंदी में भी आ पहुँचे हैं। इसी से कुछ लोगों की कल्पना है कि ह्रस्व ऎ ऒ सदा बोले जाते थे पर जिस प्रकार पाली और प्राकृत तथा हिंदी की साहित्यिक भाषाओं के व्याकरणों में ह्रस्व ए ओ का वर्णन नहीं मिलता उसी प्रकार वैदिक और लौकिक संस्कृत के व्याकरणों में भी ऎ ऒ का ह्रस्व रूप नहीं गृहीत हुआ पर वह उच्चारण में सदा से चला आ रहा है।

व्यंजन

पाली में विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग नहीं होता। अंतिम विसर्ग के स्थान में ओ तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान में व्यंजन का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—सावको, दुक्ख, पुनप्पुनम्।

अनुस्वार का अनुनासिक व्यंजनवत् उच्चारण होता था।

पाली में श, ष, स तीनों के स्थान में स का ही प्रयोग होता था। पर पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में तीनों का प्रयोग मिलता

है। परवर्ती काल की मध्यदेशीय प्राकृत में अर्थात् शौरसेनी में तो निश्चय से केवल स का प्रयोग होने लगा।

संस्कृत के अन्य सभी व्यंजन पाली में पाये जाते हैं। तालव्य और वर्त्स्य स्पर्शों का उच्चारण-स्थान थोड़ा और आगे बढ़ आया था। पाली के काल में ही वर्त्स्य वर्ण अंतर्दंत्य हो गये थे। तालव्य स्पर्श-वर्ण उस काल में तालु-वर्त्स्य घर्ष-स्पर्श वर्ण हो गये थे। तालव्य व्यंजनों का यह उच्चारण पाली में प्रारंभ हो गया था और मध्य प्राकृतों के काल में जाकर निश्चित हो गया। अंत में किसी किसी आधुनिक देश-भाषा के प्रारंभ-काल में वे ही तालव्य च, ज दंत्य घर्ष-स्पर्श t͡s, d͡s और दंत्य ऊष्म स, ज़ हो गये[1]।

प्राकृत ध्वनि-समूह

पाली के पीछे की प्राकृतों का ध्वनि-समूह प्रायः समान ही पाया जाता है। उसमें भी वे ही स्वर और व्यंजन पाये जाते हैं। विशेषकर शौरसेनी प्राकृत तो पाली से सभी बातों में मिलती है। उसमें पाली के ड़, ढ़ भी मिलते हैं। पर न और य शौरसेनी में नहीं मिलते। उनके स्थान में ण और ज हो जाते हैं।

अपभ्रंश का ध्वनि-समूह

अपभ्रंश काल में आकर भी ध्वनि-समूह में कोई विशेष अंतर नहीं देख पड़ता। शौरसेन अपभ्रंश की ध्वनियाँ प्रायः निम्नलिखित थीं—

स्वर

	पश्च	अग्र
संवृत		
ईषत्संवृत	ऊ, उ	ई, इ
	ओ, ओ	ए, ए
ईषद्विवृत	अ	
विवृत	आ	

(१) देखो—S.K. Chatterji. Origin and Development of Bengali §31-132.

व्यंजन

	काकल्य	कंठ्य	मूर्धन्य	तालव्य	तालु-वर्त्स्य	दंत्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	ट ड			त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख, घ	ठ ढ			थ ध	फ भ
स्पर्श-घर्ष					च ज छ झ		
अनुनासिक		ङ	ण		ञ	न्ह, न	म्ह, म
पार्श्विक			ड़, ढ़		ल		
उत्क्षिप्त					र		
घर्ष अर्थात् सोष्म	ह					स	व, वँ
अर्ध स्वर				य			व

हिंदी ध्वनि-समूह

ये अपभ्रंश-काल की ध्वनियाँ (१० स्वर और ३७ व्यंजन) सभी पुरानी हिंदी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त ऐ (अए) और औ (अओ) इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी[1] हिंदी में मिलता है। विदेशी भाषाओं से जो व्यंजन आये थे वे सब तद्भव बन गये थे। अंत में आधुनिक हिंदी का काल आता है। उसमें स्वर तो वे ही पुरानी हिंदी के १२ स्वर हैं, पर व्यंजनों में वृद्धि हुई है। क़, ग़, ख़, ज़, फ़ के अतिरिक्त ऑ तथा श आदि अनेक ध्वनियाँ तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होने लगी हैं। केवल ऋ, ष, ञ् ऐसे व्यंजन हैं जो नागरी लिपि में हैं और संस्कृत तत्सम शब्दों में आते भी हैं पर वे हिंदी में शुद्ध उच्चरित नहीं होते; अतः उनका हिंदी में अभाव ही मानना चाहिए। इन हिंदी ध्वनियों का विवेचन पीछे हो चुका है[2]।

(१) पुरानी हिंदी से कई विद्वान् परवर्ती अपभ्रंश का बोध कराते हैं (देखो—ना० प्र० पत्रिका, भाग २, नवीन संस्करण, पृ० १३-१४), पर हमने पुरानी हिंदी से खड़ी बोली के गद्य-काल के पूर्व की हिंदी का अर्थ लिया है।

(२) देखो—पीछे इसी प्रकरण में पृ० २८८।

इस प्रकार भिन्न भिन्न काल की भारतीय आर्य भाषाओं के ध्वनि-समूह से परिचय कर लेने पर उनकी परस्पर तुलना करना, तुलना के आधार पर ध्वनियों के इतिहास का विचार करना भाषा-शास्त्र का एक आवश्यक अंग माना जाता है। यह ध्वनि-विकारों का अथवा ध्वनियों के विकास का अध्ययन कई प्रकार से किया जा सकता है। (१) एक विधि यह है कि किसी भाषा की ध्वनियों का इतिहास जानने के लिए हम उस भाषा की पूर्वज किसी भाषा की एक एक ध्वनि का विचार करके देख सकते हैं कि उस प्राचीन एक ध्वनि के इस विकसित भाषा में कितने विकार हो गये हैं; जैसे—हम संस्कृत की ऋ के स्थान में पाली में अ, इ, उ, रि, रु आदि अनेक ध्वनियाँ पाते हैं। प्राचीनतर संस्कृत भाषा के मृत्यु, ऋषि, परिवृतः, ऋत्विज, ऋते, वृक्ष आदि और पाली के मच्चु, इसि, परिवुतो, इरित्विज, रिते, रुक्ख आदि की तुलना करके हम इस प्रकार का निश्चय करते हैं। इसी प्रकार का अध्ययन भारत के अनेक वैयाकरणों[1] ने किया था। वे संस्कृत की ध्वनियों को प्रकृति मानकर तुलना द्वारा यह दिखलाते थे कि संस्कृत की किस ध्वनि का पाली अथवा प्राकृत में कौन विकार हो गया है। इसी ढंग से कई विद्वान् आज[2] हिंदी की ध्वनियों का संस्कृत से संबंध दिखाकर हिंदी ध्वनियों का अध्ययन करते हैं। (२) दूसरी विधि यह है कि जिस भाषा का अध्ययन करना हो उसकी एक एक ध्वनि को लेकर उसके पूर्वजों का पता लगाना चाहिए। यदि संस्कृत के ध्वनि-समूह का अध्ययन करना है तो उसकी एक एक ध्वनि को लेकर प्राचीन भारोपीय भाषा से उसका संबंध दिखाने का यत्न

(१) देखो—कच्चायन का पाली व्याकरण, वररुचि का प्राकृत-प्रकाश, चंड का प्राकृत-लक्षण, हेमचंद्र का हैम-व्याकरण आदि।

(२) देखो—बीम्स (Comp. Gr. I,124—360) और भांडारकर (*J.B.R.A. XVII, II, 99-182*) ने आधुनिक भारतीय भाषाओं की ध्वनियों का विचार संस्कृत की दृष्टि से किया है।

करना चाहिए[1]। उदाहरणार्थ—संस्कृत की अ ध्वनि को लेते हैं। संस्कृत 'अ' भारोपीय अ, ऄ, ऒ, मॢ, नॢ सभी के स्थान में आता है। संस्कृत के अंबा, जनः, अस्थि, शतम्, मतः क्रमशः पाँचों के उदाहरण हैं। ऐसा ऐतिहासिक अध्ययन बड़ा उपयोगी होता है।

यदि ऐसा ही ऐतिहासिक विवेचन किसी आधुनिक आर्य भाषा[2] का किया जाय तो केवल भारोपीय भाषा से नहीं, वैदिक, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी की ध्वनियों का विवेचन करके उनसे अपनी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा की ध्वनियों की तुलना करनी होगी। इसी प्रकार हिंदी के ध्वनि-विकारों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए उसकी पूर्ववर्ती सभी आर्य भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। अभी जब तक इन सब भाषाओं का इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ है तब तक यह किया जाता है कि संस्कृत की ध्वनियों से हिंदी की ध्वनियों की तुलना करके एक साधारण इतिहास बना लिया जाता है; क्योंकि संस्कृत प्राचीन काल की और हिंदी आधुनिक काल की प्रतिनिधि है। हिंदी-ध्वनियों का विचार तो तभी पूर्ण हो सकेगा जब मध्यकालीन भाषाओं का भी सुंदर अध्ययन हो जाय।

ध्वनि-विचार

इस प्रकार तुलना और इतिहास की सहायता से भिन्न भिन्न कालों की ध्वनियों का अध्ययन करके हम देखते हैं कि ध्वनियाँ सदा एक सी नहीं रहतीं—उनमें विकार हुआ करते हैं। इन्हीं विकारों के अध्ययन

(१) अनेक जर्मन विद्वानों ने संस्कृत की ध्वनियों का ऐसा तुलनामूलक ऐतिहासिक अध्ययन किया है। इस विषय पर अँगरेजी में दो ग्रंथ देखने योग्य हैं—१. Uhlenbeck's Manual of S. Phonetics और २. Macdonell's Vedic Grammar.

(२) एक भाषा का ही नहीं, पूरे भाषा-परिवार का ध्वनि-विचार और भी अधिक लाभकर होता है। हमारी हिंदी जिस हिंद-ईरानी अथवा आर्य परिवार की वंशज है उसका अध्ययन ग्रे ने अपने "हिंदी-ईरानी ध्वनि-विचार' में किया है—cf. Indo-Iranian Phonology by Gray.

को ध्वनि-विचार कहते हैं। ध्वनि-विकारों के भेद, उनके कारण तथा उनके इतिहास का अध्ययन और इसी अध्ययन के आधार पर स्थिर किये हुए सामान्य तथा विशेष नियम सभी ध्वनि-विचार के अंतर्गत आते हैं।

प्रत्येक भाषा के ध्वनि-विचार की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं अतः सभी भाषाओं के ध्वनि-विकारों के सभी भेदों का वर्णन एक स्थान में नहीं हो सकता, तो भी कुछ सामान्य भेदों का परिचय यहाँ दिया जाता है—

(१) मात्रा-भेद

अर्थात् ह्रस्व स्वरों का दीर्घ हो जाना तथा दीर्घ का ह्रस्व हो जाना ध्वनि-विकार का एक सामान्य भेद है। जैसे—

ह्रस्व से दीर्घ हो जाना

सं०	अपभ्रंश	हिंदी
भक्तः	भत्तु	भात
खट्वा	खट्टा	खाट
पक्वः	पक्कु	पको, पका
जिह्वा	जिब्भा	जीभ
मृत्युः	मिच्चु	मीच

यह दीर्घ करने की प्रवृत्ति मराठी में इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि संप्रदाय, मदन, रथ, कुल आदि जैसे तत्सम शब्द भी मराठी में सांप्रदाय, मादन, राथ, कूल आदि अर्ध-तत्सम रूप में पाये जाते हैं। पुर, वहिन, परख आदि के लिए मराठी पूर, वहीन, पारख आदि रूप प्रसिद्ध हैं।

दीर्घ का ह्रस्व हो जाना

सं०	अ०	म०	हिं०
कीटकः	कीडो	किडा	कीडा

कीलक:	कीलउ	खिला	खीला
घोटक:	घोडउ		घोडा
दीपालय:	दीवालउ (बं० दिवार)		दीवाल

यद्यपि यह ह्रस्व करने की प्रवृत्ति आदर्श हिंदी की खड़ी बोली में नहीं है तथापि पूर्वी हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि में प्रचुर मात्रा में है। यह मात्रा-भेद बल अर्थात् आघात के अनुसार होता है और वह हिंदी में भी देख पड़ता है; जैसे—मीठा, बाट, काम, भीख आदि में पहले अक्षर पर बल है पर जब वही बल का झटका आगे के अक्षर पर आ जाता है तब दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है; जैसे—मिठा'स, बटोहीं', कमा'उ, भिखा'री आदि।

(२) लोप

कई प्रकार का होता है—वर्णलोप, अक्षरलोप, आदि-लोप, मध्य-लोप, अंत-लोप आदि। वर्ण-लोप के भी दो भेद होते हैं—स्वर-लोप और व्यंजन-लोप।

(अ) प्राकृतों में व्यंजन-लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्राकृत पदों के अंत में व्यंजनों का सदा लोप हो जाता है और मध्य में भी प्राय: व्यंजन-लोप का कार्य देखा जाता है[1]। हिंदी में व्यंजनों का लोप नहीं देखा जाता, प्रत्युत वैदिक संस्कृत के समान हिंदी में भी पद के अंत में सभी व्यंजन पाये जाते हैं। यद्यपि लिखने में स्वर की मात्रा प्राय: रहती है तथापि वास्तव में अधिक शब्द हलंत (अर्थात् व्यंजनांत) ही होते हैं; जैसे—माङ्, माँग्, सीख् आदि हलंत पद ही हैं जो स्वरांत लिखे जाते हैं। आदि-व्यंजन-लोप के उदाहरण भी प्राचीन आर्ष अपभ्रंश (वैदिक) में श्चंद्र: से चंद्र और स्तारा से तारा आदि मिलते हैं।

आदि-व्यंजन-लोप

आदि-व्यंजन-लोप के उदाहरण अँगरेजी, ईरानी आदि भाषाओं में भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं; जैसे—(१) आदि-व्यंजन-लोप—

(१) देखो—Woolner's Inroduction to Prakrit p. 12-16.

अँगरेजी knight hour, heir आदि; अवे० हंजुमन (सभा) > अंजुमन (आ० फा०), सं० हस्त > फा० अथ, सिंहली अत; सं० शुष्क > फा० उश्कुदन; अवे० हुश्क > प्रा० फा० उस्क; सं० स्थान > हिं० थान, ठाँव; सं० स्थाणु > प्रा० थाणू; अं० Station > हिं० टेशन; सं० ज्वल > बलना; सं० द्वे से वे आदि सब में आदि-लोप ही तो हुआ है।

मध्य-व्यंजन-लोप

सं०	प्रा०
सागर:	साअरो
वचनं	वअणं
सूची	सूई
प्रियगमनं	पिअगमणं
नगर	णअर
उत्तान	उतान
कवित्तावली	कवितावली
घरद्वार	घरबार

अँगरेजी में भी night, light, daughter जैसे मध्य-व्यंजन-लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

अंत-व्यंजन-लोप

सं०	प्रा०
पश्चात्	पश्चा
यावत्	जाव
पुनर्	पुण
सम्यक्	सम्मं
अभरत्	εφερε. (ग्रीक)

ग्रीक का उदाहरण इसलिए दिया है कि प्राकृत की भाँति

ग्रीक में भी अंतिम व्यंजन का लोप हो जाता है। संस्कृत में शब्द के अंत में व्यंजन तो रहते हैं पर पदांत में यदि कोई संयुक्त व्यंजन आ जाता है तो अंतिम का प्रायः लोप हो जाता है। जैसे— अभरंत् से अभरन्, वाक्+स से वाक्।

(आ) स्वर-लोप[1]—

आदि-स्वर-लोप

सं०	हिं०
अभ्यंतर	भीतर
अभि + अञ्ज्	भींजना
अपि	भी
अरघट्ट	रहटा
अतसी	तीसी
उपविष्ट	बैठा
अस्ति	है
उपायन	बायन, बैना
एकादश	ग्यारह

मध्य-स्वर-लोप

जैसे राजन् में अ का लोप होने से ही राज्ञा अथवा राज्ञी बनता है, वैसे ही गम् धातु से जग्मुः, deksiterous से लै० dexter, दुहिता से धीदा, धीआ आदि में भी वही मध्य-लोप देख पड़ता है और जैसे मराठी में पल्डा, बराल्डा आदि मध्य-लोप वाले शब्द होते हैं वैसे हिंदी में भी बहुत होते हैं पर लिखने में वे हलंत नहीं लिखे जाते। इस लिपि का एक कारण यह भी है कि वास्तव में मध्य-स्वर का लोप नहीं होता है, केवल उसका उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे—

(१) देखो—Beame's Comparative Grammar, § 46. हिंदी शब्दों में स्वर-लोप के अच्छे उदाहरण संगृहीत हैं।

लिखित रूप	उच्चरित रूप
इमली	इम्ली
बोलना	बोल्ना
गरदन	गर्दन
तरबूज़	तर्बूज़
समझना	समझ्ना

अंत्य-स्वर-लोप

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल के अंत में संस्कृत के दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ—प्राकृत शब्दों के अंत में पाये जाते थे पर आधुनिक काल के प्रारंभ में ही ये ह्रस्व स्वर हो गये थे और धीरे धीरे लुप्त हो गये। इस प्रकार हिंदी के अधिक तद्भव शब्द व्यंजनांत होते हैं।

सं०		हिं०
निद्रा	से	नींद
दूर्वा	"	दूब
जाति	"	जात्
ज्ञाति	"	नात्
भगिनी	"	बहिन्
बाहु	"	बाँह्
संगे	"	संग्
पार्श्वे	"	पास्

शब्द के अंत में जो व्यंजन अथवा स्वर रहते हैं वे धीरे धीरे क्षीण होकर प्रायः लुप्त हो जाते हैं। वैदिक से लेकर हिंदी तक की ध्वनियों का इतिहास यही बताता है।

(१) अक्षर-लोप[1]—छः प्रकार के वर्ण-लोप के अतिरिक्त अक्षर-लोप के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। अक्षर का पारिभाषिक

(१) आदि-वर्ण-लोप को Aphæresis, मध्य-वर्ण-लोप को Syncope, अंत्य वर्ण-लोप को Apocope और अक्षर-लोप को Haplology कहते हैं। अधिकांश अँगरेजी और जर्मन लेखकों ने इन शब्दों का यही अर्थ लिया है तो भी कुछ लेखक अपने विशेष अर्थों में भी उनका

अर्थ पीछे दिया जा चुका है। जब एक ही शब्द में दो समान अथवा मिलते-जुलते अक्षर एक ही साथ आते हैं तो प्रायः एक अक्षर का लोप हो जाता है; जैसे—वैदिक भाषा में मधुदुघ (मधु देनेवाला) का म-दुघ हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण वैदिक और लौकिक संस्कृत में मिलते हैं; जैसे—शेववृधः से शेवृधः, तुवीरववान् से तुवीरवान्, शष्पपिंजर से शष्पिञ्जरः, आदत्त से आत्त, जहीहि से जहि। हिं० बीता (वितस्ति), हिं० पाधा (उपाध्याय), म० सुकेलें (सुकें + केलें), गुराखी (गुरे + राखी) आदि भी अच्छे उदाहरण हैं। पर्यंक-ग्रंथि से पलत्थी और 'मानत हतो' से मानत थो (मानता हता से मानता था) में भी अक्षर-लोप का प्रभाव स्पष्ट है।

आगम भी लोप ही के समान स्वर और व्यंजन दोनों का होता है। और यह द्विविध वर्णागम शब्द के आदि, अंत और मध्य, सभी स्थानों में होता है; जैसे-(१) आदि व्यंजनागम ओष्ठ, अस्थि से होठ, हड्डी।

(३) आगम

(२) मध्य व्यंजनागम—निराकार, व्यास, पण, शाप, वानर, सूनरी, सुख से क्रमशः निरंकाल, ब्रासु, प्रण, श्राप, वंदर, सुंदरी, सुक्ख। य और व की श्रुति तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी आदि सभी में पाई जाती है, विष्णु इह = विष्णविह, मअंक = मयंक, गतः > गअ > गया आदि श्रुतियों के उदाहरण सभी काल में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। पाली में अन्य व्यंजनों के मध्य आगम के उदाहरण भी अनेक मिलते हैं; जैसे—संम + ज्ञा = संमदञा (सम्यक ज्ञान), आरगो + इव = आरगोरिव (आरी के समान)। बोलचाल में नंगा, निंदा, रेल आदि निहंग, निन्द्या, रेहल आदि हो जाते हैं। संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों के साथ जो 'यम' का वर्णन आता है वह भी एक प्रकार का मध्यागम ही है। गुजराती का अमदावाद हिंदी में अहमदाबाद हो जाता है। यह ह भी मध्यागम ही है।

प्रयोग करते हैं अतः विद्यार्थी को प्रसंगानुसार पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने का यत्न करना चाहिए। इसी से इस ग्रंथ में जो अर्थ गृहीत हुए हैं वे यथास्थान स्पष्ट कर दिये गये हैं।

(३) अंत्य व्यंजनागम—छाया > छावँ > छावँह; कल्य > कल्ल > कल > कल्ह।

(४) आदि स्वरागम[1]—लै० schola > फ्रॅं० ecole अं० स्कूल से इस्कूल, स्टेशन से इस्टेशन, सं० स्नान से अस्नान, स्त्री से इस्त्री, इस्त्रिया, इस्थी आदि आदि स्वरागम के उदाहरण हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि उसी स्त्री शब्द से आदि लोप द्वारा तिरिया और आदि-आगम द्वारा इस्त्रिया के समान शब्द बनते हैं। ग्रीक, अवेस्ता आदि कई भाषाओं में यह आदि स्वरागम अथवा पुरोहिति की विशेष प्रवृत्ति देख पड़ती है।

(५) मध्य स्वरागम—इंद्र का इंदर, दर्शत (दरशत = वै०), भ्रम का भरम, प्रकार का परकार, स्वर्ण से सुवर्ण; सुवर्ण से सुवरन, क्लांत से किलिंत, स्निग्ध से सिणिद्ध, पत्नी से पतनी, मनोर्थ से मनोरथ मध्य स्वरागम के भी दो भेद किये जाते हैं—(क) जब दो संयुक्त व्यंजनों के बीच में किसी स्वर का आगम होता है तब वह स्वर-भक्ति[2] अथवा युक्त-विकर्ष के कारण होता है; जैसे—सं० श्लाघा पा० सिलाघा, प्रा० सलाहा, हिं० सराहना।

(ख) दूसरे प्रकार का स्वरागम अपिनिहिति[3] के कारण होता है; जैसे—+~~वेलम का वेइलम, वेल से वेइल आदि~~। इसके उदाहरण अवेस्ता में अधिक मिलते हैं।

अपिनिहिति के उदाहरण हिंदी में कम मिलते हैं पर स्वर-भक्ति के आगमवाले तद्भव शब्द हिंदी में बहुत हैं।

(१) आदि स्वरागम को ही पुरोहिति अथवा Prothesis कहते हैं। इसका वर्णन पीछे इसी प्रकरण में आ चुका है।

(२) स्वर-भक्ति और अपिनिहिति के लिए भी देखो पीछे इसी प्रकरण में पृष्ठ १९६। स्वर-भक्ति और युक्त-विकर्ष का प्राचीन संस्कृत में कुछ भिन्न अर्थ होता था।

(३) अपिनिहिति और स्वर-भक्ति में स्थूल भेद यह है कि एक असंयुक्त वर्णों के बीच में और दूसरी संयुक्त वर्णों के बीच में श्रुति अथवा आगम का कारण बनती है।

\+ वल्ली > वइल्लि > वइल ; वइल्ल ; वइल्लु > बेल , बैल
वर्त्ती (नल) > वइत्ति > वइल > वेल > वेली , वेला
पर्व > पउरु > पउर > पोर ।

जैसे—अगनी, अगनबोट, हरख, परताप, मिसिर, सुकुल, पूरुब, भगत आदि।

(६) अंत्य स्वरागम—शब्द के अंत में स्वर और व्यंजन का लोप तो प्रायः सभी काल के भा० आर्य भाषाओं में पाया जाता है पर अंत में स्वर का आगम नहीं पाया जाता। कुछ लोगों की कल्पना है कि प्राकृत काल के भल्ल[1] और भद्र जैसे शब्दों के अंत में 'आ' का आगम हुआ है पर यह सिद्धांत अभी विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है।

प्राचीन ईरानी भाषाओं में अंत्य स्वरागम भी पाया जाता है; जैसे—सं० अंतर्, अवे० में antar के समान उच्चरित होता है।

(४) वर्ण-विपर्यय

अनेक शब्दों के वर्णों का आपस में स्थान-परिवर्तन हो जाने से नये शब्दों की उत्पत्ति हो जाती है। यह विपर्यय की प्रवृत्ति कई भाषाओं में अधिक और कई में कम—सभी भाषाओं में कुछ न कुछ पाई जाती है। हिंदी में भी इस विपर्यय अथवा व्यत्यय के सुंदर उदाहरण मिलते हैं—

स्वर-विपर्यय

सं०	हिं०
उल्का	लूका
अंगुली	उँगली
एरंड	रेंड़; रेंड़ी
अम्लिका	इमली
विंदु	बुंद, बूँद
इक्षु	ऊख

(१) खड़ी बोली की संज्ञाओं और विशेषणों के अंत में पाया जानेवाला 'आ' आधुनिक विद्वानों के अनुसार 'क' प्रत्यय का विकार है अर्थात् घोटकः, भद्रकः आदि से घोड़ा, भला आदि बने हैं, पर ऐसी भी कल्पना की जाती है कि यह खड़ी बोली के क्षेत्र की उच्चारण-गत विशेषता है कि वहाँ के लोग दीर्घविवृत 'आ' का विशेष प्रयोग करते हैं। अतः इसके लिए एक काल्पनिक 'क' की कल्पना आवश्यक नहीं है।

सं०	हिं०
श्मश्रु	मूछ
सन्धि	सेंध
पशु	पोहे (बो०)
ससुर (बो०)	सुसर

व्यंजन-विपर्यय

विडाल	बिलार
लघुक	हलुक
गृह	घर
परिधान	पहिरना
गरुड	गडुर
लखनउ	नखलउ
चाकू	काचू
नुक्सान	नुस्कान
आदमी	आमदी
बताशा	बसाता
पहुँचना	चहुँपना

भाषा में अनेक ध्वनि-विकार संधि द्वारा होते हैं। स्वरों के बीच में जो विवृत्ति रहती है वह संधि द्वारा प्रायः विकार उत्पन्न किया करती है; जैसे—स्थविर का गिरनार के शिलालेख में 'थइर' रूप मिलता है; अब अ+इ के बीच की विवृत्ति मिटकर संधि हो जाने से 'थेर' (=वृद्ध) रूप बन जाता है। भाषा के विकास में ऐसे संधिज विकारों का बड़ा हाथ रहता है।

(४) संधि और एकीभाव[1]

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उदाहरण लें तो मध्य-व्यंजन-लोप होने पर स्वरों की तीन ही गतियाँ होती हैं—(१) या तो

(१) व्यंजन-संधि के विकारों को सावर्ण्य और असावर्ण्य के व्यापक भेदों में ले लेने से यहाँ संधि का अर्थ स्वर-संधि ही लेना चाहिए।

स्वरों के बीच में विवृत्ति रहे जैसे हुआ; अथवा (२) बीच में य अथवा व का आगम हो जैसे गतः से गअ होने पर गवा और गया रूप बनते हैं; अथवा (३) संधि द्वारा दोनों स्वरों का एकीभाव हो जाय, जैसे चलइ का चलै, मइं का मैं आदि। ऐसे तीसरे प्रकार के ध्वनि-विकारों[1] का अर्थात् स्वर-संधि द्वारा हुए परिवर्तनों का हमारी आधुनिक देश-भाषाओं में बाहुल्य देख पड़ता है। उदाहरण—खादति > खाअइ > खाइ और खाय; राजदूतः > राअउत्तु > राउत; चर्मकारः > चम्म आरु > चमार; वचनं > वअणं > वयणु > वइन; नगरं > णअरो > नयरु > नइर > नेर (हिं०); समर्पयति > सअँप्पेइ > सउँपे > सौंपे; अपरः > अवरु > और; मुकुट > मउडु > मौर; मयूर > मऊरो > मऊर > मोर; शतं > सअं, स-ओ और सए[2] > सउ, सइ > सव, सौ, सै, सय सो (गु०) इत्यादि।

(६) सावर्ण्य[3] अथवा सारूप्य

भाषा की यह साधारण प्रवृत्ति है कि ध्वनियाँ एक दूसरे पर प्रभाव डाला करती हैं, कभी कोई वर्ण दूसरे वर्ण को सजातीय तथा सरूप बनाता है और कभी सजातीय को विजातीय और विरूप। एक वर्ण के कारण दूसरे वर्ण का सजातीय अथवा सवर्गीय बन जाना सावर्ण्य कहलाता है और विजातीय हो जाना असावर्ण्य। सावर्ण्य और असावर्ण्य दोनों ही दो दो प्रकार के होते हैं—(१) पूर्व-सावर्ण्य, (२) पर-सावर्ण्य, (३) पूर्वासावर्ण्य, (अथवा पूर्व वैरूप्य) (४) परा-

(१) इनके उदाहरणों के लिए देखो—Grierson: On phonology of the Modern Indo-Aryan Vernaculars. (Z. D. M. G. 1895 P. 417-21)

(२) प्राकृत-काल में ये तीनों रूप पाये जाते हैं।

(३) सवर्ण होना सावर्ण्य कहलाता है। सवर्ण उन वर्णों को कहते हैं जिनका प्रयत्न और स्थान एक होता है। देखो—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्—पाणिनि० अष्टा०। यहाँ सवर्णसंज्ञा पारिभाषिक अर्थ से कुछ अधिक व्यापक अर्थ में ली गई है। इसी से प्रयत्न का अर्थ केवल आभ्यंतर प्रयत्न नहीं किया गया है, क्योंकि पुरानी परिभाषा के अनुसार क और ग सवर्ण हैं पर एक अघोष है और दूसरा घोष, अतः यहाँ दोनों सवर्ण नहीं माने जाते।

सावर्ण्य। जब पूर्व-वर्ण के कारण पर-वर्ण में परिवर्तन होता है तब (क) यह कार्य पूर्वसावर्ण्य कहलाता है; जैसे—चक्र से चक्क; सपत्नी से सवत्ती, अग्नि से अग्गी इत्यादि। यहाँ चक्र में क ने र को, सपत्नी में त ने न को और अग्नि में ग ने न को अपना सवर्ण बना लिया है। प्राकृत में इस प्रकार के मुक्क (मुक्त), तक्क (तक्र), वग्घ (व्याघ्र), वेरग्ग (वैराग्य) आदि असंख्य शब्द इसी सावर्ण्य विधि से निष्पन्न होते हैं। यही सावर्ण्य देखकर ही मूर्धन्यभाव[1] का नियम बनाया गया है। उसी पद में र[2] और ष के पर में जो दंत्य-वर्ण आता है वह मूर्धन्य हो जाता है; जैसे—तृण, मृणाल, रामेण, मृग्यमाण, स्तृणोति, मृण्मय आदि। यह नियम वैदिक प्राकृत सभी में लगता है। वैदिक मूर्धन्य वर्णों के विषय में तो यह नियम कहा जा सकता है कि वे दंत्य वर्णों के ही विकार हैं। दुस् + तर = दुष्टर, निज़्द्[3] = नीड, मृष् + त = मृष्ट, दुस् + धी = दूढी (दुर्बुद्धि), दृह् + त = दृढ, नृ + नाम् = नृणाम् आदि की रचना में पूर्व-सावर्ण्य का कार्य स्पष्ट है। वैदिक भाषा में तो यह पूर्व-सावर्ण्य विधि केवल दो वर्णों की संधि में अथवा समानपद में ही नहीं, दो भिन्न भिन्न पदों में भी कार्य करती है; जैसे—इंद्र एणं (ऋ० १।१६३।२); परा णुदस्व इत्यादि[4]।

(१) मूर्धन्य भाव के नियम (Law of cerebralisation) को प्रातिशाख्यकार, पाणिनि और वररुचि जैसे वैयाकरण तथा Jacobi, Macdonell आदि आधुनिक विद्वान् आदि सभी ने माना है।

(२) देखो—रषाभ्यां नोणः समानपदे (पा०); भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यहाँ र से र, ऋ, ॠ और ष से मूल स, श, ज और ह का ग्रहण होता है। देखो—Macdonell's Vedic Grammar for Students §. 8 इसी नियम के अनुसार वह् > अवाह् + त् > अवाट् जैसे रूप बन जाते थे।

(३) ष का घोष रूप ज़् (अर्थात् प्राचीन zh अथवा s) मूर्धन्य भाव करके सदा लुप्त हो जाता है। यह भी मध्य-व्यंजन-लोप का सुंदर उदाहरण है।

(४) देखो—ऋक्प्रातिशाख्य—प० ५, सू० ५६-६१।

(ख) जब परवर्ती वर्ण अथवा अक्षर पूर्व-वर्ण अथवा अक्षर को अपना सवर्ण बनाता है तब यह क्रिया **परसावर्ण्य** कहलाती है; जैसे—कर्म से कम्म होने में पूर्ववर्ती र को परवर्ण म अपना सवर्ण बना लेता है। लै० में pinque से quinque भी इसी नियम से हुआ है। कार्य से कज्ज[1], स्वप्न से सिविण आदि प्राकृत में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। लौकिक संस्कृत की संधि में भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। (देखो—'झलां जश् झशि' जैसे सूत्र परसवर्णादेश के विधायक हैं।) तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के अनुसार स्वशुर और स्मश्रु का दंत्य स इसी परसावर्ण्य के कारण ही तालव्य हो गया है। यथा—श्वशुर, श्वश्रू, श्मश्रु इत्यादि।

इसी सावर्ण्य विधि के अंतर्गत स्वरानुरूपता का नियम भी आ जाता है; जैसे—मृग-तृष्णिका के म अ तण्हिआ और मि अतिण्हिआ दो रूप होते हैं अर्थात् म अ अथवा मि अ के अनुसार ही 'त' में अकार अथवा इकार होता है।

सावर्ण्य के विपरीत कार्य को असावर्ण्य अथवा वैरूप्य (विरूपता) कहते हैं। जब एक ही शब्द में दो समान ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं तब एक को थोड़ा परिवर्तित करने की अथवा लुप्त करने की प्रवृत्ति देखी जाती है; जैसे—कक्कन को लोग कंगन और नूपुर (नूउर) को नेउर कहते हैं। पहले उदाहरण में पूर्व-वर्ण के अनुसार दूसरे में विकार हुआ है और दूसरे में पर-वर्ण के अनुसार पूर्व-वर्ण में विकार हुआ है। दूसरे ढंग के उदाहरण प्राकृतों में अनेक मिलते हैं; जैसे—मुकुट > मउड, गुरुक > गरुअ, पुरुष > पुरिस, लांगल से नांगल (म० नांगर) इत्यादि।

(७) असावर्ण्य

(१) कार्य में पहले य का ज होता है और तब ज अपने पूर्व के र को सवर्ण बना लेता है। इसी प्रकार स्वप्न > सुविण > सिविण होता है। यहाँ इ के अनुरूप व में विकार हो जाता है।

पिपीलिक से पिपिल्लिका। ग्रासमान का नियम[1] इस प्रकार के विकारों का अच्छा निदर्शन है।

कुछ ऐसे ध्वनि-विकार भी हुआ करते हैं जो विकास के इन साधारण नियमों के विपरीत एकाएक हो जाते हैं। प्राय: विदेशी

(८) आनकव्युत्पत्ति

और अपरिचित शब्द जब व्यवहार में आते हैं तब साधारण जनता उनका अपने मन का अर्थ समझ लेती है और तदनुकूल उच्चारण भी करती है। अर्थ समझकर उच्चारण करने में अवयवों को सीधा प्रयत्न करना पड़ता है; वह सुखकर होता है। गुजराती में व्हेल शब्द बैलगाड़ी के लिए आता था। रेलवे का उसी व्हेल से संबंध जोड़कर गुजराती लोग वेल वेल (railway) कहने लगे। इसी प्रकार Artichoke का बँगला में हाथीचोख हो गया। हाथीचोख का अर्थ होता है हाथी की आँख। अँगरेजी के advance को साधारण नौकर अठवांस कहा करते हैं क्योंकि वह 'अठवाँ अंश' के समान समझा जाता है। इंतकाल का अंतकाल, आर्ट कालेज का आठ कालेज, Liabrary का रायबरेली, Mackenzie का मक्खनजी, Ludlow का लड्डू, Macdermott का दल-मोट, title को टाटिल (टाट से बना पृष्ठ) इसी मनचाही[2] व्युत्पत्ति के कारण बन जाता है। अँगरेजी में भी Sweetard से Sweet-heart, The Bacchanals से The Bag of Nails, asparagus से sparrow-grass आदि इसी प्रकार बन जाते हैं।

(१) देखो—आगे इसी प्रकरण में।

(२) देखो—Edmonds, Comparitive Philology P. 130-31, इसी लौकिक व्युत्पत्ति (Popular Etymology) के कारण जन-कथाएँ भी चल पड़ती हैं। जैसे लतीफशाह और ओंकारेश्वर से लत्ता-शाह अथवा हुक्कालेशन बन गया और फिर लोग इनको लत्ता और हुक्का भी चढ़ाने लगे।

कुछ ध्वनि-विकार ऐसे होते हैं जो किसी देश-विशेष अथवा भाषा-विशेष में ही पाये जाते हैं; जैसे—संस्कृत में शब्द के आदि में जहाँ स आता है वहाँ अवेस्ता और फारसी में ह हो जाता है। इसी प्रकार के परिवर्तनों की तुलना द्वारा समीक्षा करके ध्वनि-नियमों का निश्चय किया जाता है और प्रत्येक भाषा के विशेष ध्वनि-नियम बनाये जाते हैं। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र ने भाषा-परिवार के कुछ ध्वनि-नियम बनाये हैं। उनकी चर्चा यथास्थान इसी प्रकरण में होगी।

(६) विशेष ध्वनि-विकार[1]

इन सब प्रकार के ध्वनि-विकारों के कारणों की मीमांसा करें तो हमें ध्वनि-विकारों का द्विविध वर्गीकरण करना पड़ेगा। कुछ विकार आभ्यंतर (भीतरी) होते हैं और कुछ[2] वाह्य (बाहरी)। आभ्यंतर ध्वनि-विकारों के दो प्रकार के कारण हो सकते हैं, कुछ श्रुतिजन्य और कुछ मुखजन्य, क्योंकि ध्वनि की उत्पत्ति और प्रचार के चक्र को चलानेवाले दो ही अवयव होते हैं, मुख और कान। एक वक्ता के मुख द्वारा ध्वनि उत्पन्न होती है और दूसरा व्यक्ति उसको सुनता है और वह भी उसी ध्वनि का उच्चारण करता है। इस प्रकार श्रवण और अनुकरण द्वारा ध्वनि-परंपरा अथवा भाषा-परंपरा आगे बढ़ती जाती है। हम पीछे भी देख चुके हैं कि इस ध्वनि-परंपरा को यथासंभव अविच्छिन्न और अक्षत रखने का सदा यत्न किया जाता है जिसमें वह दुर्बोध्य न होने पावे। यही ध्वनिमयी भाषा समाज के विनिमय का साधन होती है, अतः उसको अविकृत ज्यों की त्यों रखने की ओर वक्ता और श्रोता दोनों की सहज प्रवृत्ति होती है। इतने पर भी ध्वनियों में

(१) इन ध्वनि-विकारों को विद्वानों ने unconditional अथवा spontaneous 'स्वयंभू विकार' माना है, क्योंकि दूसरे प्रकार के ध्वनि-विकार अपनी पड़ोसी ध्वनियों के प्रभाव से प्रभावित होते हैं पर ये स्वयंभू ध्वनि-विकार अकारण होते हैं। इनका कारण तो अवश्य होता है पर वह शब्द के बाहर जाकर कहीं भूगोल, इतिहास आदि में मिलता है।

(२) देखो—Edmonds : Comp. Philology. p. 128.

विकार होते हैं। इसका कारण प्राकृतिक दोष ही हो सकता है—चाहे वह दोष मुख का हो अथवा कान का, वक्ता का हो अथवा श्रोता का। वक्ता में मुखसुख अथवा **प्रयत्नलाघव** की सहज प्रवृत्ति होती है, प्रत्येक वक्ता सहज से सहज ढंग से थोड़े से थोड़े प्रयत्न में बोलने का काम कर लेना चाहता है। इसी से इतने आगम, लोप आदि विकार होते हैं पर इससे भी अधिक दोष उस श्रोता का होता है जो असावधानी से सुनता है और अपूर्ण अनुकरण द्वारा ध्वनि को विकृत करता है। बालक, अपढ़ और विदेशी आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इनके कारण जो ध्वनि-विकार होते हैं वे अपूर्ण अनुकरण के ही फल हैं। अपूर्ण अनुकरण में यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रुतिगत दोष ही नहीं रहता किंतु मुख अर्थात् उच्चारणोपयोगी अवयवों का भी दोष रहता है। श्रोता जब वक्ता बनकर उस ध्वनि का अनुकरण करता है तभी ध्वनि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार श्रवण और उच्चारण दोनों के दोष अपूर्ण अनुकरण में आ जाते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो वह मुख-सुख जो संधि अथवा श्रुति का कारण होता है बहुत थोड़े विकार उत्पन्न करता है और यह 'अपूर्ण अनुकरण' ही ध्वनि-विकारों का प्रधान कारण होता है। इस अपूर्ण अनुकरण का कारण भी मुख-सुख अथवा प्रयत्नलाघव ही माना जाता है, पर उस मुख-सुख अथवा संक्षेप करने की इच्छा का ठीक अर्थ समझने में भूल न होनी चाहिए। प्रायः विद्वान् कह दिया करते हैं कि जिन ध्वनियों का उच्चारण कठिन होता है उन्हें सरल बनाने के लिए आलस्यवश वक्ता उन्हें बिगाड़कर—विकृत और परिवर्तित करके बोलते हैं, पर वास्तव में प्रयत्नलाघव का इस प्रकार का 'आलस्य' अर्थ नहीं है। इस उच्चारण-विकार के कार्य में आलस्य का अंश कम रहता है प्रत्युत वक्ता की अ-योग्यता—शारीरिक और मानसिक अयोग्यता—ही उसका कारण होती है। इसी से तो ध्वनि-विकार योग्य और संस्कृत वक्ताओं

की भाषा में नहीं देखा जाता। सबसे पहले स्त्री और बालक भाषा को कोमल, मधुर और सरल बनाने का यत्न करते हैं। इसका स्पष्ट कारण उनकी अयोग्यता और अशक्ति है; वही स्त्री अथवा बालक जब वैसा ही सयाना और शिक्षित हो जाता है, जैसे समाज के अन्य लोग, तब वह भी ठीक परंपरानुकूल उच्चारण करने लगता है। शिक्षा से तात्पर्य पाठशाला की शिक्षा से ही नहीं है; या तो संसर्ग और व्यवहार द्वारा वह उच्चारण-शिक्षा मिलनी चाहिए अथवा पढ़ाई-लिखाई द्वारा होनी चाहिए; किसी भी प्रकार सब वक्ताओं की योग्यता बराबर हो जानी चाहिए तब बहुत ही कम ध्वनि-परिवर्तन होते हैं जैसे लिथुआनिन भाषा अथवा अरबी भाषा में। पर जब एकता का बंधन कुछ शिथिल होने लगता है तब भाषा में भी विकार आता है। जब दूर दूर जा बसने के कारण व्यवहार कम हो जाता है अथवा परस्पर शिक्षा और संस्कृति का भेद हो जाता है, तभी ध्वनियों में विकार प्रारंभ होते हैं, क्योंकि जो मनुष्य पहले कई ध्वनियों के उच्चारण को कठिन समझता है वही, शिक्षित होने पर, उन्हीं ध्वनियों को सहज समझने लगता है। अतः किसी ध्वनि को कठिन अथवा सरल कह सकना शास्त्रीय सत्य नहीं हो सकता। परिचित ध्वनियाँ सदा सरल होती हैं और अपरिचित ध्वनियाँ कठिन। अरब वक्ता हजारों वर्ष से अपने कंठ्य-व्यंजनों को अक्षुण्ण रूप में बोलते आ रहे हैं, आज भी उनको सीखने में अरबी बच्चों को कोई कठिनाई नहीं पड़ती। पर उन्हीं ध्वनियों का असीरिअन, हिब्रू, इथिऑपिक आदि अन्य सेमेटिक भाषाओं में लोप हो गया है। इसका कारण काठिन्य नहीं, प्रत्युत विदेशी संसर्ग और सामाजिक बंधन में शिथिलता के कारण उत्पन्न अपूर्ण अनुकरण ही इसका कारण माना जा सकता है। इसी प्रकार वैदिक काल की भाषा में हम भारोपीय काल की अनेक प्राचीन ध्वनियाँ तो पाते हैं पर प्राकृत, अपभ्रंश आदि में उनका ऐसा विकार देखकर हम कभी नहीं कह

सकते कि इस परवर्ती समय के भारतीय आलसी और श्रमपराङ्-मुख हो गये थे। सच्ची बात यह थी कि जब कोई जाति अपनी भाषा को साहित्यिक और उन्नत बनाने लगती है तब प्रायः स्त्री, बच्चे और इतर अनेक लोग उससे दूर जा पड़ते हैं और वे अपने अनुकूल ही उस भाषा की धारा को बहाया करते हैं, तो भी विकार बहुत धीरे धीरे होते हैं पर कहीं इसी बीच में किसी विदेशी संसर्ग ने प्रभाव डाला तो विकार बहुत शीघ्र होने लगते हैं, क्योंकि विदेशियों से व्यवहार तो करना ही पड़ता है और विदेशी उन ध्वनियों का जो विकृत उच्चारण करते हैं उसका अनुकरण करनेवाले और सुधारने का यत्न न करनेवाले देशी वक्ता भी प्रायः अधिक मिल जाया करते हैं। ऐसी स्थिति में विदेशियों द्वारा विकृत ध्वनियाँ भी सुबोध्य और व्यवहार्य हो जाती हैं और परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से होता है, अतः प्रयत्नलाघव का सदा आलस्य अर्थ नहीं करना चाहिए। प्रयत्नलाघव अथवा मुख-सुख की प्रवृत्ति का सच्चा अर्थ है उचित शिक्षा अथवा संसर्ग के अभाव और अवयव-दोष से होनेवाली उच्चारण को सरल बनाने की प्रवृत्ति। अपढ़ सयाने लोग पहले कारणों से और बालक तथा विदेशी अवयव-दोष के कारण मुख-सुख की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसी से गोपेंद्र अथवा गवेंद्र को गोविंद कहने की प्रवृत्ति आज भी बालकों अथवा अपढ़ लोगों में ही देखी जाती है। अतः मुख-सुख (अथवा प्रयत्नलाघव) का आलस्य और विश्रामप्रियता अर्थ लगाना ठीक नहीं, उसमें आलस्य, प्रमाद, अशक्ति आदि सभी का समावेश हो सकता है।

इतने विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि-विकार के प्रधान कारण दो ही हैं—मुख-सुख और अपूर्ण अनुकरण। यदि इन दोनों कारणों का सूक्ष्म विवेचन करें तो दोनों में कोई भेद नहीं देख पड़ता। हम मुख-सुख का जो अर्थ ऊपर कर आये हैं वही अपूर्ण अनुकरण का भी अर्थ है। यदि हम मुख-सुख का सर्वथा शाब्दिक अर्थ लें अर्थात् उच्चारण में सुविधा और सरलता, तो यह समझ

में नहीं आता कि किस ध्वनि को कठिन और किसको सरल कहें। ये तो तुलनावाची शब्द हैं। जो ध्वनि एक सयाने के लिए सरल है वही एक बच्चे के लिए कठिन होती है, जिस वर्ण का उच्चारण एक पढ़े-लिखे वक्ता के लिए अति सरल है वही एक अपढ़ के लिए अति कठिन हो जाता है, जिस ध्वनि का उच्चारण एक देश का वासी अनायास कर लेता है उसी ध्वनि का उच्चारण दूसरे देश के वासी के लिए असंभव होता है, अतः कोई भी ध्वनि कठिन या सरल नहीं होती। उसकी सरलता और कठिनाई के कारण कुछ दूसरे होते हैं। उन्हीं कारणों के वशीभूत होकर जब उच्चारण पूर्ण नहीं होता तभी विकार प्रारंभ होता है, इसी से अपूर्ण अनुकरण को ही हम सब ध्वनि-विकारों का मूल कारण मानते हैं।

यह जान लेने पर कि ध्वनि-विकारों का एकमात्र कारण अपूर्ण उच्चारण है, इसकी व्याख्या का प्रश्न सामने आता है। अपूर्ण अनुकरण क्यों और कैसे होता है? दूसरे शब्दों में हमें यह विचार करना है कि वे कौन सी बाह्य परिस्थितियाँ हैं जो अपूर्ण उच्चारण को जन्म देती हैं और कौन सी ऐसी शब्द की भीतरी बातें (परिस्थितियाँ) हैं जिनके द्वारा यह अपूर्ण अनुकरण अपना कार्य करता है। ध्वनि-विकार के कारण की व्याख्या करने के लिए इन दोनों प्रश्नों को अवश्य हल करना चाहिए।

ध्वनि का प्रत्यक्ष संबंध तीन बातों से रहता है—व्यक्ति, देश और काल। ये ही तीनों ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं जिनसे ध्वनि में विकार होते हैं। व्यक्ति का ध्वनि से संबंध स्पष्ट ही है। अनुकरण से ही एक व्यक्ति दूसरे से भाषा सीखता है और प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ व्यक्ति-वैचित्र्य भी रहता है, अतः कोई भी दो मनुष्य एक ध्वनि का समान उच्चारण नहीं करते; इस प्रकार ध्वनि प्रत्येक वक्ता के मुख में थोड़ी भिन्न हो जाती है। ध्यान देने

बाह्य परिस्थिति

पर व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण उत्पन्न यह ध्वनि-वैचित्र्य सहज ही लक्षित हो जाता है। पर भाषा तो एक सामाजिक वस्तु है। समाज में भाषा परस्पर व्यवहार का साधन बनी रहे इसलिए व्यक्ति-वैचित्र्य का उच्चारण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस अपरिवर्तन के उदाहरण अरबी, लिथुआनिन आदि के इतिहास में मिलते हैं। यद्यपि किसी भी ध्वनि के उत्पादन और अनुकरण का कर्त्ता एक व्यक्ति होता है तथापि उसका आलस्य, प्रमाद अथवा अशक्ति जब तक सामूहिक रूप से समाज द्वारा गृहीत नहीं हो जाती तब तक भाषा के जीवन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; अतः व्यक्ति का कार्य, देश, काल आदि अन्य परिस्थितियों के अधीन रहता है।

ध्वनि की उत्पत्ति जिस वाग्यंत्र से होती है उसकी रचना पर देश का प्रभाव पड़ना सहज ही है, इसी से एक देश में उत्पन्न मनुष्य के लिए दूसरे देश की अनेक ध्वनियों का उच्चारण कठिन ही नहीं; असंभव हो जाता है। जैसे वही संस्कृत का स ईरानी में सदा ह हो जाता है। बंगाल में मध्यदेश का स सदा तालव्य श हो जाता है। इसी प्रकार प्राचीन काल में जो भेद भारोपीय भाषा तथा भारत की संस्कृत की ध्वनियों में पाये जाते हैं उनका भौगोलिक परिस्थिति भी एक बड़ा कारण थी। साथ में यह तो भूलना ही न चाहिए कि भाषा के परिवर्तन में कई कारण एक साथ ही काम किया करते हैं।

देश अर्थात् भूगोल

ध्वनि के उच्चारण पर व्यक्ति और देश से भी बढ़कर प्रभाव पड़ता है काल का। काल से उस ऐतिहासिक परिस्थिति का अर्थ लिया जाता है जो किसी भाषा-विशेष के वक्ताओं की किसी विशेष सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक अवस्था से उत्पन्न होती है। भारोपीय भाषा में जो मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं हैं वे भारतीय भाषाओं में द्रविड़ संसर्ग से आ गई थीं। ये ध्वनियाँ दिनोंदिन भारतीय

काल अर्थात् ऐतिहासिक प्रभाव

भाषाओं में बढ़ती ही गईं। इनके अतिरिक्त यहाँ जितने प्राकृतों और अपभ्रंशों में ध्वनि-विकार देख पड़ते हैं उनके निमित्त कारण द्रविड़ों के अतिरिक्त आभीर, गुर्जर आदि आक्रमणकारी विदेशी माने जाते हैं।

यह इतिहास और अनुभव से सिद्ध बात है कि जिस भाषा के वक्ता विदेशियों और विजातीयों से अधिक मिलते-जुलते हैं उसी भाषा की ध्वनियों में अधिक विकार होते हैं[1]। जब कोई इतर भाषा-भाषी दूसरी दूर देश की भाषा को सीखता है तब प्रायः देखा जाता है कि वह विभक्ति और प्रत्यय की चिंता छोड़कर शुद्ध (प्रातिपदिक) शब्दों का प्रयोग करके भी अनेक स्थलों में अपना काम चला लेता है। यदि ऐसे अन्य भाषा-भाषी व्यवहार में प्रभावशाली हों—धनी-मानी अथवा राज-कर्मचारी आदि हों और संख्या में भी काफी हों—तो निश्चय ही वैसे अनेक विकृत और विभक्ति-रहित शब्द चल पड़ते हैं। जब अपढ़ जनता के व्यवहार में वे शब्द आ जाते हैं तब पढ़े-लिखे लोग भी उनसे अपना काम चलाने लगते हैं। जब दक्षिण और उत्तर के विजातीय और अन्य भाषा-भाषी मध्यदेश के लोगों से व्यवहार करते रहे होंगे तब वे अवश्य आजकल के विदेशियों के समान अनेक विकार उत्पन्न करते होंगे। इसी से प्राकृत और अपभ्रंश में संस्कृत की अपेक्षा इतने अधिक विभक्ति-लोप और अन्य ध्वनि-विकार[2] देख पड़ते हैं। आधुनिक वक्ता के लिए

(१) देखो—Taraporewala : the Elements of the Science of Language, p. 174—75 अरबी और फारसी भाषाएँ दो ढंग के उदाहरण उपस्थित करती हैं। इसी प्रकार उत्तर अमेरिका की अँगरेजी संसर्गजन्य उत्तरोत्तर सरलता का और दक्षिण अमेरिका की स्पेनिश अपरिवर्तन का उदाहरण है।

(२) संस्कृत की रूप-संपत्ति—लिंग, वचन, कारक आदि की विभक्तियों की संपत्ति—आभीर, द्रविड़ आदि के संसर्ग से ही नष्ट हुई है। आज भी जो विकारी रूप हिंदी में बचे हैं वे भी विदेशियों के कारण नष्ट हो रहे हैं। खड़ी बोली के सर्वथा रूपहीन होने के कारण हमारे मुसलमान, अँगरेज और स्वयं भारत के अमध्यदेशीय वक्ता हैं।

तो प्राकृत, अपभ्रंश आदि से संस्कृत ध्वनियाँ ही अधिक सरल मालूम पड़ती हैं, अतः संस्कृत की कठिनाई इन विकारों का कारण कभी नहीं मानी जा सकती।

इस विजाति-संसर्ग के अतिरिक्त सांस्कृतिक विभेद भी भाषा में विभेद उत्पन्न करता है। यदि सभी वक्ताओं की संस्कृति एक हो और वे एक ही स्थान में रहते हों तो कभी विभाषाएँ ही न बनें; पर जब यह एकता कम होने लगती है तभी भाषा का नाम-रूप-मय संसार भी बढ़ चलता है। यदि स्त्री, बालक, नौकर-चाकर आदि सभी पढ़े-लिखे हों तो वे अशुद्ध उच्चारण न करें और न फिर अनेक ध्वनि-विकार ही उत्पन्न हों। ध्वनि-विकार अपढ़ समाज में ही उत्पन्न होते हैं। इसी से ध्वनि-विकार और शिक्षा का संबंध समझ लेना चाहिए।

इन तीन बड़े और व्यापक कारणों की व्याख्या के साथ ही यह भी विचार करना चाहिए कि वे भीतरी कौन से कारण हैं जिनके सहारे ये विकार जन्म लेते और बढ़ते हैं।

(१) श्रुति—पीछे हम पूर्व-श्रुति और पर-श्रुति का वर्णन कर चुके हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो अनेक प्रकार के आगमों का कारण श्रुति मानी जा सकती है। स्त्री से इस्त्री, धर्म से धरम, ओठ से होठ आदि में पहले श्रुति थी वही पीछे से पूरा वर्ण बन बैठी। य और व के आगम को तो यश्रुति और वश्रुति कहते भी हैं।

(२) कुछ आगम उपमान (अथवा अंधसादृश्य) के कारण भी होते हैं; जैसे—दुक्ख की उपमा पर सुक्ख में क् का आगम। इसी प्रकार चमेली के उपमान पर बेला को लोग बेली कहने लगते हैं।

(३) कुछ आगम छंद और मात्रा के कारण भी आ जाते हैं; जैसे—ऋग्वेद में वेद का वेदा हो जाता है, प्राकृतों में कम्म का काम हो जाता है।

(४) वर्ण-विपर्यय के उदाहरणों को हम प्रमाद और अशक्ति का फल कह सकते हैं। तभी तो आदमी, चाकू, बतासा आदि का भी कई लोग आमदी, काचू, बसाता आदि बना डालते हैं।

(५) मुख-सुख—संधि और एकीभाव के जो उदाहरण हम पीछे विकारों में दे आये हैं उनका कारण स्पष्ट ही मुख-सुख होता है। चलइ को चलै और अउर को और कर लेने में कुछ सुख मिलता है। पूर्व-सावर्ण्य, पर-सावर्ण्य आदि का कारण भी यही मुख-सुख होता है।

(६) जो लौकिक व्युत्पत्ति-जन्य एकाएक विकार हो जाते हैं उन्हें हम अज्ञान का फल मान सकते हैं। पर उनमें भी वही प्रमाद और मुख-सुख की प्रवृत्ति काम करती है।

(७) लोप, मात्रा-भेद आदि का प्रधान कारण स्वर तथा बल का आघात होता है। प्राचीन संस्कृत भाषा में जो अपश्रुति[1] (अर्थात् अक्षरावस्थान) के उदाहरण मिलते हैं वे स्वर के कारण हुए थे। प्राकृतों में जो अनेक प्रकार के ध्वनि-लोप हुए हैं उनमें से अनेक का कारण बल[2] का हटना बढ़ना माना जाता है। जो वर्ण निर्बल रहते थे वे ही पहले लुप्त होते थे, जो स्वर निर्बल होते थे वे ह्रस्व हो जाते थे, इत्यादि।

भिन्न भिन्न भाषाओं में एक ही काल में और एक ही भाषा में भिन्न भिन्न कालों में होनेवाले इन ध्वनि-विकारों की यथाविधि

(१) cf. Ablaut or vowel-gradation in old Eng. Morphology p. 12—26 (Dacca University Bulletin no. XVI and Macdonell's Vedic Grammar.

(२) cf. p. 395 Stress-Accent in the I. A. Vernaculars in Grierson's article on the Phonology of the Modern Indo-Aryan Vernaculars (Z. D. M. G. 1895—96).

तुलना करने से यह निश्चित हो जाता है कि ध्वनियों में विकार कुछ नियमों के अनुसार होते हैं और जिस प्रकार प्रकृति के अनेक कार्यों को देखकर कुछ सामान्य और विशेष नियम बना लिये जाते हैं उसी प्रकार ध्वनियों में विकार के कार्यों को देखकर ध्वनि-नियम[1] स्थिर कर लिये जाते हैं; पर प्राकृतिक नियमों और ध्वनि-नियमों में बड़ा अंतर यह होता है कि ध्वनि-नियम काल और कार्यक्षेत्र की सीमा के भीतर ही अपना काम करते हैं। जिस प्रकार न्यूटन का 'गति-नियम' (law of motion) सदा सभी स्थानों में ठीक उतरता है उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक ध्वनि-नियम सभी भाषाओं में अथवा एक ही भाषा के सभी कालों में ठीक समझा जाय। ध्वनि-नियम वास्तव में एक निश्चित काल के भीतर होनेवाले किसी एक भाषा के अथवा किन्हीं अनेक भाषाओं के ध्वनि-विकारों का कथन मात्र है। अत: किसी भी ध्वनि-नियम के वर्णन में तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) वह नियम किस काल से संबंध रखता है; (२) किस भाषा अथवा भाषाओं पर लगता है और (३) किस प्रकार किन सीमाओं के भीतर वह अपना काम करता है। उदाहरण के लिए ग्रिम-नियम एक प्रसिद्ध ध्वनि-नियम है। उसके दो भाग हैं। उनका वर्णन आगे अभी होगा। उनमें से दूसरे वर्ण-परिवर्तन-संबंधी ग्रिम-नियम का संबंध केवल जर्मन भाषाओं से है। वह लगभग ईसा की सातवीं शताब्दी में लागू होता है, और उसकी सीमाओं का विचार कई प्रकार से किया जाता है; जैसे—इस ग्रिम-नियम के अनुसार अँगरेजी का t त जर्मन में z त्स हो जाता है; जैसे—tooth का Zahn अथवा two का zwei; पर stone का जर्मन में भी stein ही पाया जाता है। यह नियम का अपवाद मालूम पड़ता है पर वास्तव में यह नियम का अपवाद नहीं है, क्योंकि नियम t से संबंध रखता है

(१) cf. Sound Laws or Phonetic Laws.

न कि st से। जर्मन z का विकास th से हुआ है और sth के समान दो सप्राण ध्वनियों का एक साथ आना भाषा की प्रवृत्ति के विरुद्ध होता है, अतः इस परिवर्तन का न होना नियमानुकूल ही हुआ। इसी प्रकार सामान्य संहिति,[1] आघात, स्वर-विकार आदि का विचार करके ध्वनि-नियमों को समझने का यत्न करना चाहिए।

इस प्रकार ध्वनि-नियम की तीनों बातों का विचार करने पर भी यदि उसके कोई अपवाद रूप उदाहरण मिलें तो उन्हें सचमुच नियम-विरुद्ध नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसे अपवादों के कारण बाह्य[2] हुआ करते हैं और नियम का संबंध आभ्यंतर कारणों से रहता है। जैसे अँगरेजी में नियमानुसार speak और break के भूतकालिक रूप spake और brake होते हैं, पर आधुनिक अँगरेजी में spoke और broke रूप प्रचलित हो गये हैं। इसका कारण उपमान (अथवा अंधसादृश्य) है। spoken, broken आदि के उपमान के कारण ही a के स्थान में o का आदेश हो गया है अतः इस प्रकार का ध्वनि-विकार उस नियम का कोई अपवाद नहीं माना जा सकता। वास्तव में यह विकार नहीं, एक ध्वनि के स्थान में दूसरी ध्वनि का आदेश-विधान है। प्रत्येक भाषा ऐसे आदेश-विधान से फलती-फूलती है। इसी से उपमान आधुनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार भाषा-विकास के बड़े कारणों में से एक माना जाता है। जो अपवाद उपमान से नहीं सिद्ध किये जा सकते वे प्रायः विभाषाओं अथवा दूसरी भाषाओं के मिश्रण के फल होते हैं। इस प्रकार यदि हम उपमान, विभाषा-

(१) सामान्य संहिति (general synthesis) से मात्रा, बल (आघात), स्वर आदि सभी का अर्थ लिया जाता है। देखो—Sweet p. 17. and 25.

(२) देखो—External changes in Sweet's History of Language. p. 23.

मिश्रण आदि बाधकों का विवेक करके इन्हें अलग कर दें तो यह सिद्धांत मानने में कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती कि सभ्य भाषाओं में होनेवाले ध्वनि-विकारों के नियम निरपवाद होते हैं, अर्थात् यदि बाह्य कारणों से कोई भाषा दूर रहे तो उसमें सभी ध्वनि-विकार नियमानुकूल होंगे। पर इतिहास कहता है कि भाषा के जीवन में बाह्य कारणों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। अतः ध्वनि-नियमों के निरपवाद होने का सच्चा अर्थ यह है कि यदि मुख-जन्य अथवा श्रुति-जन्य विकारों के अतिरिक्त कोई विकार पाये जाते हैं तो उपमान आदि बाह्य कारणों से उनकी उत्पत्ति समझनी चाहिए।

इस प्रकार के ध्वनि-विकार के नियम प्रत्येक भाषा और प्रत्येक भाषा-परिवार में अनेक होते हैं[1]। हम यहाँ कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियमों का विवेचन करेंगे, जैसे ग्रिम-नियम, ग्रासमान का नियम, व्हर्नर का नियम, तालव्य-भाव का नियम, ओष्ठ्य-भाव का नियम, मूर्धन्य-भाव का नियम आदि।

ग्रिम-नियम

ग्रिम ने जिस रूप में अपने ध्वनि-नियम का वर्णन किया था उस रूप में उसे आज वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। उसमें तीनों प्रकार के दोष थे[2]। ग्रिम ने दो भिन्न भिन्न काल के ध्वनि-विकारों को एक साथ रखकर अपना सूत्र बनाया था। उसने जिन दो वर्ण-परिवर्तनों का संबंध स्थिर किया है उनमें से दूसरे का क्षेत्र उतना बड़ा नहीं है जितना वह समझता है। वह परिवर्तन केवल ट्यूटानिक

(१) संस्कृत शब्दों के आदि स के स्थान में अवेस्ता में सदा ह पाया जाता है। ऐसा नियम भी ध्वनि-नियम कहा जाता है। उसके विस्तार और स्वरूप के अनुसार ही उसका महत्त्व बढ़ता-घटता है।

(२) इन दोषों का अति संक्षिप्त वर्णन Jesperson ने अपने 'Language' (Its nature, origin, etc.) के पृ० ४४ पर दिया है।

भाषा में ही हुआ था, उसका आदि-कालीन भारोपीय भाषा से कोई संबंध नहीं है और तीसरी बात यह है कि ग्रिम ने अपने नियम की उचित सीमाएँ भी नहीं निर्धारित की थीं। अतः उसके ध्वनि-नियम के अनेक अपवाद हो सकते थे। इन्हीं अपवादों को समझाने के लिये ग्रासमान और व्हर्नर ने पीछे से उपनियम बनाये थे। इस प्रकार ग्रिम-नियम एक सदोष ध्वनि-नियम था। अतः अब जिस परिष्कृत रूप में उस नियम का भाषा-विज्ञान में ग्रहण होता है, हम उसका ही संक्षिप्त परिचय देंगे।

सदोष नियम

प्रारंभ में उस नियम का यह सूत्र था कि (१) जहाँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में अघोष अल्पप्राण स्पर्श रहता है वहीं गाथिक, अँगरेजी, डच आदि निम्न जर्मन भाषाओं में महाप्राण ध्वनि और उच्च जर्मन में सघोष वर्ण होता है; इसी प्रकार (२) संस्कृत आदि का महाप्राण=गाथिक आदि का सघोष=उच्च जर्मन का अघोष वर्ण और (३) सं० का सघोष=गा० अघोष[1] = उच्च जर्मन का महाप्राण होता है।

(१) संस्कृत और ग्रीक		(२) गाथिक		(३) उच्च जर्मन
प	=	फ	=	व
फ		व		प
व		प		फ
क		ह		ग
ख		ग		क
ग		क		ख
त		थ		द
ध		द		त
द		त		त्स

(२) यहाँ अघोष, सघोष, महाप्राण क्रमशः Tenues, Medeia, और Aspirate के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनका सच्चा अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक होता है।

अर्थात्—(१) अघोष = महाप्राण = सघोष
(२) महाप्राण = सघोष = अघोष
(३) सघोष = अघोष = महाप्राण

और यदि आदि के अ, म और स वर्णों को संकेत मानकर एक सूत्र बनावें तो 'अमसमसासाम' के समान सूत्र बन सकता है।

मैक्समूलर के समान भाषा-वैज्ञानिक इन तीन प्रकार के वर्ण-विकारों को देखकर यह कल्पना किया करते थे कि मूल भारोपीय भाषा तीन भागों में—तीन विभाषाओं के रूप में—विभक्त हो गई थी। इसी से व्यंजनों में इस प्रकार का विकार पाया जाता है, पर अब यह कल्पना सर्वथा असंगत मानी जाती है। प्रथमतः ये विकार केवल जर्मन (अर्थात् ट्यूटानिक) वर्ग में पाये जाते हैं, अन्य सभी भारोपीय भाषाओं में इनका अभाव है। उस जर्मन भाषा-वर्ग की भी अधिक भाषाओं में केवल प्रथम वर्ण-परिवर्तन[1] के उदाहरण मिलते हैं। अब यह भी निश्चित हो गया है कि द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का काल बहुत पीछे का है। प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा से पहले हो चुका था और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन ईसा के कोई सात सौ वर्ष पीछे हुआ था। जिस उच्च जर्मन में द्वितीय वर्ण-परिवर्तन हुआ था उसमें भी वह पूर्ण रूप से नहीं हो सका। इसी से यह नियम सापवाद हो जाता है। अतः अब द्वितीय वर्ण-परिवर्तन को केवल जर्मन भाषाओं की विशेषता मानकर उसका पृथक् वर्णन किया जाता है और केवल प्रथम वर्ण-परिवर्तन 'ग्रिम-नियम' के नाम से पुकारा जाता है।

ग्रिम-नियम का निर्दोष अंश

जैकब ग्रिम ने सन् १८२२ में लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, गाथिक, जर्मन, अँगरेजी आदि अनेक भारोपीय भाषाओं के शब्दों की तुलना करके एक ध्वनि-नियम बनाया था। उस नियम से यह पता लगता

(१) प्रथम और द्वितीय वर्ण-परिवर्तनों का साधारण वर्णन आगे इसी प्रकरण में होगा।

है कि किस प्रकार जर्मन-वर्ग की भाषाओं में मूल भारोपीय स्पर्शों का विकास ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि अन्यवर्गीय भाषाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ है। उदाहरणार्थ—

सं०	ग्री०	लै०	अँगरेजी
द्वि	δύο	duo	two
पाद	πoδ-os	pedis	foot
कः		quis	who

इस प्रकार तुलना करने से यह ज्ञात होता है कि सं०, ग्री०, लै० आदि के d द, p प, k क के स्थान में अँगरेजी आदि जर्मन भाषाओं में त t, फ f, व्ह wh हो जाता है। इसी प्रकार की तुलना से ग्रिम ने यह नीचे लिखा निष्कर्ष निकाला था—

संस्कृत आदि में	K. T. P.	G. D. B.	Gh. Dh. Bh.
अँगरेजी आदि में	H.Th.F.	K. T. P.	G. D. B.

अँगरेजी को जर्मन भाषाओं का और संस्कृत[1] को अन्य भाषाओं का प्रतिनिधि मानकर हम अधिक उदाहरण इन्हीं दोनों भाषाओं से लेंगे।

उदाहरण—

(१) भारोपीय K—

सं० कः, लैटिन quis, गाथिक hwa, आधुनिक अँगरेजी who।

सं० कद्; लैटिन quod (=सांध); एंग्लोसैक्सन (=प्रा०), अँगरेजी hwœt ; आ० अं० what।

सं० श्रत्, ग्रो० καρδ-ια , लै० cord-is आ० अं० heart.।

(१) व्यंजनों की दृष्टि से संस्कृत ने सबसे अधिक मूलभाषा की ध्वनियों को सुरक्षित रखा है। अँगरेजी को हम सब अंशों में प्रतिनिधि नहीं मान सकते। सर्वांश में गाथिक निम्न जर्मन भाषाओं की प्रतिनिधि मानी जाती है।

सं० शतम्, ग्री० he-katon; लै० centum, गाथिक hund, प्रा० उच्च जर्मन hunt, जर्मन hund-ert, आ० अं० hund-red, टोखारिश Kandh ।

सं० श्वा, ग्री० Kuōn, लै० canis, टोखारिश Ku, जर्मन Hun[1], अँगरेजी hound,

सं० शिरप्, अं० horn (सींग) ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारोपीय K जर्मन भाषाओं में h या hw (=wh) हो जाता है। अन्य भाषाओं में K ही पाया जाता है। संस्कृत में शतम् आदि में जो श पाया जाता है वह भी भारोपीय K का ही प्रतिनिधि है[1] ।

(२) भारोपीय t= जर्मन th[2]; सं० त्रि या त्रय:, ग्री० treis, लै० tres, प्रा० अं० thri, गा० threis, आ० अं० three,

सं० दंत, ग्री० odo'ntos[3], लै० dentis, गा० tunthus, आ० अं tooth ।

सं० तनु, ग्री० tanu, लै० tenuis, अं० thin ।

सं० तृषा, तृष्णा, ग्री० te'rsomai, tersai'no, लै० terra (for tersa), ex-torris; अं० thirst. इन सब उदाहरणों की तुलना से यह सिद्ध होता है कि भारोपीय t जर्मन भाषाओं में th हो गया है पर अन्य भाषाओं में सुरक्षित रहा[4] ।

(३) भारोपीय P= जर्मन वर्ग का *f* ।

सं० पिता[5]; ग्री० Pater, लै० Pater, प्रा० अं० *fæder*, अं०

(१) cf. केंटुम् (Centum) और सतम् (Satem) वर्ग का भेद पृष्ठ १४०-४१। इसका विवेचन एक दूसरे ध्वनि-नियम के अंतर्गत आ सकता है।

(२) three और brother में th के दो भिन्न उच्चारण होते हैं ।

(३) यह ह्रस्व o पुरोहिति (Prothesis) के कारण ग्रीक में आ गया है ।

(४) संस्कृत में जो त का मूर्धन्य भाव होता है उसका ग्रिम-नियम से कोई संबंध नहीं है ।

(५) 'पिता' शब्द त से थ होने का भी उदाहरण है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण कई वर्णों के परिवर्तनों को समझा सकते हैं ।

father, गाथिक fadar, जर्मन Vater[1],

सं० प्र० ग्री० Pro, लै० Pro, गा० fra-, अं० for-give, for.

सं० पशु, ग्री० Pegnumi, लै० pecus, अँगरेजी fee, गा० fahan

सं० परा अथवा परि, ग्री० Perā, Peri, लै० Per, प्रा० अं० Feor, आ० अं० far.

सं० उपरि, ग्री० उपर, लै० super (सुपर)[2], प्रा० अं० ofer (ऑफर), आ० अं० over (ओव्हर).

सं० पंच, ग्री० पेंक, लै० quinque (for penque)[3], जर्मन fünf, आ० अं० five, प्रा० अं० fif.

(४) भारोपीय G, D और B = (क्रमशः) क, त, प.

सं० गो, अं० cow, जर्मन cu, ग्री०.

सं० जानु[4], ग्री० Gonu, लै० genu, प्रा० अं० cneō, आ० अं० Knee.

सं० योग, लै० ingum, अं० yoke,

सं० ज्ञान, लै० (g) nōsco, Know.

सं० ज्ञाति, अवेस्ता Zantu, (कुटुंब), लै० genus, अं० Kin.

सं० द्वि, ग्री० duo, लै० duo, अं० two.

सं० दशन्, ग्री० deka, लै० decem, गा० taihun, अं० ten.

सं० दम्, ग्री० domos, लै० domus, अं० timber[5].

सं० अद्मि, ग्री० edomai, लै० edo, अं० eat.

(१) इसका उच्चारण फातर होता है। जर्मन में V का 'फ', J का 'य', Z का 'त्स' आदि उच्चारण होता है अतः रोमन में लिखने पर भी प्रत्येक भाषा का उच्चारण समझकर करना चाहिए।

(२) s-up-er में S पुराने ex का अवशेष है।

(३) qu से प का सावर्ण्य (Assimilation) ध्यान देने योग्य है। fif में जो दूसरा f है वह भी सावर्ण्य-विधान का ही फल है।

(४) सं० ज भारोपीय तालव्य g और कंठ्य ग दोनों का प्रतिनिधि प्रायः होता है।

(५) बीच में ब का आगम हुआ है इसी प्रकार लै० tono, ज० donner आदि से thunder की तुलना करने से पता चलता है कि वहाँ भी d का आगम हुआ है। ये सब श्रुति-जन्य आगम हैं।

सं० सीदति, लै० sedeo, अं० sit.

सं० हृद् (त्), ग्री० Kardia, लै० cordis, अं० heart.

सं० उद, आर्द्र, लै० उन्द, अं० water, wet, otter.[1]

सं०[2], लै० labium, lambo, अं० lip, lap आदि लै० lubricus, अं० slip, slippery.

(५) भारोपीय महाप्राण स्पर्श g^h[3], d^h, b^h = जर्मन भाषाओं में अल्पप्राण स्पर्श g, d, b

gh—

सं० हंस, ग्री० χēn (हेन्) लै० ans-er (for hanser), जर्मन Gans, अं० goose.

सं० ह्यस्, ग्री० χthes (for χγεs), लै० heri (for, hesī), प्रा० अं० geostra, आ० अं० Yesterday.

सं० दुहिता, ग्री० Thuga'ter (for Thukhater), लि० Duckte, गा० dauhter, अं० daughter;

लै० hostis = अं० guest.

(१) भिन्न भिन्न भाषाओं से जो उदाहरण दिये गये हैं वे सदा समानार्थक नहीं होते। उनके मूल में एकता रहती है।

(२) ब = प के उदाहरण सब भाषाओं में नहीं मिलते। ब वर्ण तो मूल भारोपीय भाषा में भी क्वचित् ही प्रयुक्त होता था। अतः उसके उदाहरण न मिलना आश्चर्य की बात नहीं है।

(३) भारोपीय gh घ (झ), dh ध, bh भ का ग्री०, लै० और सं० में भिन्न भिन्न ढंग से विकास हुआ है, पर उन सब में महाप्राणत्व था। जर्मन भाषाओं में आकर ये व्यंजन अल्पप्राण हो गये थे। cf. 'Sounds which have developed differently' p 174—76 in Edmonds' Comparative Philology. यहाँ तुलना करने में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) एक ही gh ध्वनि = सं० 'ह' = ग्री० χ = लै० h अथवा लोप = जर्मन ग के रूप में मिलती है; (२) जब एक ध्वनि का समान उदाहरण सब भाषाओं में नहीं मिलता तब मिलते जुलते दूसरे शब्दों से ही काम चलाया जाता है। (३) तीसरी बात यह है कि ग्रीक आदि में प्राचीन उच्चारण आधुनिक उच्चारण से कभी कभी सर्वथा भिन्न होता था जैसे φ उस समय रोमन f के समान नहीं था।

dh—

सं० धा, ग्री० Tithemi, लै० fēci, अं० do.

सं० धिति, अं० deed.

सं० विधवा, ग्री० ηἰθεος, लै० uiduus' diuido, अं० widow।

सं० धूमः, ग्री० Phumos, लै० pumus, ज० Dunst (=vapour), अं० dust।

सं० द्वार, ग्री० Thura, लै० fores, forus, अं० door.

bh—

सं० भरामि, ग्री० φερω, लै० fero, अं० bear.

सं० भ्रातृ, ग्री० φρατηρ, लै० frater, गा० brothar, ज० brūder, अं० brother.

सं० भ्रू, ग्री० ophrus, एं० सेक्सन brū, अं० brow.

सं० भूर्ज, ग्री० φορκος (सफेद), ज० Bircha, Birke, अं० birch.

इस प्रकार ग्रिम-नियम का आधुनिक रूप यह है कि भारोपीय अघोष स्पर्श K, T, P जर्मन वर्ग में अघोष घर्ष[1] h, th, f हो जाते हैं; भारोपीय घोष-स्पर्श g, d, b जर्मन में k, t, p अघोष हो जाते हैं; और भारोपीय महाप्राण-स्पर्श gh, dh, bh जर्मन में अल्पप्राण ग, द, ब हो जाते हैं। व्यंजनों में यह परिवर्तन ईसा से पूर्व ही हो चुका था।

इस ग्रिम-नियम को ही जर्मन भाषाओं का 'प्रथम वर्ण-परिवर्तन'[2] भी कहते हैं।

(१) देखो—स्पर्श (Stop) और घर्ष (Spirant) का भेद पीछे, पृ० २३१।

(२) ग्रिम का जो द्वितीय वर्ण-परिवर्तन प्रसिद्ध है वह परवर्ती काल का है और उसका संबंध केवल उच्च जर्मन भाषाओं से है। जैसा संबंध सं०, ग्री० आदि के व्यंजनों से अं०, गा०, ज० आदि का है वैसा ही

सिद्धांतत: ध्वनि-नियम का कोई अपवाद नहीं होता। अत: जब ग्रिम-नियम के विरुद्ध कुछ उदाहरण मिलने लगे तो भाषा-वैज्ञानिक उनका समाधान करने के लिए अन्य नियमों की खोज करने लगे और फल-स्वरूप तीन उपनियम स्थिर किये गये—(१) ग्रासमान का उपनियम, (२) व्हर्नर का उपनियम और (३) ग्रिम-नियम के अपवादों का नियम अर्थात् एक यह भी नियम बना कि कुछ संधिज ध्वनियों में ग्रिम-नियम नहीं लगता।

अपवाद

(१) साधारण ग्रिम-नियम के अनुसार K, T, और P का h, th और f होना चाहिए अत: ग्री० κιγχανω, τυφλος, πιθος से अँगरेजी में क्रमश: ho, thumb और fody बनना चाहिए पर वास्तव में go, dumb और body मिलते हैं। यह नियम का स्पष्ट अपवाद जान पड़ता है पर ग्रासमान ने यह नियम खोज

प्रायः अं०, ज० आदि का उच्च जर्मन भाषाओं के व्यंजनों से है; जैसे—

अँगरेजी		उच्च जर्मन
P	के स्थान में	Pf या F
pound	,,	P fund
deep	,,	Tief
sheep	,,	Schaf
T	,,	Ts अथवा S
tooth	,,	Zahu
two	,,	Zwei
K	,,	Ch
speak	,,	Sprechen
D	,,	T
daughter	,,	Tochter
drink	,,	Trinken
F	,,	B
thief	,,	Dieb
Th	,,	D
brother	,,	Bruder

निकाला कि ग्रीक और संस्कृत में एक अक्षर (अर्थात् शब्दांश) के आदि और अंत दोनों स्थानों में एक ही साथ प्राण-ध्वनि अथवा महाप्राण-स्पर्श, नहीं रह सकते; अर्थात् एक अक्षर में एक ही प्राण-ध्वनि[1] रह सकती है। अतः ग्रीक में—

xiqxano ~~χίχχανω~~ के स्थान में ~~κίχχανω~~ हो जाता है tuphlos.

θυφλος	"	τυφλος	"
φίθος	"	πίθος	"

और $\chi^{ख}$, $\theta^{थ}$, $\phi^{फ}$ भारोपीय gh, dh, bh के प्रतिनिधि हैं अतः उनके स्थान पर जर्मन वर्ग में g, d, b का आना नियमानुकूल ही होगा। इसी प्रकार सं० में दुहिता देखकर यदि हम कल्पना करें कि अँगरेजी daughter का d नियमविरुद्ध है तो ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रासमान के अनुसार सं० दुहिता में द भारोपीय ध का प्रतिनिधि है। दुहिता में दुह एक अक्षर है उसका पहला रूप धुह था पर दो प्राण-ध्वनि इस प्रकार आदि में और अंत में भी नहीं आ सकतीं इसी से ध का द हो गया। कामधुक्, दूध, दोह आदि शब्दों की तुलना से भी ग्रासमान का नियम ठीक प्रतीत होता है।

सं० बोध् और ग्री० Peuth धातुओं की बराबरी की गाथिक क्रिया binda है। ग्रिम के अनुसार Pinda अथवा Finda होना चाहिए। इसी प्रकार सं० बंध और ग्रीक Pentheros से गा० binda, अं० bind आदि का संबंध भी अपवाद का सूचक है। या तो सं० ब का जर्मन-वर्ग में प होना चाहिए था अथवा ग्री० प का फ हो जाना चाहिए था पर ऐसा नहीं हुआ; क्योंकि मूल भारोपीय भाषा में धातु bhendh * और bhendh* में मूलध्वनि भ थी अतः भ के स्थान में गाथिक में ब नियमानुसार ही हुआ है।

(१) प्राण-ध्वनि Aspirate केवल ह h को कहना चाहिए। देखो—पीछे पृ० २४४। पर यहाँ प्राण-ध्वनि से महाप्राण-ध्वनि का भी बोध किया गया है।

और ग्रीक तथा संस्कृत में भ के व अथवा प हो जाने का कारण यही ग्रासमान का नियम था। इस प्रकार ग्रासमान का नियम देखने से binda अपवाद नहीं मालूम पड़ता।

(२) ग्रासमान ने तो यह सिद्ध किया था कि जहाँ ग्रीक K, T, P के स्थान में जर्मन g, d, b होते हैं, वहाँ समझना चाहिए कि K, T, P प्राचीनतर महाप्राण-स्पर्शों के स्थानापन्न हैं पर कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलने लगे जिनमें शुद्ध K, T, P के स्थान में जर्मन भाषाओं में g, d, b हो जाते हैं।

	सं०	ग्री०	लै०	प्रा० अं०	आ० अं०	गाथिक
t.	शतम्	he-kȧton	centum		hundred	hund
		Khortos	hortus	geard	yard	
		ánaltos	altus	eald	old	

K. युवकः hauk-inthos लै० juvencus, गा० jugg-s, अं० young.

P. लिम्पामि ग्री० lipareo, लै० lippus, गा० bi-leiba, अं० be-life (I remain)

S. स्नुषा ग्री० nuos, लै० nurus, प्रा० अं० snoru (बहू)।

साधारण नियम के अनुसार hunthred, yarth, olth, younh, (juh-s), bileifa (गा०) और snosu[1] आदि रूप होने चाहिएँ। इनका समाधान ग्रासमान का नियम भी नहीं कर सकता अतः इनको समझाने के लिए व्हर्नर ने एक तीसरा ही नियम बनाया—शब्द के मध्य में आनेवाले K, t, p, और s के अव्यवहित पूर्व में यदि भारोपीय काल में कोई उदात्त स्वर रहता है तब उनके स्थान में h, p, f और s आते हैं अन्यथा g (gw), d, b, और r आते

व्हर्नर का नियम

(१) ग्रिम के अनुसार S के स्थान में S ही आता है पर उदाहरणों में r मिलता है इसी से व्हर्नर को उसका भी विचार करना पड़ा।

हैं। भारोपीय स्वरों का निश्चय अधिकतर संस्कृत से और कभी कभी ग्रीक से होता है।

ऊपर के उदाहरणों में शतं, युवक, लिम्पामि, स्तुषा आदि के त, क, प और स के पीछे (=पर में) उदात्त स्वर आया है अतः उनमें ग्रिम-नियम के अनुसार परिवर्तन नहीं होता।

इन नियमों के भी विरुद्ध उदाहरण मिलते हैं पर उनका कारण उपमान (=अंध सादृश्य) होता है; जैसे—भ्राता में त के पूर्व में उदात्त है अतः brother रूप होना ठीक है पर पिता, माता में त के पूर्व में उदात्त नहीं है अतः fadar, modar होना चाहिए पर उपमान की लीला से ही father और mother चल पड़े।

उपमान

(३) विशेष अपवाद—कुछ संयुक्त वर्ण ऐसे होते हैं जिनमें ग्रिम-नियम लागू नहीं होता। हम पीछे कह आये हैं कि परि-स्थिति के अनुसार ध्वनि-नियम काम करता है। ग्रिम का नियम असंयुक्त वर्णों में सदा लगता है। यह ग्रासमान और व्हर्नर ने सिद्ध कर दिया है पर कुछ संयुक्त वर्णों में उसकी गति रुक जाती है। इसके भी कारण होते हैं[1] पर उनका विचार यहाँ संभव नहीं है।

व्हर्नर ने लिखा है कि ht, hs, ft, fs, sk, st, sp—इन जर्मन संयुक्त वर्णों में उसका नियम नहीं लगता। इनका विचार हम इस तीसरे नियम के अंतर्गत इस प्रकार कर सकते हैं; यथा—

(अ) भारोपीय sk, st, sp—इनमें कोई विकार नहीं होता।

(१) देखो पृष्ठ २१४ पीछे। वहाँ steine और stone का उदाहरण दिया गया है। बात यह है कि ऐतिहासिक क्रम यह है (१) K, T, P, S भारोपीय भाषा में अघोष स्पर्श थे, (२) पीछे अघोष घर्ष-वर्ण हुए, (३) तब सघोष घर्ष-वर्ण हुए और (४) अन्त में घोष-स्पर्श g, d, b, r हुए। इसी से जब sk अथवा st में ग्रिम-नियमानुसार K और t का घर्ष उच्चारण होना शुरू होता है तभी वह प्रवृत्ति रुक जाती है क्योंकि दो सप्राण ध्वनियों का उच्चारण भाषा की प्रवृत्ति के विरुद्ध होता है।

लै० piskis (piscis) = गा० fisks.

लै० hostis, गा० gasts, अं० guest.

लै० conspicio, गा० spehōn, अं० spae-wife.

ग्री० aster, अं० star

(आ) भारोपीय Kt और pt में t निर्विकार रहता है—

ग्री० OKTO, लै० Octo, गा० ahtau, प्रा० अं० eahta अं० eight.

लै० nox, गा० nahts, अं० night

लै० Kleptes, गा० hliftus, अं० lifting

कुछ विकार ऐसे होते हैं जिनका संबंध केवल अँगरेजी से रहता है उन्हें भ्रम से इस नियम का अपवाद न समझना चाहिए।

ग्री०	गा०	अं०
Skotos	Skadus	Shade
Skapto	Skaban	Shave
Skutos	Skōhs	Shoe

अँगरेजी में sk का sh होना ही नियम है अत: जिन शब्दों में sk रहता है वे विदेशी शब्द माने जाते हैं; जैसे—sky और skin (scand) school (from Latin schola) आदि।

इस तीसरे नियम में जो अपवाद संयुक्ताक्षर गिनाये गये हैं वे भी सच्चे अपवाद नहीं हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यही मालूम पड़ता है कि जिस परिस्थिति में वे थे वह विकास के विरुद्ध थी। प्रत्येक में एक प्राण-ध्वनि है। इस प्रकार ये अपवाद भी मनमाने नहीं माने जा सकते। उनका भी अपना एक नियम है।

अंत में ग्रिम-नियम और उसके अपवादों का विचार कर चुकने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि-नियम के अपवाद होते हैं पर वे अपवाद सकारण होते हैं अत: यदि उपमान, स्वर आदि उन कारणों को देखकर ध्वनि-नियम की सीमा निश्चित कर दी जाय तो वह निरपवाद माना जा सकता है।

बिना काल, कार्यक्षेत्र और उसकी परिस्थिति का उचित विचार किये किसी भी ध्वनि-नियम का विचार करना अवैज्ञानिक होता है।

हिंदी और ग्रिम-नियम

अतः ग्रिम-नियम हिंदी में किसी भी प्रकार लागू नहीं हो सकता। काल के विचार से जब ग्रिम-नियम अँगरेजी तक में पूर्ण रूप से नहीं घटता तब हिंदी में कैसे लग सकता है? कार्यक्षेत्र के विचार से भी ग्रिम-नियम जर्मन-वर्ग में कार्य करता है, अन्य किसी में नहीं। और सीमा के विचार की तो आवश्यकता नहीं है। वह तो पूर्व दो बातों—काल और कार्यक्षेत्र—के पीछे होता है।

मूल भारोपीय भाषा में दंत्य और ओष्ठ्य व्यंजनों के अतिरिक्त तीन प्रकार के कंठ्य-स्पर्श थे—शुद्ध कंठ्य, मध्य कंठ्य और

तालव्य भाव का नियम

तालव्य[1]। इनका विकास परवर्ती भाषाओं में भिन्न भिन्न ढंग से हुआ है। पश्चिमी भारोपीय भाषाओं में अर्थात् ग्रीक, इटाली, जर्मन तथा कैल्टिक वर्ग की भाषाओं में मध्य कंठ्य और तालव्य का एक तालव्य-वर्ग बन गया और कंठ्य-स्पर्शों में एक ओष्ठ्य w ध्वनि सुन पड़ने लगी; जैसे—लै० que क्वे में। पूर्वी भाषाओं में—आर्मेनिअन, अल्बेनिअन, बाल्टो स्लाव्होनिक, तथा आर्य वर्गों में कंठ्य-ध्वनियों में ओष्ठ्य-भाव नहीं आया, पर कंठ्य-ध्वनियाँ मध्य कंठ्य-ध्वनियों के साथ मिलकर एक वर्ग बन गईं। इन्हीं पूर्वी भाषाओं में मूल तालव्य आकर घर्ष-वर्ण बन गये।

आर्य-(भारत-ईरानी) वर्ग की भाषाओं में एक परिवर्तन और हुआ था। कंठ्य-स्पर्शों में से कुछ तालव्य घर्ष-स्पर्श हो गये। यह विकार जिस नियम के अनुसार हुआ उसे तालव्य-भाव का नियम कहते हैं।

(१) देखो—Uhlenbeck's Manual of S. Phonetic § 52. p. 63.

नियम[1]—आर्य काल में अर्थात् जब ह्रस्व ए ĕ का ह्रस्व अ ă नहीं हो पाया था उसी समय जिन कंठ्य-स्पर्शों के पीछे (पर में) ह्रस्व ए, इ अथवा य् i̯ आता था वे तालव्य घर्ष-स्पर्श हो जाते थे। अन्य परिस्थितियों में कंठ्य-स्पर्शों में कोई विकार नहीं होता था। (इस ध्वनि-नियम में भी काल, कार्यक्षेत्र और परिस्थिति—तीनों का उल्लेख हो गया है।)

उदाहरण—

संस्कृत च, ज और ह (=झ)=प्राचीन कंठ्य-स्पर्श।

भारोपीय qe, सं० च, ग्री० *te*, लै० que.

" qerus, सं० चरुः

qetu̯ores, सं० चत्वारः, लै० quatuor.

" penqe, सं० पंच, ग्री० Pente, लै० quinque.

au̯ges, सं० ओज (देखो उग्रः)

ghenmi, सं० हन्मि, ग्री० Iheino.

gheros, सं० हरः (गर्मी), ग्री० theros.

qid, सं० चिद्, लै० quid, ग्री० Ti.

k̑ukis, सं० शुचिः (शुक्रः)।

जहाँ पर में ह्रस्व ए, इ अथवा इ् नहीं रहता वहाँ विकार न होने के उदाहरण—

भा० Kakud, सं० ककुद्, लै० cacumen.

Kark, सं० कर्कः, कर्कटः (केंकड़ा), लै० cancer,

Kalos, सं० कालः (काला)।

jugom, सं० युगम्

ghonos, सं० घन" (मारनेवाला वै०)

gəris, सं० गिरिः

इस तालव्य-भाव-विधि की जब से खोज हुई है तब से अब यह धारणा कि मूलभाषा में केवल अ, इ, उ ये तीन ही स्वर थे,

(१) देखो—Uhlenbeck p. 64. § 53.

मान्य नहीं रह गई है। अब ए, ओ आदि अनेक मूल स्वर माने जाते हैं[1]।

इसी प्रकार के अन्य अनेक ध्वनि-नियम भाषा-विज्ञान में बनाये जाते हैं। उन्हीं के कारण व्युत्पत्ति में तथा तुलनात्मक ध्वनि-विचार के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है। जैसे—भारतीय आर्य भाषाओं के मूर्धन्य-भाव[2] का नियम अथवा स्वनंत[3] वर्णों का नियम आदि जाने बिना भारतीय शब्दों का संबंध ग्रीक आदि से जोड़ने में कोरी कल्पना से काम लेना पड़ेगा और तुलना अथवा व्युत्पत्ति आदि वैज्ञानिक विषय न होकर खेल हो जायँगी।

संस्कृत व्याकरण में स्थान-प्रयत्न-विवेक

पीछे हमने आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार हिंदी-ध्वनियों के स्थान और प्रयत्न का विवेचन किया है और प्रसंगतः जहाँ आवश्यकता हुई है वहाँ संस्कृत व्याकरण में प्रयुक्त नाद, श्वास, घोष, अघोष आदि का प्रयोग भी किया है। स्थान के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द तो इतने स्पष्ट और अन्वर्थ हैं कि उनकी व्याख्या पाद-टिप्पणियों में ही कर दी गई है पर भारतीय वैयाकरण ने प्रयत्न के जो पंद्रह[4] भेद माने हैं, उनको स्पष्ट

(१) देखो—Brugmann's Comparative Grammar of Indo-Germanic languages I p. 30 § 28.

(२) cf. Law of cerebralisation. इसका वैदिककालीन रूप Macdonell's Vedic Grammar (p. 33) में मिलेगा और प्राकृतवाला रूप 'नो णः' आदि प्राकृत के सूत्रों में मिलेगा। देखो—प्राकृत-प्रकाश अथवा Woolner's Intro. to Prakirt.

(३) cf. Manual of Comp. Philology by Giles. § (p. 51—52).

(४) सिद्धांत-कौमुदी के कर्त्ता ने प्रयत्नों के पंद्रह भेद माने हैं पर अन्य कई विद्वान् 'ईषद्विवृत' आभ्यंतर प्रयत्न एक और अधिक मानते हैं। उनके अनुसार कुल प्रयत्न सोलह माने जा सकते हैं। इन सोहलों में से तीन स्वरों को पतंजलि ने अपने महाभाष्य में प्रयत्न नहीं माना है अतः उनके अनुसार प्रयत्नों के तेरह भेद मानने चाहिएँ।

समझे बिना सामान्य विद्यार्थी भ्रम में पड़ सकता है अतः उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे दिया जाता है।

वर्णों के उच्चारण करने में जो प्रयत्न होता है वह दो प्रकार का होता है—आभ्यंतर और बाह्य। आस्य के भीतर होनेवाला प्रयत्न आभ्यंतर प्रयत्न कहलाता है और जो आस्य से बाहर काकल से संबंध रखता है वह बाह्य प्रयत्न कहलाता है। आभ्यंतर प्रयत्न चार प्रकार का होता है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत। (१) जिस ध्वनि के उच्चारण में उच्चारण-स्थान और जिह्वा का पूर्ण स्पर्श होता है उसका स्पृष्ट प्रयत्न होता है। संस्कृत वर्णमाला के क से लेकर म तक सभी स्पर्श-वर्ण **स्पृष्ट प्रयत्न** से उच्चरित होते हैं। (२) कुछ वर्ण ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण में पूर्ण-स्पर्श नहीं होता अतः वे **ईषत्स्पृष्ट** कहे जाते हैं। अंतस्थ वर्ण ईषत्स्पृष्ट होते हैं। (३) जिन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा और उच्चारण-स्थान के बीच में अंतर रहता है अर्थात् मुख खुला रहता है उनका **विवृत प्रयत्न** माना जाता है। ऊष्म (श, ष, स, ह) और स्वर (अ, आ, इ आदि) वर्णों का प्रयत्न विवृत होता है। (४) जिसके उच्चारण में मुखद्वार जिह्वा से संवृत (बंद) हो जाता है उस वर्ण का प्रयत्न **संवृत** प्रयत्न होता है। पाणिनि के काल में ह्रस्व अ का संवृत प्रयत्न था[1]।

बाह्य प्रयत्न के ग्यारह भेद होते हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, महाप्राण, अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इन ग्यारहों प्रयत्नों की उत्पत्ति काकल में होती है;

(१) भाषा-विज्ञान से यह निश्चय हुआ है कि अति प्राचीन काल की वैदिक संस्कृत में ह्रस्व अ विवृत उच्चरित होता था और पाणिनि के अ॰ अ॰ ८। ४। ६८ से भी यही ज्ञात होता है कि अब प्रयोग में अ संवृत हो गया था पर प्रक्रिया में अ विवृत ही माना जाता था क्योंकि प्रक्रिया का संबंध तो विशेष कर प्राचीन संस्कृत से ही रहता है। अतः पहले सब स्वरों का विवृत प्रयत्न लिखकर फिर अ का संवृत प्रयत्न लिखने में कोई विरोध नहीं पड़ता। अ के दोनों प्रयत्न होते थे।

काकल प्रधान वाग्यंत्र अर्थात् आस्य के बाहर होता है अतः ये सब 'बाह्य' कहे जाते हैं[1]। यही भेद (१) प्रदान और अनुप्रदान अथवा (२) करण और प्रकृति कहकर भी प्रकट किया जाता है। आभ्यंतर प्रयत्न 'प्रदान' कहा जाता है क्योंकि इसी के द्वारा शब्द का (=शब्द को उत्पन्न करनेवाली प्राणवायु का) प्रकृष्ट रूप से दान किया जाता है (प्रदीयते अनेन इति प्रदानम्।) और बाह्य प्रयत्न तो पीछे मूल में रहता है अतः वह 'अनुप्रदान' कहा जाता है। आभ्यंतर प्रयत्न ही ध्वनि के उच्चारण का प्रधान कारण होता है अतः उसे करण कहते हैं और श्वास और नाद आदि तो ध्वनि की प्रारंभिक अवस्था से संबंध रखते हैं इसी से उन्हें प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार बाह्य प्रयत्न के दूसरे पर्याय अनुप्रदान और प्रकृति उसके अर्थ को बहुत कुछ स्पष्ट कर देते हैं। आभ्यंतर प्रयत्न का संबंध उच्चारण-स्थान और जिह्वा से रहता है।

बाह्य प्रयत्नों के उदाहरण[2] —

(१) संवार—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

(२) नाद— " "

(३) घोष— " "

(१) बाह्य प्रयत्न का संबंध केवल काकल से रहता है। इसी से एक वैयाकरण ने लिखा है—'उक्तस्थानबहिर्देशजातत्वेन बाह्यत्वम्'। हम पीछे इसी प्रकरण में देख चुके हैं कि ध्वनि काकल में ही उत्पन्न हो जाती है पर उसका पूर्ण उच्चारण मुख में आकर होता है। इसी काकल और मुख के भेद के अनुसार ही बाह्य और आभ्यंतर प्रयत्न का भेद किया गया है।

(२) खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपंचमा यणश्चाल्पप्राणाः वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः॥

(सिद्धांत-कौमुदी 'तत्त्वबोधिनी')

(४) विवार—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

(५) श्वास— " "

(६) अघोष— " "

(७) महाप्राण—ख, घ, छ, झ, थ, ध, ठ, ढ, फ, भ, श, ष, स, ह।

(८) अल्पप्राण—क, ग, ङ, च, ज, ञ, त, द, न, ट, ड, ण, प, ब, म, य, र, ल, व।

(९) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर के भेद हैं और इनका संबंध केवल अक्षरों से रहता है। वैदिक संस्कृत में तीनों प्रकार के स्वर पाये जाते हैं।

बाह्य प्रयत्नों की अधिक स्पष्ट व्याख्या करने के लिए हमें इन ग्यारहों भेदों को तीन भागों में बाँट लेना चाहिए। अंतिम तीन उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का संबंध सुर (स्वर) से रहता है। बीच के दो महाप्राण तथा अल्पप्राण का भेद प्राण-ध्वनि के विचार से किया गया है और शेष छः संवार, नाद आदि का संबंध शब्द की उत्पत्ति—फेफड़ों से बाहर आनेवाली वायु के निकलने की प्रक्रिया से विशेष रहता है। अतः तीनों को पृथक् पृथक् समझने का यत्न करना चाहिए। सुर (स्वर) का थोड़ा वर्णन पीछे आ चुका है और इसका संबंध वैदिक संस्कृत से अधिक है अतः हम यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे।

'महाप्राण' और अल्पप्राण स्वयं अन्वर्थ संज्ञाएँ हैं। जिन वर्णों में प्राण-ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं वे महाप्राण कही जाती हैं और जिनमें वे नहीं सुन पड़तीं वे अल्पप्राण होती हैं। प्राण-वायु तो सभी का उपादान कारण होती है इसी से अप्राण कहने की अपेक्षा अल्पप्राण कहना अच्छा समझा गया है पर हम सुविधा के लिए महाप्राण को सप्राण[1]

(१) देखो—पृ० २४४-४५, प्राण-ध्वनि और सप्राण का विवेचन हो चुका है।

और अल्पप्राण को अप्राण भी कह सकते हैं; क्योंकि हम प्राण से प्राणवायु नहीं, परंतु प्राण-ध्वनि[1] अथवा प्राणत्व (Aspiration) का अर्थ लेते हैं।

अब हम शेष छः बाह्य प्रयत्नों को लेते हैं—घोष, नाद, संवार, अघोष, श्वास और विवार। घोष स्वर-तंत्रियों के उस कंपन अथवा अनुरणन को कहते हैं जो बंद काकल में से वायु के निकलने पर उत्पन्न होता है। हम पीछे (पृ० २२१, २२२ पर) देख चुके हैं कि जब हवा काकल में से निकलती हुई ध्वनि को जन्म देती है तब यदि काकल बंद रहता है तो स्वर-तंत्रियों में एक प्रकार की झनझनाहट होती है, कंपन होता है, अर्थात् घोष सुन पड़ता है; और यदि स्वर-तंत्रियाँ एक दूसरी से दूर रहती हैं अर्थात् काकल खुला रहता है तो कोई अनुरणन अथवा घोष नहीं होता। अतः ध्वनि का यह भेद[2] किया जाता है कि वह घोषवाली है अथवा घोष-रहित। घोषवाली ध्वनि को सघोष, घोषवत्, घोषी अथवा केवल घोष कहते हैं और घोष-रहित को अघोष।

सघोष ध्वनि जब उत्पन्न होती है तब काकल का द्वार खुला रहता है अतः उसका संवार अथवा संवृत[3] प्रयत्न होता है और अघोष ध्वनि की उत्पत्ति के समय काकल खुला रहता है अतः उसका विवार अथवा विवृत प्रयत्न माना जाता है। इस प्रकार काकल के बंद होने और खुले रहने का संवार और विवार से बोध होता है।

(१) देखो—पृ० २४४।

(२) आजकल के ध्वनि-शिक्षाविद् भी इस भेद को महत्त्व देते हैं। देखो—The third and last classification of consonants depends on the absence or presence of the vibration of the vocal chords during the emission of the sounds.—p. 28, General Phonetics by G. Noel-Armfield.

(३) संवृत और विवृत दो आभ्यंतर प्रयत्न भी होते हैं अतः उन्हें इनसे भिन्न समझना चाहिए।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वाणी अथवा ध्वनि के दो रूप होते हैं—एक कण्ठस्थ अस्पष्ट रूप और दूसरा मुख्य स्पष्ट रूप। दूसरे प्रकार की ध्वनि ही श्रोता को सुन पड़ती है; पहले प्रकार की ध्वनि का स्वयं वक्ता ही अनुभव कर सकता है। इस अस्पष्ट ध्वनि-रूप वायु का ही हम वर्णन श्वास अथवा नाद के द्वारा करते हैं। जब काकल का द्वार खुला रहता है, शुद्ध श्वास निकलती है और जब बंद रहता है तब श्वास के साथ तंत्रियों का अनुरणन मिल जाता है, इसी से अघोष ध्वनियों की प्रकृति श्वास को और घोष ध्वनियों की प्रकृति नाद को मानते हैं। दूसरे शब्दों में स्पष्ट करके कहें तो काकल के संवार[1] द्वारा उत्पन्न घोषवान् ध्वनि को नाद और काकल के विवार के कारण (बिना किसी घोष के उत्पन्न) अघोष ध्वनि को श्वास कहते हैं।

प्रत्येक भाषण-ध्वनि[2] अथवा वर्ण में नाद अथवा श्वास-ध्वनि रहती है अतएव (१) नादानुप्रदान और (२) श्वासानुप्रदान ये दो भेद किये जाते हैं। सुविधा के लिए वैयाकरण अनुप्रदान का लोप करके श्वास और नाद का ही इस अर्थ में भी प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार संवार, घोष और नाद तीनों एक ही प्रक्रिया से संबंध रखते हैं पर उनसे तीन भिन्न भिन्न बातों का बोध होता है[3]।

यदि हम प्राचीन भारतीय शिक्षाशास्त्रियों के स्थान-प्रयत्न-विवेक को ध्यान से देखें तो हमें उनकी पद्धति और आधुनिक पद्धति में

(१) Glottal closure.

(२) नाद को भी हमने ध्वनि (sound) कहा था इसी से भाषण-ध्वनि रखकर नाद-ध्वनि और नादानुप्रदान-ध्वनि में भेद कर दिया है।

(३) कुछ लोग वर्णों की व्याख्या करने में घोष और नाद का पर्यायवत् प्रयोग करते हैं। इससे व्यवहार में उसी प्रकार कोई हानि नहीं होती जिस प्रकार अँगरेजी में आजकल हम surd, hard, breathed, unvoiced and fortis, का अथवा sonant, soft, unbreathed, voiced और lenis का पर्यायवत् प्रयोग कर सकते हैं।

कोई अंतर नहीं देख पड़ेगा। आधुनिक ध्वनि-शिक्षा का विद्वान् वर्णों का तीन प्रकार से वर्गीकरण करता है—(१) वे कहाँ उत्पन्न होते हैं, (२) वे कैसे उत्पन्न होते हैं और (३) अमुक वर्ण श्वास है अथवा नाद। संस्कृत शिक्षा-शास्त्री भी इसी प्रकार तीन भेद करता है—(१) उच्चारण-स्थान, (२) आभ्यंतर प्रयत्न और (३) बाह्य प्रयत्न। इस प्रकार के तौलनिक अध्ययन से अनेक प्रकार के लाभ हो सकते हैं।

अपश्रुति[1]

नीचे लिखे उदाहरणों की यदि तुलना करें तो हम देखते हैं कि एक ही धातु से बने दो या तीन शब्दों में केवल अक्षर-परिवर्तन होने से अर्थ और रूप में भेद हो गया है, व्यंजन सर्वथा अक्षुण्ण हैं, केवल स्वर-वर्णों में परिवर्तन हुआ है। संबद्ध शब्दों में इस प्रकार का कार्य अनेक भारोपीय तथा सेमेटिक भाषाओं में पाया जाता है। इसी कार्य के सिद्धांत को अपश्रुति अथवा अक्षरावस्थान कहते हैं।

Pei'tho Pe'poitha e'pithon.
ग्री० [illegible], [illegible], and [illegible]

लै० fīdo, foedus, and fides.

अं० Sing, Sang, and Sung.

जर्मन binden, band, and gebunden

सं० भृतः, भरति and बभार।

सं० उदितः, वदति and वाद।

हिं० मिलना और मेल।

अरबी० हिमर और हमीर।

अपश्रुति की उत्पत्ति

अपश्रुति के द्वारा शब्दों और रूपों की रचना में बड़ा भेद हो जाया करता है। प्राचीन भारोपीय काल में तो अपश्रुति का बड़ा प्रभाव रहा होगा। उस प्रभाव के अवशेष आज भी ग्रीक, संस्कृत आदि में देख पड़ते

(१) जिस प्रकार अँगरेजी ablaut, apophony, vowel gradation आदि पर्यायवत् प्रयुक्त होते हैं उसी प्रकार हिंदी में भी हम

हैं। यह अपश्रुति स्वयं स्वर और बल के कार्यों का फल है अर्थात् अपश्रुति का अध्ययन करने के लिए स्वर और बल का विचार करना चाहिए।

स्वर और बल का साधारण परिचय हम पीछे दे चुके हैं। स्वर का प्रभाव स्वर-वर्णों के स्वभाव पर अधिक पड़ता है और बल की प्रवृत्ति अपने पड़ोसी अक्षर को लुप्त अथवा क्षीण करने की ओर देखी जाती है। ये दोनों ही बातें अपश्रुति में देखने को मिलती हैं। इसी से यह निश्चय किया गया है कि मूल भारोपीय मातृभाषा में स्वर और बल दोनों का ही प्राबल्य रहा होगा। उस मूल भाषा में स्वर कभी प्रकृति में और कभी प्रत्यय में लगता था। आज संस्कृत में प्रायः स्वर का एक निश्चित स्थान रहता है। ग्रीक में तो इससे भी कठोर नियम है कि पद के अंत से स्वर केवल तीसरे अक्षर तक जा सकता है, और आगे नहीं जा सकता। ये नियम मूल भाषा में नहीं थे। उस समय स्वर का संचार अधिक स्वच्छंद था। शब्दों और रूपों की रचना में स्वर कभी प्रकृति से प्रत्यय पर और कभी कभी प्रत्यय से प्रकृति पर चला जाया करता था, इससे कभी अक्षर में वृद्धि हो जाती थी और कभी ह्रास। एक ही प्रकृति से उत्पन्न शब्दों में इसी वृद्धि और ह्रास[1] को देखकर हम अपश्रुति का निश्चय करते हैं।

ग्रीक में जब शब्द अथवा अक्षर पर उदात्त स्वर रहता है तब ए पाया जाता है पर जब उदात्त स्वर नहीं रहता तब ओ पाया जाता है। ए को उच्च-श्रेणि अथवा उच्चावस्था और ओ को

अपश्रुति, अक्षरावस्थान और अक्षर-श्रेणीकरण का एक ही अर्थ में प्रयोग करेंगे।

(१) एक ही धातु से बने अनेक रूपों की तुलना करने पर सहज ही देख पड़ता है कि उसी स्थान पर कभी ह्रस्व स्वर आता है कभी दीर्घ, कभी समानाक्षर आता है और कभी गुण अथवा वृद्धि। इसी विनिमय के सिद्धांत का विचार अपश्रुति के नाम से किया जाता है।

निम्न श्रेणि अथवा नीचावस्था कहते हैं। इसी प्रकार की एक श्रेणि और होती हैं जिसे निर्बल अथवा शून्य श्रेणि कहते हैं। जिस प्रकार स्वर के हट जाने से उच्च श्रेणि से अक्षर निम्न श्रेणि में चला जाता है उसी प्रकार 'बल' के अभाव में निर्बल श्रेणि की उत्पत्ति होती है। इस श्रेणि में मूल शब्द अथवा अक्षर का सबसे निर्बल अथवा संक्षिप्त रूप देखने को मिलता है। बल के लुप्त होने से तो प्रायः अनेक वर्णों का भी लोप हो जाता है।

इन तीनों श्रेणियों के उदाहरण ये हैं—

	उच्च श्रेणि	नीच श्रेणि	शून्य श्रेणि
(१) ग्री०	Pei'thō	Pe'poitha	é'pithom
ग्री०	Pate'ra	eupa'tora	patro's

इस प्रकार e : o : nil के ग्रीक और लैटिन में अनेक उदाहरण मिलते हैं अतः यह ए- ओ श्रेणिमाला इन भाषाओं के लिए बड़े महत्त्व की है।

इसी प्रकार की दो मालाएँ और स्थिर की जाती हैं—

(२) ए- ओ माला अर्थात् ē : ō series में ए के स्थान में ओ पाया जाता है। यहाँ भी कारण स्वर-संचार होता है।

ē	ō	ə
ti'thēmi	thōmo's	theto's (for thətos)

पहले उदाहरण में उदात्त स्वर ti पर है और th के अनंतर जो ē है उसके स्थान में दूसरे उदाहरण में ō पाया जाता है, क्योंकि उदात्त स्वर हटकर शब्द के अंत में आ जाता है। तीसरे उदाहरण में न ē है और न ō, पर एक निर्बल ह्रस्व स्वर ə है। पीछे से कारण-वश यह ə परिवर्तित होकर ह्रस्व e हो जाता है। पहली-दूसरी अवस्थाएँ सबल कही जाती हैं और तीसरी निर्बल कही जाती है। सबल अवस्थाओं में से जिसमें उदात्त स्वर रहता है उसे उदात्त अथवा उच्च अवस्था कहते हैं और दूसरी को अनुदात्त अथवा नीच

कहते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वर देखकर इन अवस्थाओं को समझ लेना चाहिए।

(३) आ : ओ माला (अर्थात् series) के उदाहरण—

Phāmi' Phōmē' Phame'n

इन तीनों मालाओं की अक्षरावस्थाओं अथवा अक्षरश्रेणियों में एक अक्षर दूसरे अक्षर का स्थानापन्न हो जाता है—अर्थात् अक्षर के गुण में विकार आ जाता है। इसी से इस प्रकार के अक्षरावस्थान (अथवा अक्षर-श्रेणिकरण) को **गौण** अक्षरावस्थान कहते हैं। दूसरे प्रकार के अक्षरावस्थान में केवल अक्षर के परिमाण में ह्रास अथवा वृद्धि होती है अतः उसे परिमाणज अथवा **मात्रिक** अक्षरावस्थान कहते हैं। ग्रीक तथा लैटिन में इस प्रकार के मात्रिक अक्षरावस्थान के उदाहरण[1] कम मिलते हैं पर संस्कृत में केवल मात्रिक अपश्रुति के ही उदाहरण मिलते हैं। अतः हम नीचे संस्कृत से ही उदाहरण देंगे[2]।

गौण और मात्रिक अक्षरावस्थान

उच्चावस्था	नीचावस्था
एमि	इमः
(मैं जाता हूँ)	(हम जाते हैं)
आप्नोमि	आप्नुमः
(मैं प्राप्त करता हूँ)	(हम प्राप्त करते हैं)
वर्धाय	वृधाय
(बढ़ती के लिए)	

इन उदाहरणों में स्पष्ट हो जाता है कि एक ही प्रकृति से बने दो रूपों में स्वर-भेद से अक्षर की मात्रा में भेद आ जाता है। एमि

(१) ग्रीक और लैटिन के उदाहरणों के लिए देखो—Edmonds: Comp. Philology: p. 152-61.

(२) अधिक उदाहरणों के लिए देखो—Macdonell's Vedic Grammar for Students p. 5 § 5

में ए उदात्त है पर जब इभः में उदात्त अंत में चला जाता है तो ए के स्थान में इ हो जाती है। इसी प्रकार ओ से उ और अर (अल्) से ऋ (लृ) के उदाहरणों को भी समझ लेना चाहिए।

संस्कृत वैयाकरणों की दृष्टि से यदि इस प्रकार के अक्षर-विनिमय को देखकर हम उसकी दो श्रेणी बनावें तो वे (१) संप्रसारण और (२) गुण होंगी। गुण श्रेणी[1] में अ, अर्, अल्, ए और ओ आते हैं। इन्हीं के स्वर-रहित नीचावस्था के रूप संप्रसारण श्रेणी में मिलते हैं अर्थात् स्वर-रहित अ, ऋ, लृ, इ और उ। मात्रिक अक्षरावस्थान में एक श्रेणी का और विचार करना चाहिए। गुण-अक्षरों की मात्रा बढ़ने से वृद्धि-अक्षर[2] बन जाते हैं यथा आ, आर्, आल्, ऐ और औ। इस प्रकार उच्चावस्था के दो भेद होते हैं—गुण और वृद्धि। और इन दोनों के स्वर-रहित (=अनुदात्त) रूप नीचावस्था अथवा निम्न श्रेणी में मिलते हैं। इस नीच श्रेणी में शून्य, अ, इ, ई, उ, ऊ, इर्, ईर्, उर्, ऊर्, आदि सभी आ जाते हैं।

भारोपीय भातृभाषा में भी अक्षरावस्थान की तीन ही अवस्थाएँ मानी जाती हैं—(१) वृद्धि, (२) गुण और (३) निर्गुण अर्थात् निर्बल[3]। पहले दो भेद उच्चावस्था में आ जाते हैं और तीसरा भेद नीचावस्था में आता है। इन तीनों में जिन अक्षरों का संग्रह किया गया है उनकी छः मालाएँ बनाई गई हैं—(१) ए-माला,

भारोपीय भाषा में अक्षरावस्थान

(१) अदेङ् गुणः—१।१।२ पा०।

(२) वृद्धिरादैच्—१।१।१ पा०।

(३) इन नामों के कारण अपश्रुति (अथवा अक्षरावस्थान) के समझने में भ्रम न होना चाहिए। संस्कृत के गुण और वृद्धि अक्षर एक श्रेणी में और समानाक्षर तथा संप्रसारणाक्षर दूसरी श्रेणी में आते हैं।

संस्कृत अक्षरों की यही दो श्रेणियाँ (अथवा अवस्थाएँ) हो सकती हैं, अधिक नहीं। अतः संप्रसारण-गुण-वृद्धि को भाषा-विज्ञान की High, Low and Weak आदि तीन अवस्थाओं का ठीक पर्याय मानना उचित

(२) अ-माला, (३) ओ-माला; (४) ए-माला, (५) आ-माला, (६) ओ-माला। यहाँ विस्तार के भय से इनका अधिक वर्णन नहीं किया जा सकता[१]। इनमें से अनेक के उदाहरण वैदिक संस्कृत में मिलते हैं। पहले के विद्वान् अपश्रुति के उदाहरण ग्रीक और लैटिन से ही अधिक दिया करते थे पर अब दिनों दिन सिद्ध होता जा रहा है कि गुण से संबंध रखनेवाली अपश्रुति सच्ची अपश्रुति नहीं है[२]। उसका अंतर्भाव एक विशेष ध्वनि-नियम[३] में किया जा सकता है, अतः संस्कृत में पाई जानी-वाली अपश्रुति अर्थात् मात्रिक अक्षरावस्थान ही विशेष ध्यान देने योग्य है। इसी का वास्तव में स्वर-संचार से संबंध है।
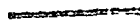
नहीं होता। अपश्रुति का विषय बड़ा गहन है, अतः ध्यान से समझने का यत्न करना चाहिए।

(१) Brugmann —Comp. Grammar I p. 244. §307 and 309

(२) Dacca University Bulletin No. XVI (1931) Old Eng. Morphology : by B. K. Ray ; p. 26.

(३) पर अपश्रुति को ध्वनि-नियम नहीं मान सकते।

परिशिष्ट—१

नये लिपि-चिह्न

नागरी तथा रोमन लिपि के चिह्नों के अतिरिक्त जो विशेष चिह्न इस ग्रंथ के प्रथम भाग में आये हैं उनका वर्णन नीचे किया जाता है। रोमन और नागरी के अतिरिक्त जो लिपि-चिह्न विशेष स्थलों में विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त किये गये हैं उनकी व्याख्या वहीं कर दी गई। उनकी पुनरावृत्ति से यहाँ कोई लाभ नहीं।

अऽ विवृत अग्र दीर्घ आ; यह आठ प्रधान स्वरों में चौथा वर्ण है। अंतर्राष्ट्रीय लिपि में यह a लिखा जाता है।

अ॑ अर्ध-विवृत मध्य ह्रस्वार्ध अथवा 'उदासीन' स्वर। यह स्वर पंजाबी तथा अवधी हिंदी आदि में पाया जाता है। देखो पृ० २५४, उदा० पं० नौकर अव० सोरहौं। अंतर्राष्ट्रीय लिपि में इसके लिए ə लिखते हैं।

अॅ संस्कृत का संवृत अ। कई लेखक अॅ से ही 'उदासीन स्वर' का भी बोध कराते हैं। देखो पृ० १४२। पर इस ग्रंथ के पृ० १४२ को छोड़कर और सब स्थानों में अ॑ अथवा ə का ही प्रयोग हुआ है।

ऑ अर्द्ध-विवृत पश्च दीर्घ स्वर; देखो पृ० २५०। कुछ अँगरेजी विदेशी शब्दों में यह ह्रस्व स्वर के लिए भी आता है।

इ̥ जपित इ। देखो पृ० २५३।

इ̯ अर्धस्वर य का प्राचीन रूप। देखो पृ० २७४।

उ̥ जपित उ। देखो पृ० २५२।

उ̯ अर्धस्वर व का प्राचीन रूप।

ए̆ अर्धसंवृत ह्रस्व अग्र स्वर। देखो पृ० २५३।

ए̥ जपित रूप। पृ० २५३।

ए̆ अर्धविवृत अग्र ह्रस्वस्वर। पृ० २५३

ऍ अर्धविवृत अग्र दीर्घस्वर। पृ० २५३

एॆ } इन दोनों संकेतों से अनेक लेखक ह्रस्व ए का बोध
ॆ } कराते हैं। इस ग्रंथ में भी इनका प्रयोग हुआ है। ऊपर जो दो प्रकार के ह्रस्व ए आये हैं उनके लिए तथा उनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के ह्रस्व ए के लिए भी सामान्यतया इन दोनों संकेतों का प्रयोग होता है।

ओॆ अर्धसंवृत ह्रस्व पश्च स्वर। यह ओ का ह्रस्व रूप है। पृ० २५१ पर भूल से ओ 'अर्धविवृत' छप गया है। वास्तव में वह अर्धसंवृत होता है; देखो चित्र सं० ५, पृ० २३७।

ऑ अर्धविवृत पश्च ह्रस्व स्वर।

ऑ̆ " " दीर्घ "। खड़ी बोली के अर्धसंवृत ओं से इसका भेद दिखाने के लिए ऊपर ˘ लगाया गया है।

क़ जिह्वामूलीय स्पर्श-व्यंजन। यह केवल विदेशी शब्दों में आता है। देखो पृ० २५७।

ख़ जिह्वामूलीय घर्ष-व्यंजन। यह भी विदेशी ध्वनि है। देखो पृ० २६६।

ग़ जिह्वामूलीय घर्ष घोष-व्यंजन। यह भी विदेशी ध्वनि है। देखो पृ० २६६।

च॒ भारोपीय तालव्य स्पर्श-व्यंजन। इसे रोमन लिपि में K̑ लिखते हैं। देखो पृ० २७४।

ज़ घर्ष-व्यंजन। यह अघोष स का सघोष रूप है। पृ० २६७।

त्स दंत्य-तालव्य स्पर्श-घर्ष-व्यंजन।

ड़ अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि।

ढ़ महाप्राण " " " "।

ळ मूर्धन्य पार्श्विक घोष अल्पप्राण।

ळ्ह " " " महाप्राण। ये दोनों ध्वनियाँ प्राचीन वैदिक में थीं।

न̥ स्वनंत न। भारोपीय मातृ-भाषा में यह स्वर के समान प्रयुक्त होता था। देखो न̥ पृ० २७३।

फ़ यह दंतोष्ठ्य घर्ष-व्यंजन विदेशी ध्वनि है।

म̥ स्वनंत म अर्थात् भारोपीय मातृभाषा का आन्तरिक वर्ण।

य़ अर्धस्वर है अर्थात् ई का रूपांतर है।

र̥ भारोपीय स्वनंत र अर्थात् वैदिक ऋ के समान स्वर वर्ण।

ल̥ भारो० स्वनंत ल अर्थात् वैदिक लृ का प्रतिवर्ण।

व़ कंठोष्ठ्य अर्धस्वर। हिंदी शब्द के मध्य में आनेवाला हलंत व का उच्चारण व़ के समान होता है। देखो पृ०२६८। अँगरेजी, फारसी आदि में भी यह ध्वनि पाई जाती है। घर्ष व से भेद दिखाने के लिए नीचे बिंदु लगाया गया है (पर यह अर्धस्वर सर्वथा वैदिक उ जैसा ही नहीं माना जा सकता)।

ह़ विसर्ग। इसे (:) से भी प्रकट करते हैं। देखो ḥ।

ᳵ संस्कृत में यह उपध्मानीय तथा जिह्वामूलीय दोनों का चिह्न है। इस प्रकार यह वैज्ञानिक लिपि के F तथा X दोनों संकेतों का काम करता है।

विशेष चिह्न

> यह चिह्न पूर्वरूप से पररूप का होना बताता है; जैसे—सं० मया > अप० मइं > हिं० मैं।

< यह चिह्न पररूप से पूर्वरूप के परिवर्तन का द्योतक है; जैसे—हिं० आग (अथवा आगी) < अप० अग्गि < प्रा० अग्गि < सं० अग्नि।

* यह चिह्न उन शब्दों पर लगाया जाता है जो कल्पित अथवा संभावित होते हैं; जैसे मूल भारोपीय भाषा में अनेक शब्दों की कल्पना की गई है।

√ यह धातु का द्योतक है; जैसे—√ गम्।

ʹ उदात्त स्वर अथवा बल। ग्रीक, संस्कृत आदि के उदाहरणों में इसे स्वर का चिह्न और अँगरेजी, फ्रेंच, हिंदी आदि में बल का चिह्न समझना चाहिए।

= यह बराबरी का चिह्न है, जो दो समानार्थक शब्दों अथवा रूपों के बीच लगता है।

इस ग्रंथ के उद्धरणों में प्रयुक्त कुछ संकेत

ɸ	फ
ʌ	संवृत अ
ə	उदासीन स्वर
ă ĕ ŏ	प्राकृत, अपभ्रंश आदि में ह्रस्व अ, ए, ओ के लिए
a e o	सामान्तया ह्रस्व अ, ए, ओ के लिए
i̯	अर्धस्वर इ̯ (य)
u̯	अर्धस्वर उ̯ (व)
m̥	स्वनंत म (स्ववर्ण)
l̥	स्वनंत ल
ṛ	ड़
ṛha	ढ़
k̑	भारोपीय तालव्य च

परिशिष्ट—२

'प्रत्यक्षरीकरण की प्राचीन पद्धति

प्रत्यक्षरीकरण की निम्नलिखित पद्धति १८९४ ईस्वी की अंतर्राष्ट्रीय प्राच्य महासभा (International Oriental Congress) द्वारा स्वीकृत हो चुकी है और उसे ग्रियर्सन महोदय ने, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (Royal Asiatic Society) के १८९५ के जर्नल (Journal) में, पृ० २१२–२१४ में, उद्धृत किया है :—

(क) देवनागरी अक्षरों का प्रत्यक्षरीकरण

अ	a	ऌ	l̥ or ḷ } २
आ	ā		
इ	i	ॡ	l̥̄ or ḹ } २
ई	ī		
उ	u	ए	e or ē
ऊ	ū	ऐ	ai
ऋ	r̥ or ṛ } १	ओ	o or ō ३
ॠ	r̥̄ or ṝ } १	औ	au

(१—२) जिस वर्ण के नीचे (०) शून्य लगाया जाता है वह आक्षरिक (अथवा स्वनंत) वर्ण माना जाता है और जिसके नीचे केवल विंदु (·) लगाया जाता है वह मूर्धन्य वर्ण माना जाता है अतः r̥, l̥ आदि ऋ और ऌ के लिए और ṛ ḷ ड़, ळ के लिए प्रयुक्त होते हैं पर कई लेखक ऋ, ऌ के लिए ṛ, ḷ (विंदु सहित) प्रयोग भी कर चुके हैं अतः उन संकेतों को प्रसंग से समझ लेना चाहिए।

(३) जिस स्वर-वर्ण के ऊपर आड़ी रेखा (—) लगी रहती है अथवा जिसके पर में दो विंदु (:) लगे रहते हैं वह दीर्घ समझा जाता है, जैसे— ā अथवा a : = दीर्घ आ होता है। इसी से ē, ō दीर्घ ए, ओ के लिए और e, o ह्रस्व ए, ओ के लिए प्रयुक्त होते हैं पर जो लेखक ए, ओ के ह्रस्व रूप को नहीं मानते थे उन्होंने प्रायः e, o का ही दीर्घ के लिए प्रयोग किया है। यह प्रसंग से ही स्पष्ट होता है।

क	ka	न	na
ख	kha	प	pa
ग	ga	फ	pha
घ	gha	ब	ba
ङ	ṅa	भ	bha
च	ca or c͟ha १	म	ma
छ	cha or c͟hha१	य	ya
ज	ja	र	ra
झ	jha	ल	la
ञ	ña	व	va
ट	ṭa	श	śa
ठ	ṭha	ष	ṣa
ड	ḍa	स	sa
ढ	ḍha	ह	ha
ण	ṇa	ळ	ḷa or l̲a २
त	ta	ं (अनुस्वार)	ṁ } or ᔕ ३
थ	tha	ँ (अनुनासिक)	m̐
द	da		
ध	dha	: (विसर्ग)	ḥ ४

(१) केवल आधुनिक भारतीय देशभाषाओं के प्रत्यक्षरीकरण में विद्वान् c͟ha जैसे संकेत का प्रयोग करते थे। पर प्राचीन संस्कृत के 'च' के लिए c का ही प्रयोग करते थे और आज भी करते हैं।

(२) l̲a अब ळ के लिए प्रयुक्त नहीं होता।

(३) विद्वान् अनुनासिक, अनुस्वार तथा नूने-गुन्ना तीनों के लिए एक ही संकेत ᔕ का प्रयोग करते हैं।

(४) यह विसर्ग तथा अघोष प्राण-ध्वनि (ह्) के लिए प्राचीन संकेत है। आजकल शुद्ध h से ही इन दोनों का संकेत किया जाता है। देखो—आगे 'अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषत् के कुछ लिपि-संकेत'।

✕ (जिह्वामूलीय)	ẖ	उदात्त[2]	′ ^
ꣳ (उपध्मानीय)	ẖ[1]	स्वरित	
ऽ (अवग्रह)	’	अनुदात्त	`

केवल आधुनिक भाषाओं में प्रयुक्त

ड़	ṛa[3]
ढ़	ṛha

(ख) अरबी फ़ारसी आदि लिपियों का प्रत्यक्षरीकरण

ا शब्द के आदि में लुप्त माना जाता है और अन्यत्र ’ से सूचित किया जाता है। कभी कभी – अथवा ० का भी प्रयोग किया जाता है।

ب	b	س	s
ت	t	ش	s̬ or sh
ث	t̬ or th	ص	ṣ
ج	j or dj	ض	ḍ
ح	ḥ	ط	t̤ or ṭ
خ	h̬ or kh	ظ	z̤ or ẓ
د	d	ع	‘
ذ	d̬ or dh	غ	g̬ or gh
ر	r	ف	f
ز	z	ق	q

(१) उपध्मानीय के लिए संस्कृतज्ञ ⌅ अथवा ꣳ का, ग्रियर्सन आदि (International Oriental Congress वाले) ẖ का और International Phonetic Association (अंतर्राष्ट्रीय-ध्वनि-परिषद्) वाले F का प्रयोग करते हैं।

(२) भिन्न भिन्न वेदों में उदात्तादि स्वरों के लिए भिन्न भिन्न चिह्न मिलते हैं। अतः यही ′ एक चिह्न सर्वत्र संस्कृत में तथा ग्रीक आदि प्राचीन भाषाओं में भी आजकल व्यवहृत होता है।

(३) नवीन ध्वन्यनुरूप लिपि का भी यही संकेत है। नवीन लिपि के लिए देखो तीसरा परिशिष्ट।

ك	k	ه	h
ل	l	ة	t or ḥ
م	m	ے	y
ن	n	स्वर	´a, ़i, ˚u
و	w or v	दीर्घ	ا ā, ي ī, و ū,

अलिफ़े मक़्सूरा का प्रतिनिधि ā हो सकता है।

संध्यक्षर ـَيْ ay and ـَوْ aw (or ـَيْ ai and ـَوْ au)

कहीं कहीं ī और ū के स्थान में क्रमशः e और o भी प्रयुक्त होते हैं।

भारतीय विभाषाओं में ē और ō और तुर्की में ü और ö का भी प्रयोग होता है।

भारत में भारतीय विभाषाओं के प्रत्यक्षरीकरण में और फारसी में ث के लिए s̤, ذ के लिए z̤ और ض के लिए ẓ रखा जाता है। वश्ल '।

अंत में आनेवाला अनुच्चरित h का प्रत्यक्षरीकरण करना आवश्यक नहीं है। जैसे بنده का बंदा (banda) होगा बंदः (bandah) नहीं। किंतु उच्चरित h अवश्य लिखा जाना चाहिए। जैसे गुना گناه (gunāh)

कुछ अतिरिक्त वर्ण

फारसी, हिंदी, उर्दू और पश्तो—

پ	p	ژ	z̧ or zh
چ	c̦, c or ch	گ	g

हिंदी, उर्दू और पश्तो—

ٹ or ټ	ṭ	ڑ o ړ	ṛ
ڈ or ډ	ḍ	ں (नूने गुन्ना)	ں

(ग) ग्रीक अक्षरों का प्रत्यक्षरीकरण

ग्रीक लिपि-संकेत	उच्चारण: रोमन	उच्चारण: नागरी	नाम
α	ă or ā	अ अथवा आ	alpha
β	b	ब	bēta
γ	g (as in gate)	ग	gamma
δ	d	ड (द)[1]	delta
ε	ĕ	ए	epsilon
ζ	z	ज़	zēta
η	ē	ए	ēta
θ	th	थ	thēta
ι	ĭ or ī	इ अथवा ई	iōta
κ	k	क	kappa
λ	l	ल	lambda
μ	m	म	mu
ν	n	न	nu
ξ	x	क्स अथवा च	xi
ο	ŏ	ओ	omīkron
π	p	प	pi
ρ	r	र	rhō
σ or (final) s	s	स (कभी कभी ज़)	sigma
τ	t	ट (त)[1]	tau
υ	ŭ or ū	उ अथवा ऊ	upsīlon
φ	ph	फ	phi

(१) इनका उच्चारण न हिंदी दंत्यवत् है और न मूर्धन्यवत्। इनकी तुलना अंगरेजी के दंत्य d, t से की जाती है। ग्रीक उच्चारण के लिए कोई भाषा-वैज्ञानिक ग्रंथ देखना अच्छा होगा।

	उच्चारण		
ग्रीक लिपि-संकेत	रोमन	नागरी	नाम
χ	ch, kh	ख	khi
ψ	ps	प्स (प्ज़)	psi
ω	ō	ओ	ōmega
ʽ	h	लघु प्रयत्न ह	Rough Breathing (*i.e.* Aspirate)[१]
		अनुच्चरित ह-श्रुति	Smooth Breathing (*i.e.* glottal stop)

---

(१) ग्रीक प्राणध्वनि, जिसे Aspirate अथवा Spiritus asper कहते हैं, एक घर्ष ध्वनि (glottal fricative) है और ग्रीक Spiritus lenis एक काकल्य स्पर्श ध्वनि (glottal stop) है। cf. Giles § 85 and 71. काकल्य स्पर्श (glottal stop) के विशेष वर्णन के लिए देखो—An Out-line of English Phonetics by Daniel ~~Ganes~~ § 552—54. Jones.

परिशिष्ट—३

ध्वन्यनुरूप लिपि

(अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषत् द्वारा स्वीकृत लिपि-संकेत)

जिनीवा पद्धति अथवा अंतर्राष्ट्रीय प्राच्य कांग्रेसवाली लिपि का सामान्य परिचय हम परिशिष्ट २ में दे चुके हैं। अब अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषत् के कुछ आवश्यक लिपि-संकेतों को नीचे देते हैं। आजकल इन्हीं का व्यवहार अधिक होता है। इसका पूर्ण परिचय 'The Principles of the International Phonetic Association', London, 1912 से मिल सकता है। G. Nöel-Armfield's General Phonetics (3rd ed. Cambridge, 1924) में भी इसका कुछ वर्णन है। पुरानी और नवीन दोनों परिपाटियों से परिचित होना अच्छा होता है।

अ	a	ख	kh
आ	a:	ग	g
इ	i	घ	gɦ
ई	i:	ङ	ŋ
उ	u	च	c (वैदिक)
ऊ	u:	छ	ch (वैदिक)
ऍ	e	ज	ɟ
ए	e:	झ	ɟɦ
ऑ	o	ञ	ɲ
ओ	o:	ट	ṭ
ऐ	a: ĭ (वैदिक)	ठ	ṭh
औ	a: ŭ (वैदिक)	ड	ḍ
ऋ	r̥	ढ	ḍɦ
ॠ	r̥:	ण	ṇ
ऌ	l̥	त	t

क	k	थ	th
द	d	ल	l
ध	dɦ	ळ	ḷ
न	n	ळ्ह	ḷɦ
प	p	श	ç
फ	ph	ष	ʃ̣
ब	b	स	s
भ	bɦ	ह	ɦ (सघोष)[२]
म	m	ह्	ḥ (अघोष)
य	ĭ (j) }[१]	: विसर्ग	h
व	ŭ (w) }	⌣ जिह्वामूलीय	x
र	r	⌣ उपध्मानीय	F

स्पर्श-घर्ष च (हिंदी या बँगला का) c͡ʃ
" छ " c͡ʃh
" ज " ɟ͡z
" झ " ɟ͡zɦ

w द्व्योष्ठ्य अन्तस्थ 'व'
J घोष तालव्य घर्ष 'य' (जैसा yes में)
m̩ आक्षरिक (अर्थात् स्वनंत) म
ə उदासीन अ (जैसे अंगेज़ again अथवा रतन में)
ʌ संवृत अ(जैसा rʌtən रतन के पहले अ में)
φ उच्च-मध्य अग्र स्वर (जैसा जर्मन schön में)
x जिह्वामूलीय सोष्म ख।
θ अंतर्दन्त्य अघोष घर्ष थ (जैसा अं० thin में)

---

(१) पुराने लेखक अर्धस्वर य, व के लिए i̯, u̯ लिखते थे। इन भेदों पर ध्यान देना चाहिए।

(२) पहले सघोष के लिए h और अघोष के लिए ḥ लिखते थे।

परिशिष्ट—४

संक्षेप

अ०—अर्वाचीन (आधुनिक से प्राचीनतर)
अं०—अँगरेजी
आ०—आधुनिक
आ० फा०—आधुनिक फारसी
इत्या०—इत्यादि
उ०—उड़िया
अ० तत्स०—अर्द्धतत्सम
अ० मा० (माग०)—अर्द्धमागधी
अप०—अपभ्रंश
अर०—अरबी
अव०—अवधी
आ० भा० आ०—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा
इ० ब्रि०—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका
ई०—ईस्वी
उदा०—उदाहरण
एक०—एकवचन
कादरी, हि० फो०—कादरी, हिंदुस्तानी फोनेटिक्स
का०—काश्मीरी
कृ०—कृदंत
ख० बो०—खड़ी बोली
गु० हि० व्या०—गुरु—कामताप्रसाद, हिंदी व्याकरण
त०—तद्धित
तत्स०—तत्सम
तद्भ०—तद्भव
दे०—देखो, देखिए
ना० प्र० प०—नागरीप्रचारिणी पत्रिका
पं०—पंजाबी
पा०—पाली
पु०—पुंल्लिंग
पू० ई०—पूर्व ईसा
पृ०—पृष्ठ
पै०—पैशाची
प्रा०—प्राकृत
प्रा० (किसी और शब्द के साथ)—प्राचीन (प्रसंगानुसार)
प्रा० भा० आ०—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा
फा०—फारसी
बं०—बंगाली
बहु०—बहुवचन
बि०—बिहारी
बी० क० ग्रा०—बीम्स की कम्पैरेटिव ग्रामर आफ दी माडर्न एरिअन लैंग्वेजेज आफ इंडिया (भा० १, १७८२ ई०; भाग २, १८७५; भाग ३, १८७६)
भा०—भारतीय
भा० प्रा० लि०—भारतीय प्राचीन लिपिमाला (ओझा १९१८)
भा०—भाषा
बो०—बोली
ब्र०—ब्रज

भा० आ०—भारतीय आर्य भाषा
भा० ई०—भारत ईरानी
भारो०—भारोपीय
भार०—भारतीय
म० भा० आ०—मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा
म०—मराठी
महा०—महाराष्ट्री
मा०—मागधी
राज०—राजस्थानी
लिं० स०—लिं० सर्वे आफ इंडिया
वै०—वैदिक
व्या०—व्याकरण
शौ०, शौर०—शौरसेनी
सं०—संस्कृत
हिं०—हिंदी
हिं० आ० भा०—हिंदी आर्यभाषा
हिं० ई०—हिंद ईरानी
हिंदु०—हिंदुस्तानी

परिशिष्ट—५

भाषावैज्ञानिक शब्दावली

(क) हिंदी से अँगरेजी

अंग	Part, Limb, Adjunct
अंग या विकारी रूप	Oblique form
अंत्यागम	Final Sound Development
अंतःप्रत्यय	Infix
अंतर्भाव	Inclusion
अंतर्भुक्त (अंतर्भावित, गतार्थ)	Implied
अंतर्भोग	Implication
अंतर्मुखीविभक्ति-प्रधान	Possessing internal inflection
अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषत्	International Phonetic Association
अंतस्थ	Semi-vowel, Intermediary
अक्षर	Letter, Vowel, Syllable
अक्षरांग	An adjunct to a vowel or a syllable (*i. e.*, a consonant.)
अक्षरावस्थान	Vowel-gradation (देखो Ablaut)
अक्षरावस्थिति	Vowel-position
अक्षरलोप, सरूपाक्षरलोप	Haplology
अक्षरश्रेणीकरण, अपश्रुति, अक्षरावस्थान	Ablaut, Apophony, Vowel-gradation
अक्षरावस्थान, अक्षरश्रेणीकरण, अपश्रुति	Ablaut, Apophony, Vowel-gradation
अखंड वाक्य-स्फोट	Explosion of one indivisible sentence

अघोष	Unvoiced, Without vibration, Absence of vibration
अघोष	Tenues (विशेष प्रसंग में)
अनवरुद्ध, सप्रवाह, अव्याहत	Continuant
अनुकरणमूलकतावाद (अनुकृतिवाद)	Theory of Onomatopœia
अनुदात्त	Grave, Low
अनुनासिक, नासिक्य	Nasal
अनुप्रदान (देखो बाह्य प्रयत्न)	Manner of articulation within glottis (*i. e.*, outside the mouth)
अनुस्वार	An after-vowel, A pure nasal
अनेकाक्षर	Poly-syllabic
अंत्यवर्णलोप	Apacope
अंधसादृश्य	False analogy
अन्न-प्रणाली, अन्न-मार्ग	Food passage
अन्न-मार्ग, अन्न-प्रणाली	Food passage
अपवाद	Exception
अपश्रुति, अक्षरावस्थान, अक्षरश्रेणीकरण	Apaphony, Vowel-gradation, Ablaut
अपूर्ण अनुकरण	Imperfect imitation
अप्राण, अल्पप्राण	Unaspirated
अभिकाकल	Epiglottis
अभिप्राय	Intention, Purpose, Sense
अभिव्यक्ति	Expression
अभिश्रुति	Umlaut, Vowel-mutation
अयोगात्मक, निर्योगि	Isolating
अयोगात्मक अर्थात् धातु अवस्था	Isolating stage
अर्थ	Meaning or thing meant
अर्थमात्र	Semanteme
अर्थविकार	Semantic change, Change of meaning

अर्थविचार	Semantics, Sesmiology
अर्थातिशय, अर्थविचार	Semantics
अर्धस्वर	Semi-vowel
अलौकिक, अथवा शास्त्रीय व्युत्पत्ति	Formal and grammatical Derivation (देखो संस्कृत व्याकरण)
अल्पप्राण, अप्राण	Unaspirated
अवयव (देखो शरीरावयव और चरमावयव)	Organ, Limb, Part
अवस्था (देखो—अवस्थिति और अक्षरावस्थान)	Position, Degree, Stage, Grade
अवृत्ताकार	Unrounded
अव्यक्त शब्द	Inarticulate sound, Inarticulate speech
अव्यक्तानुकरण, शब्दानुकृति	Imitation of sounds or onomatopœia
अव्यय	Indeclinable
अव्याहत, अनवरुद्ध, सप्रवाह	Continuant
असावर्ण्य, वैरूप्य	Dissimilation
आगम	Insertion, Addition, Acquisition, Development
आग्नेय (भाषा)	Austric or South Eastern
आघात	Accent
आकृतिमूलक	Morphological
आक्षरिक	Syllabic
आक्षरिक अनुनासिक (स्वनंत)	Syllabic Nasals (Sonant Nasals)
आक्षरिक द्रव वर्ण (स्वनंत)	Syllabic Liquids (Sonant Liquids)
आक्षरिक विभाग, अक्षरच्छेद	Syllabic division
आत्माभिव्यक्ति	Self-expression
आदि वर्णलोप	Aphæresis

आदेश-विधान	Substitution
आभ्यंतर	Inner
आभ्यंतर प्रयत्न	Way or manner of articulation within the mouth cavity
आर्ष	Archaic
आवाज़, (लहजा)	Tone
आस्य, वाग्यंत्र	The Mouth cavity (from lips down to larynx)
इच्छा	Wish
उच्चश्रेणी, उच्चावस्था	High Grade
उच्चारण	Articulation, Pronunciation, Utterance
उच्चारणस्थान	Place of Articulation, Organ of Pronunciation
उच्चावस्था, उच्चश्रेणी	High Grade
उत्कीर्ण लेख	Inscription
उत्क्षिप्त	Flapped
उदात्त	Acute
उपचयात्मक	Agglomerating
उपचार	Metaphor
उपधा, उपांत्य	Penultimate
उपपद	Article
उपभाषा, विभाषा	Dialect
उपमान, औपम्य, सादृश्य	Analogy
उपसर्ग (देखो पुरःप्रत्यय)	Prefix, Preposition, Adverb etc. (in S. Grammar)
उपांशु ध्वनि, जपित	Whispered Sound, Whispered
उष्म	Sibilant
ऊष्म-ध्वनि	Hissing sound
ऊष्मा	Breath

एकसंहित	Mono-synthetic
एकाचर, एकाच्	Mono-syllabic
एकाच्, एकाचर	Mono-syllabic
एकादेश, एकीभाव, स्वर-संधि	Craesis, Contraction
एकीभाव, एकादेश, प्रश्लेष, स्वर-संधि	Craesis, Contraction
ऐतिहासिक व्याकरण	Historical Grammar
ऐतिहासिक व्युत्पत्ति (या लौकिक व्युत्पत्ति)	Historical Etymology
ओष्ठ	Lip
ओष्ठ्य	Labial
ओष्ठ्यभाव	Labialisation
औपचारिक प्रयोग, आलंकारिक प्रयोग	Metaphorical use, figurative use
औपम्य, सादृश्य, उपमान	Analogy
कंठ	Throat
कंठ, कंठस्थान	Velum
कंठपिटक	Larynx
कंठ-बिल, कंठ-मार्ग, गल-बिल	Pharynx
कंठ-मार्ग, कंठ-बिल, गल-बिल	Pharynx
कंठस्थान, कंठ	Velum
कंठ्य	Velar, gutteral, uvular
कंपन, घोष	Vibration
कठोर	Surd, hard
करण (देखो आभ्यंतर प्रयत्न)	Instrument, way of articulation
कला	Art
काक, घंटी, कौआ	Uvula
काकल	Glottis
काकल्य	Glottal
काकल्य स्पर्श	Glottal stop or Laryngeal plosive
काकल्य घर्ष (अथवा सोष्म)	Glottal spirant
कार्य	Phenomenon
कुटिल	Crooked

कुटुंब	Family
कुटुंबी	Member of a family
कोमल	Sonant (as opp. to hard), Soft
कोमल-तालु	Velum, Soft-palate
कौआ, घंटी, काक	Uvula
क्रमिक-प्रारंभ	Gradual beginning
गल-विल, कंठ-मार्ग, कंठ-बिल	Pharynx
गला, कंठ	Throat
गुण	Strengthening, Strong vowel, Strong form, secondary form, quality
गौण अक्षरावस्थान, गुणज अपश्रुति	Qualitative Ablaut
ग्रीवा	Neck
घंटी, कौआ, काक	Uvula
घर्ष (संघर्षी, घृष्ट)	Fricative, spirant or durative
घर्षण	Friction
घर्ष-स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी	Affricate
घोष	With vibration, Vibration voiced
घोष, कंपन	Vibration
घोष, सघोष, घोषवत्	With vibration, voiced
चरमावयव	Unit
चित्रलेखन, चित्रलिपि	Pictography
जटिल	Complex
जनकथा-विज्ञान या पुराण-विज्ञान	Science of Mythology
जपित, उपांशुध्वनि	Whispered, whispered sound
जिह्वा	Tongue
जिह्वाग्र, जिह्वाफलक	Blade of the tongue
जिह्वानीक	Tip of the tongue
जिह्वाफलक, जिह्वाग्र	Blade of the tongue

जिह्वा-मध्य, पश्च-जिह्वा	Back of the tongue
जिह्वामूल	Root of the tongue
जिह्वामूलीय	Pronounced at the root of the tongue
जिह्वोत्कंपी	Trilled
जिह्वोपाग्र	Front of the tongue
तात्पर्य	Sense
तालव्य	Palatal
तालव्यभाव	Palatalisation
तालव्यभाव का नियम	Law of palatalisation
तालु	Palate
तुलनात्मक प्रक्रिया या तौलनिक	Comparative method
तौलनिक पद्धति या तुलनात्मक प्रक्रिया	Comparative method
त्रिवर्ण, त्रैवर्णिक	Consisting of three letters
त्रैवर्णिक, त्रिवर्ण	Consisting of three letters
त्र्यक्षर	Tri-syllabic
दंत	Teeth
दंतमूल	Root of the teeth
दंत्य	Dental
दार्शनिक अध्ययन	Philosophic study
दिव्य उत्पत्ति	Divine origin
दीर्घ	Long
दृढ़ स्वर	Tense
द्रव वर्ण	Liquid sounds
द्वितीय वर्ण-परिवर्तन	Second sound-shift
धातु	Root
धातु-अवस्था	Root stage Radical stage
ध्वनि	Sound
ध्वनिसमूह	Sounds
ध्वनिकुल, ध्वनिकुटुंब	A family of Sounds
ध्वनितंत्री, स्वरतंत्री	Vocal chords

ध्वनिमात्र, ध्वनिकुल	Phoneme
ध्वनियंत्र	Kymograph
ध्वनि-विकार	Phonetic change
ध्वनि-विचार	Phonology
ध्वनि-विज्ञान	Phonetics (including phonology)
ध्वनि-शिक्षा	Phonetics
ध्वनि-श्रेणी, ध्वनिमात्र	Phoneme
ध्वनि-संकेत	Sound symbol
ध्वन्यनुरूप	Phonetic
नाद	Voiced, Voice
नामोद्देश	Enumeration
नासिका-विवर	Nasal cavity
निघात	Absence of accent
निपात	Particle
निःश्वास	Exhale, Breath out
निरवयव, निरिंद्रिय	Inorganic
निर्बल	Weak, unstressed
निर्योग	Underived, isolating crude (without any affix)
नीच श्रेणी	Low-grade
पद	An inflected word (in S. Grammar)
पदजात	A category of words
परंपरा-लिपि	Traditional script
पर-प्रत्यय	Suffix
पर-प्रत्यय-प्रधान	Suffix-agglutinating
पर-श्रुति, पश्चात्-श्रुति	Off-glide
पर-सर्ग	Post-position
परसावर्ण्य, परसारूप्य	Regressive assimilation
पर-सावर्ण्य, परवैरूप्य	Regressive dissimilation
परिमाण	Quantity

परिवर्तन, विकार	Change, transition
परिवर्तन-काल	Transition-period
परिवर्तन-ध्वनि	Transition-sound
परीक्षामूलक, प्रयोगात्मक	Experimental
पश्च-जिह्वा, जिह्वामध्य	Back of the tongue
पश्चात्-श्रुति, पर-श्रुति	Off-glide
पारंपरिक, परंपरागत	Traditional
पारिभाषिक	Technical
पार्श्विक	Lateral (side consonant)
पुरःप्रत्यय	Prefix
पुरःप्रत्यय-प्रधान	Prefix-agglutinating
पुराण-विज्ञान या जनकथा-विज्ञान	Science of Mythology
पुरातत्त्व	Archæology
पुरोहिति, पूर्वहिति	Prothesis, Prothetic Anaphyxis
पूर्व-श्रुति	On-glide
पूर्व-सर्ग	Preposition
पूर्व-सावर्ण्य, पूर्वसारूप्य	Progressive assimilation
पूर्वासावर्ण्य, पूर्ववैरूप्य	Progressive dissimilation
पूर्वहिति, पुरोहिति	Prothesis
पूर्वागम	Initial development, Anticipatory addition
प्रकृति	Stem (Base, Root)
प्रक्रिया	Method, process
प्रति	A copy (of a book or a manuscript)
प्रतिध्वनि	Corresponding sound, Echo
प्रतिवर्ण	Corresponding letter, Corresponding sound
प्रतिशब्द	Corresponding word
प्रतिलिपि	A copy
प्रतीकात्मक	Symbolic

प्रत्यक्षरीकरण	Transliteration
प्रत्यय	Affix
प्रत्यय-प्रधान	Agglutinating, Abounding in affixes
प्रथम वर्ण-परिवर्तन	First-sound shift
प्रदान (देखो आभ्यंतर प्रयत्न)	Manner of articulation within mouth cavity
प्रधान अक्षर } प्रधान स्वर }	Cardinal vowel
प्रमाण	Size
प्रमाणाक्षर, मानाक्षर, प्रधान-स्वर	Cardinal vowel
प्रयत्न	Manner of pronunciation, effort, 'mode of activity'
प्रयत्न-लाघव	Saving of effort
प्रश्वास	Breath out, exhale
प्राकृत	Romantic, Natural, Vulgar
प्राकृत लैटिन	Vulgar Latin, Popular Latin
प्राकृतवाद, स्वभाववाद	Romanticism
प्राचीन-शोध	Palæontology
प्राथमिक प्राकृत	Primary Prakrits
प्राण (सप्राणत्व)	Aspiration
प्राणध्वनि	Aspirate
प्राणवायु	Breath
फुप्फुस, फेफड़ा	Lungs
फेफड़ा, फुप्फुस	Lungs
फ्रिज़िअन	Frisian
फ्रीजीअन	Phrygian
बल	Stress
बलवान्	Strong, Stressed, Emphatic
बहिर्भाव	Exclusion

बहिर्मुखीविभक्ति-प्रधान	With external flexion
बहुसंश्लेषात्मक, बहुसंहित	Poly-synthetic
बानी, बोल	Slang
बोली	Patois
बौद्ध नियम	Intellectual law
भारोपीय	Indo-European
भारोपीय भाषा	Indo-European language
भाव	Idea, Emotion
भाव, मनोभाव	Emotion
भाषण-ध्वनि	Speech-sound
भाषणावयव	Speech-organ
भाषा	Standared (Common) Language or Koine
भाषा	Language
भाषा-सामान्य	Language in general
भ्रामक उत्पत्ति, लौकिक व्युत्पत्ति	Popular Etymology
मत-विज्ञान	Science of Religion
मति	View, Opinion
मध्यवर्णलोप	Syncope
मध्यस्वर	Central vowel
मध्यागम	Medial, development addition or insertion
मनोभाव, भाव	Emotion
मनोविकार	Emotions, feelings and sentiments
मनोभावाभिव्यंजकतावाद (अनुभाव-वाद)	Interjectional theory
महाप्राण, सप्राण	Aspirated
महाप्राण	Aspirate (विशेष प्रसंग में)
मात्रा	Mora, quantity
मात्रिक अपश्रुति	Quantitative Ablaut
मानव विज्ञान	Anthropology
मानाचर	Cardinal vowel
मिश्र	Mixed

मुख-विवर	Mouth-cavity
मुखोपदेश	Oral instruction
मूर्धन्य	Retroflex, cerebral, cacuminal
मूर्धन्यभाव	Cerebralisation
मूर्धा	Cerebrum
मूलस्वर (देखो समानाक्षर)	Original vowel, Simple vowel
यदृच्छा संबंध	Arbitrary connection, a matter of chance
युक्त-विकर्ष, विप्रकर्ष	Anaptyxis (विशेष प्रसंग में)
यूरेशिया	Eurasia
राजभाषा	Court-language
राष्ट्रीय भाषा	Lingua franca, national language
रूप	Form
रूपमात्र	Morpheme
रूपविकार	Morphological change
रूपविचार	Morphology
रूप-रचना, रूपावतार	Accidence
रोमांस	Romance
रोमांश	Romansch
लक्षण	Definition, theory
लक्ष्य	Examples, facts
लिपि-संकेत	Written symbol
लुंठित	Rolled
लोकभाषा	Popular language
लोप	Elision, Loss, Absorption
लौकिक व्युत्पत्ति, भ्रामक व्युत्पत्ति	Popular Etymology
लौकिक व्युत्पत्ति या ऐतिहासिक व्युत्पत्ति	Historical Etymology
लौकिक संस्कृत	Post-vedic Sanskit, Classical Sanskrit
वंशान्वयशास्त्र	Ethnology

वर्ण	Letter, sound
वर्णनात्मक व्याकरण	Descriptive Grammar
वर्णमाला, ध्वनिमाला	Alphabet
वर्ण-विचार, ध्वनि-विचार	Phonology
वर्णविज्ञान	Phonetics
वर्णविन्यास	Spelling
वर्णविपर्यय	Metathesis
वर्णशिक्षा	Phonetics
वर्णापिनिहिति, अपिनिहिति	Epenthesis
वर्त्स, वर्स्व	Alveoli, teeth ridge
वर्त्स्य, वर्स्व्य	Alveolar, post-dental
वर्स्व, वर्त्स	Teeth ridge, Alveoli
वाक्यमूलक	Syntactical
वाक्यशब्द	Sentence-word
वाग्यंत्र, आस्य	Cavity from lips to Larynx, Mouth
वाङ्मय	Literature
वाह्य	Outer
वाह्य प्रयत्न	Mode of activity (or pronunciation) outside the mouth cavity
वाक्य-विचार	Syntax
विकार	Change, modification
विकार और विकास	Change and growth
विकारी रूप, अंग	Oblique form
विकृति	Modification
विकृतिप्रधान, संस्कारप्रधान	Grammatical, Inflexional
विचार	Thought
विज्ञान	Science (Positive)
विप्रकर्ष, युक्तविकर्ष	Anaptyxis (विशेष प्रसंग में
विभक्त	Divided. (*i.e.*, lateral)
विभक्ति	Inflexion
विभक्तिप्रधान	Inflexional

विभाविका शक्ति	Creative Power
विभाषा, उपभाषा	Dialect
विभाषा-मिश्रण	Dialectal Mixture
विरूप	Unlike, dissimilar
विवृत	Open
विवृत्ति	Hiatus
विशेष	Particular
विश्लेष, विप्रकर्ष	Anaptyxis, separation of a conjunct consonant
विसर्ग	A voiceless aspirate sound
विसर्जनीय	Visarga
वृत्ताकार	Rounded
वृद्धि	Increment, increase, Strongest Vowel grade, Lengthening.
वैज्ञानिक अध्ययन	Scientific Study
वैज्ञानिक लिपि	Phonetic Script
वैरूप्य, असावर्ण्य	Dissimilation
व्यंजन	Consonant
व्यंजन-संधि	Conjunction, Combination, Phonetic Combination (Satzphonetik)
व्यक्त	Articulate
व्यक्त ध्वनि	Articulate Sound
व्यक्ति-वैचित्र्य	Individual uniqueness
व्यत्यय	Irregularity
व्यवस्थित	Systematic
व्यवहित	Analytic
व्याख्यात्मक व्याकरण	Explanatory Grammar
व्यासप्रधान	Isolating
शक्ति	Power
शब्दानुकृति, अव्यक्तानुकरण	Imitation of sounds, or Onomatopœia

शिक्षाशास्त्र	Phonetics (Science of)
शिथिल (स्वर)	Lax
शून्य श्रेणी	Zero grade
श्रेणीमाला	Series
श्रावणगुण	Accoustic quality
श्रुति	Glide
श्वास	Breathed, Breath, Breathe in
श्वास-प्रणाली, श्वास-मार्ग	Wind-pipe
श्वास-मार्ग, श्वास-प्रणाली	Wind-pipe
श्वासवर्ग	Breath-group
श्वासानुप्रदान	With breath as their outer effort
संघातप्रधान	Incorporating
संघाती	Incorporating
संज्ञा	Term
संधि	Euphonic Combination
संध्यक्षर, संयुक्ताक्षर	Diphthong
संनिधि, सन्निधान	Juxtaposition
संप्रसारण	Distraction
संयुक्ताक्षर, संध्यक्षर	Diphthong
संयोग	Agglutination, Combination
संयोग-प्रधान	Agglutinating
संवृत	Close
संवृत अ (सं० व्या०)	A close neutral vowel
संश्लेष, संहिति	Synthesis
संसर्ग (अर्थात् संबंध)	Association
संसर्ग-ज्ञान	Knowledge of Association
संस्कारप्रधान, विकृतिप्रधान	Grammatical, Inflexional
संस्कृत	Classical
संस्कृतवाद	Classicism

संस्कृतिक	Sanskritic
संस्था	Institution
संहित	Synthetic
संहिति, संश्लेष	Synthesis
संहिता	Contiguity, Combination
सघोष	Medeia (विशेष प्रसंग में)
सघोष, घोषवत्, घोष	With vibration, voiced
सजातीय	Cognate
सबल	Strong
सप्रवाह, अव्याहत, अनवरुद्ध	Continuant
सप्राण, महाप्राण	Aspirated
सप्राण स्पर्श	Aspirated stop
समकक्ष	Of the same Category
समभिव्याहार	On the same level, in juxtaposition
समय	Tradition, usage, traditional truth
समान	The same, like
समानधर्मा	Corresponding
समानाक्षर	Simple vowel
समानाक्षर, मूलस्वर	Original vowel
समानाधिकरण	In apposition, in the same case
समासप्रधान	Incorporating
समीकरण	Levelling
सरूप	Similar, Like
सस्थान	Belonging to the same organ of speech
सस्वर	Accented
सहज संस्कार	Innate instinct
सांकेतिक	Conventional
सादृश्य, उपमान, औपम्य	Analogy
साधारणीकरण	Generalisation
साधुता	Correctness

सानुनासिक	Nasal
सामान्य	General
सामान्य व्याकरण	General Grammar
सामान्य संहिति	General Synthesis
सारूप्य, सावर्ण्य	Assimilation
सावयव	Organic
सावर्ण्य, सारूप्य	Assimilation
सुर (स्वर)	Pitch
सुव्यवस्थित	Systematic
सुषम	Symmetrical
सोष्म (देखो घर्ष)	Spirant
सोष्मीकरण	Spirantisation
स्कंध	Factor
स्थान	Position, Place of articulation, Organ of Pronunciation
स्थान-प्रधान	Positional
स्पर्श (स्पृष्ट)	Mute, Contact, Plosive, Stop
स्पर्श-घर्ष, घर्ष-स्पर्श	Affricate
स्फोट वर्ण	Explosive Sound
स्वनंत अनुनासिक व्यंजन	Sonant Nasal Consonant
स्वनंत वर्ण (देखो आक्षरिक)	Sonant (as opposed to Consonant)
स्वयंभू	Spontaneous
स्वर	Pitch, Tone, Vowel, Pitch-accent, accent
स्वर-तंत्री, ध्वनि-तंत्री	Vocal chords
स्वर-त्रिकोण	Vowel-triangle
स्वर-भक्ति	A vowel-part, Anaptyxis
स्वर-संगति	Vowel-harmony
स्वर-संधि	Contraction (vowel)
स्वरागम, स्वरभक्ति	Anaptyxis (*i. e.* development of a vowel)

स्वरानुरूपता, स्वर-संगति, स्वर-संवाद	Vowel-harmony
स्वरावस्थिति	Vowel-position
स्वरित	Circumflex
स्वात्माभिव्यंजनाय	Self-expression
स्वांतःसुखाय	Self-amusement
ह्रस्व	Short
ह्रास	Decay

(ख) अँगरेजी से हिंदी

Ablaut, vowel-gradation	अपश्रुति, अक्षरावस्थान, अक्षरश्रेणीकरण
Abounding in affixes, agglutinating	प्रत्यय-प्रधान
Absence of accent	निघात, अनुदात्त
Absence of Vibration	अघोष
Accent	आघात
Accent (pitch)	स्वर
Accent (stress)	बल
Accented	सस्वर, सबल
Accoustic quality	श्रावण गुण
Acute	उदात्त
Affix	प्रत्यय
Affricate	घर्ष-स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, स्पर्श-घर्ष
Agglutinating	संयोग-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान
Agglutination	संयोग
Alphabet	वर्णमाला
Alveolar, Post dental	वर्त्स्य, वर्त्स्य
Alveoli	वर्त्स, वर्त्स
Analogy	औपम्य, सादृश्य, उपमान
Analytic	व्यवहित
Anaptyxis	युक्त-विकर्ष, विप्रकर्ष (विशेष प्रसंग में)
Anthropology	मानव-विज्ञान
Apocope	अन्त्यवर्ण-लोप
Apophony, gradation, ablaut	अपश्रुति, अक्षरावस्थान, अक्षरश्रेणीकरण

Aphæresis (or aphesis)	आदिवर्ण-लोप
Arbitrary Connection	यदृच्छा संबंध
Archæology	पुरातत्त्व
Archaic	आर्ष-
Art	कला
Article	उपपद
Articulate	व्यक्त
Articulate sound	व्यक्त ध्वनि
Articulation	उच्चारण
Aspirate	प्राण-ध्वनि
Aspirated	सप्राण, महाप्राण
Aspirated stop	सप्राण स्पर्श
Aspiration	प्राण (सप्राणत्व)
Assibilation	ऊष्मीकरण
Assimilation	सावर्ण्य, सारूप्य
Association	संसर्ग अर्थात् संबंध, साहचर्य
Back of the Tongue	पश्च-जिह्वा, जिह्वा-मध्य
Base	प्रकृति, प्रातिपदिक
Belonging to the same organ of speech	सस्थान
Blade of the Tongue	जिह्वाफलक, जिह्वाग्र
Breath	प्राण-वायु, श्वास, ऊष्मा
Breathed	श्वास
Breathe in	श्वास
Breathe out	निःश्वास, प्रश्वास
Breath-group	श्वासवर्ग
Cardinal Vowel	प्रधान-स्वर, प्रमाणाक्षर, प्रधान अक्षर, मानाक्षर
Cavity from lip upto Larynx	वाग्यंत्र, आस्य
Central vowel	मध्यस्वर
Cerebral	मूर्धन्य
Cerebralisation	मूर्धन्यभाव
Cerebrum	मूर्धा

Change	परिवर्तन, विकार
Change and growth	विकार और विकास
Circumflex	स्वरित
Classical	संस्कृत
Classical Sanskrit	लौकिक संस्कृत
Classicism	संस्कृतवाद, शास्त्रवाद
Close	संवृत
Cognate	सजातीय
Colour	वर्ण
Comparative Method	तुलनात्मक प्रक्रिया या तौलनिक पद्धति
Complex	जटिल
Contact cf. mute, plosive etc.	स्पर्श
Consisting of three letters	त्रिवर्ण, त्रैवर्णिक
Contraction	स्वरसंधि (जिसमें एकादेश और प्रकृतिभाव दोनों आ जाते हैं)
Continuant	सप्रवाह, अव्याहत, अनवरुद्ध
Conventional	सांकेतिक
Correctness	साधुता
Corresponding	समानधर्मा
Corresponding sound	प्रतिध्वनि, प्रतिवर्ण
Corresponding letter	प्रतिवर्ण
Corresponding word	प्रतिशब्द
Court language	राजभाषा
Craesis	एकादेश, एकीभाव, प्रश्लेष
Creative Power	विभाविका शक्ति
Crooked	कुटिल
Definition	लक्षण, परिभाषा
Degree	अवस्था (देखो अवस्थिति)
Dental	दंत्य
Descriptive Grammar	वर्णनात्मक व्याकरण
Divine Origin	दिव्य उत्पत्ति
Dialect	उपभाषा, विभाषा

Dialectal Mixture	विभाषा-मिश्रण
Diphthong	संध्यक्षर, संयुक्ताक्षर
Distraction	संप्रसारण
Dissimilar	विरूप
Dissimilation	असावर्ण्य, वैरूप्य
Divided (*i.e.* lateral)	विभक्त (=पार्श्विक)
Durative or Spirant	घर्ष (संघर्षी)
Echo	प्रतिध्वनि
Elision	अदर्शन, लोप
Emotion	भाव, मनोभाव, मनोविकार
Emphatic	बलवान्
Enumeration	नामोद्देश
Epenthesis	अपिनिहिति
Epiglottis	अभिकाकल
Ethnology	वंशान्वय शास्त्र
Euphonic combination	संधि, संहिता
Eurasia	यूरेशिया
Examples	लक्ष्य, उदाहरण
Exception	अपवाद
Exclusion	बहिर्भाव
Exhale	प्रश्वास, निःश्वास
Experimental	परीक्षा-मूलक
Explanatory Grammar	व्याख्यात्मक व्याकरण
Explosion of one indivisible sentence	अखंड-वाक्य-स्फोट
Explosive sound	स्फोट वर्ण
Expression	अभिव्यक्ति
Factor	स्कंध
Facts	लक्ष्य
False Analogy	अंधसादृश्य
First sound shift	प्रथम वर्ण-परिवर्तन
Flapped	उत्क्षिप्त
Formal and Grammatical derivation	अलौकिक अथवा शास्त्रीय व्युत्पत्ति

Food passage	अन्नमार्ग, अन्नप्रणाली
Fricative	घर्ष (संघर्षी)
Friction	घर्षण
Frisian	फ्रिज़िअन
Front of the tongue	जिह्वोपाग्र
General	सामान्य
General Grammar	सामान्य व्याकरण
General synthesis	सामान्य संहिति
Generalisation	साधरणीकरण
Glide	श्रुति
Glottal	काकल्य
Glottal	उरस्य (प्राचीनतर शब्द)
Glottal stop or plosive, देखो—Spiritus lenis	काकल्य स्पर्श
Glottal spirant, (Aspirate) देखो—Spiritus asper	काकल्य घर्ष
Glottis	काकल
Gradation, ablaut	अपश्रुति
Gradual beginning	क्रमिक प्रारंभ
Grammatical	संस्कार-प्रधान, विकृति-प्रधान
Grave	अनुदात्त
Guttural	कंठ्य
Haplology	अक्षर-लोप, सरूपाक्षर-नाश
Hard	कठोर
Hiatus	विवृत्ति
High grade	उच्च श्रेणी, उच्चावस्था
Historical Etymology	ऐतिहासिक व्युत्पत्ति
Historical Grammar	ऐतिहासिक व्याकरण
Hissing sound	ऊष्म-ध्वनि
Idea	भाव
Imitation of sounds	अव्यक्तानुकरण, शब्दानुकृति
Imitational	अनुकृत, अनुकरणमूलक
Imperfect imitation	अपूर्ण अनुकरण
Implication	अन्तर्भोग, निहितार्थ, अंतर्भावितार्थ

Implied	अन्तर्भुक्त
Inarticulate sound	अव्यक्त शब्द
Inarticulate speech	अव्यक्त शब्द (=भाषण)
Inclusion	अन्तर्भाव
Incorporating	समास-प्रधान, संघाती, संघात-प्रधान
Increase	वृद्धि
Increment	वृद्धि
Indeclinable	अव्यय
Individual uniqueness	व्यक्तिवैचित्र्य
Indo-European	भारोपीय
Indo-European language	भारोपीय भाषा
Infection	अभिसंक्रमण, अभिश्रुति
Infix	अंतःप्रत्यय
Inflected word	पद
Inflexion	विभक्ति
Inflexional	विभक्ति-प्रधान,संस्कार-प्रधान, विकृति-प्रधान
Innate instinct	सहज संस्कार
Inner	आभ्यंतर
Inorganic	निरिंद्रिय, निरवयव
Inscription	उत्कीर्ण लेख
Insertion, addition	आगम
Instrument	करण
Intellectual law	बौद्ध नियम
Intention, Sense	अभिप्राय
Interjectional	मनोभावाभिव्यंजक, विस्मयादिबोधक, अनुभावक
Intermediary	अंतःस्थ
International phonetic Association	अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषत्
Institution	संस्था
Irregularity	व्यत्यय
Isolating	व्यासप्रधान, अयोगात्मक

Isolating stage	अयोगात्मक अर्थात् धातु अवस्था
Kymograph	ध्वनियंत्र
Labial	ओष्ठ्य
Language	भाषा
Language in General	भाषा-सामान्य
Larynx	कंठ-पिटक
Laryngeal explosive (or Spiritus lenis)	काकल्य स्पर्श
Lateral (side consonant)	पार्श्विक
Law of Palatisation	तालव्य भाव का नियम
Lax	शिथिल स्वर
Lengthening	वृद्धि
Letter	अक्षर, वर्ण
Levelling	समीकरण
Like	सरूप
Limb	अंग, अवयव
Lingua franca	राष्ट्रीय भाषा,लोकभाषा,बाज़ारू भाषा
Lip	ओष्ठ
Liquid sounds	द्रववर्ण
Literature	वाङ्मय
Long	दीर्घ
Loss	लोप, नाश
Low grade	नीच श्रेणी
Lungs	फुप्फुस, फेफड़ा
Manner of Pronunciation	प्रयत्न
Matter of chance	यदृच्छा संबंध
Meaning	अर्थ, अभिधेय, शब्दार्थ
Medeia	सलोप (विशेष प्रसंग में)
Member of a family	कुटुंबी
Metaphor	उपचार
Metaphorical use	औपचारिक प्रयोग
Metathesis	वर्ण-विपर्यय
Method	प्रक्रिया

Mixed	मिश्र
Mono-syllabic	एकाक्षर, एकाच्
Mono-synthetic	एक-संहित
Mora	मात्रा
Morpheme	रूपमात्र
Morphology	रूप-विचार
Morphological	आकृतिमूलक
Mouth	आस्य, वाग्यंत्र
Mouth cavity	मुख-विवर
Mute	स्पर्श
Mutation, vowel-mutation, umlaut	अभिश्रुति
Nasal	अनुनासिक, सानुनासिक
Nasal cavity	नासिका-विवर
Natural	प्राकृत
Neck	ग्रीवा
Oblique form	अंग, विकारी रूप
Of the same category	समकक्ष
Off-glide	पश्चात्श्रुति, परश्रुति
On-glide	पूर्वश्रुति
Open	विवृत
Oral instruction	मुखोपदेश
Organ	अवयव (देखो—शरीरावयव)
Organs of Pronunciation	उच्चारणस्थान, स्थान
Organic	सावयव
Original vowel	मूलस्वर, समानाक्षर
Outer	बाह्य
Palatal	तालव्य
Palatalisation	तालव्य भाव
Palate	तालु
Palæontology	प्राचीन शोध
Part	अंग
Particle	निपात

Particular	विशेष
Patois	बोली
Penultimate	उपधा
Pharynx	कंठबिल, कंठमार्ग, गलबिल
Philosophic study	दार्शनिक अध्ययन
Phoneme	ध्वनि-श्रेणी (देखो—ध्वनिकुल), ध्वनिमात्र, ध्वनिकुल
Phonetic	ध्वन्यनुरूप
Phonetic change	ध्वनि-विकार
Phonetic script	वैज्ञानिक लिपि
Phonetics	ध्वनि-शिक्षा, वर्ण-शिक्षा
Phonetics (including Phonology)	ध्वनि-विज्ञान, वर्ण-विज्ञान
Phonetics (science of)	शिक्षाशास्त्र
Phonology	ध्वनि-विचार, ध्वनि-विकार, वर्ण-विचार
Phrygian	फ्रीजिअन
Pitch	सुर (स्वर), स्वर
Pitch accent	स्वर
Place	उच्चारण-स्थान, स्थान
Plosive	स्पर्श, स्फोटक
Poly-syllabic	अनेकाक्षर
Poly-synthetic	बहुसंहित, बहुसंश्लेषात्मक
Popular Etymology	लौकिक व्युत्पत्ति, भ्रामक व्युत्पत्ति
Popular Latin	प्राकृत लैटिन
Position	अवस्था (देखो—अवस्थिति), स्थान
Positional	स्थानप्रधान
Possessing internal inflexion	अन्तर्मुखी विभक्ति-प्रधान
Post-dental	वर्त्स्य, वर्त्स्य
Post-position	पर-सर्ग
Post-Vedic Sanskrit	लौकिक संस्कृत
Power	शक्ति
Prefix	पुरःप्रत्यय

Prefix-agglutinating	पुरःप्रत्यय-प्रधान
Preposition	पूर्वसर्ग
Primary Prakrits	प्राथमिक प्राकृत
Process	प्रक्रिया
Progressive assimilation	पूर्व-सावर्ण्य
Progressive dissimilation	पूर्वासावर्ण्य
Pronounced at the root of the tongue	जिह्वामूलीय
Prothesis	पूर्वहिति, पुरोहिति
Purpose	अभिप्राय
Qualitative ablaut	गौण अक्षरावस्थान
Quantitative ablaut	मात्रिक अपश्रुति
Quality	गुण
Quantity	परिमाण
Regressive dissimilation	परासावर्ण्य, परवैरूप्य
Regressive assimilation	पर-सावर्ण्य, पर-सारूप्य
Retroflex	मूर्धन्य, पश्चोन्मुख
Rolled	लुंठित
Romance	रोमान्स
Romantic	प्राकृत
Romanticism	प्राकृतवाद
Root	प्रकृति, धातु, मूल
Root of the tongue	जिह्वामूल
Root of the teeth	दंतमूल
Rounded	वृत्ताकार
Sanskritic	संस्कृतिक
Saving of effort	प्रयत्न-लाघव
Science (Normative)	शास्त्र
Science (Positive)	विज्ञान
Science of Mythology	पुराणविज्ञान, जनकथाविज्ञान
Science of Religion	मतविज्ञान
Scientific Study	वैज्ञानिक अध्ययन
Second-sound shift	द्वितीय वर्ण-परिवर्तन
Secondary form	गुण

Semanteme	अर्थमात्र
Semantic Change	अर्थ-विकार
Semantics	अर्थ-विचार (अर्थातिशय)
Semi-vowel	अर्धस्वर, अंतःस्थ
Sense	तात्पर्य, वाक्यार्थ
Sentence-word	वाक्य-शब्द
Self-amusement	स्वान्तःसुखाय
Self-expression	स्वात्माभिव्यंजनाय, आत्माभिव्यक्ति
Series	श्रेणिमाला
Sesmiology	अर्थ-विचार
Short	ह्रस्व
Sibilant	ऊष्म
Similar	सरूप
Simple vowel	समानाक्षर, मूलस्वर
Size	प्रमाण
Slang	बानी, बोल
Soft	कोमल
Soft-palate	कोमल-तालु
Sonant	स्वनंत वर्ण, कोमल
Sonant Nasal Consonant	स्वनंत अनुनासिक व्यंजन
Sound	ध्वनि, वर्ण
Sounds	ध्वनि-समूह
Sounds (a family of)	ध्वनि-कुल
Sound symbol	ध्वनि-संकेत
South Eastern	आग्नेय
Spelling	वर्ण-विन्यास
Speech organ	भाषणावयव
Speech sound	भाषण-ध्वनि
Spirant	सोष्म (देखो—घर्ष),
Spirantisation	सोष्मीकरण
Spontaneous	स्वयंभू
Stem	प्रकृति
Strengthening	गुण

Stress	बल
Stressed	बलवान्
Stop	स्पर्श
Strong	सबल, बलवान्
Strong form	गुण
Strong vowel	गुण
Strongest vowel-grade	वृद्धि
Substitute	आदेश
Substitution	आदेश विधान
Suffix	पर-प्रत्यय
Suffix-agglutinating	पर-प्रत्यय-प्रधान
Surd	कठोर
Syllabic	आक्षरिक
Syllabic division	आक्षरिक विभाग, अक्षरच्छेद
Syllabic Liquids	आक्षरिक द्रव
Syllabic Nasal	आक्षरिक अनुनासिक
Syllable	अक्षर
Symbol (written)	लिपि-संकेत
Symbolic	प्रतीकात्मक
Symmetrical	सुषम
Syncope	मध्य वर्णलोप
Syntactical	वाक्यमूलक
Syntax	वाक्य-विचार
Synthesis	संहिति, संश्लेप
Synthetic	संहित
Systematic	सुव्यवस्थित, व्यवस्थित
Technical	पारिभाषिक
Teeth	दंत
Teeth-ridge	वर्त्स, वर्त्स
Term	संज्ञा
Tense	दृढ़ स्वर
The Same	समान
Theory	लक्षण
Theory of Onomatopœia	अनुकरणमूलकतावाद

Thought	विचार
Throat	कंठ, गला
Tip of the tongue	जिह्वानीक
Tone	स्वर, आवाज
Tongue	करण, जिह्वा
Tradition	समय
Traditional Script	परंपरा लिपि
Transitional period	परिवर्तन-काल
Transition sound	परिवर्तन-ध्वनि
Transliteration	प्रत्यक्षरीकरण
Trilled	जिह्वोत्कंपी
Tri-syllabic	त्र्यक्षर
Tenues	अघोष (विशेष प्रसंग में)
Umlaut, mutation, infection	अभिश्रुति
Unaspirated	अल्पप्राण, अप्राण
Underived	नियोग
Unit	चरमावयव, अवयुति
Unlike	विरूप
Unrounded	अवृत्ताकार
Unvoiced	अघोष
Uvula	काक, घटी, कौआ
Uvular	कंठ्य
Velar	कंठ्य
Velum	कंठ, कंठ-स्थान, कोमल तालु
Vibration (with)	सघोष, घोषवत्, घोष
Vibration	कंपन, घोष
View	मति
Visarga	विसर्जनीय
Vocal chords	स्वर-तंत्री, ध्वनि-तंत्री
Voice	नाद
Voiced	नाद, घोष
Voiceless aspirate sound	विसर्ग
Vowel	स्वर, अक्षर

Vowel-gradation	अक्षरावस्थान (देखो—Ablaut), अपश्रुति, अक्षरश्रेणीकरण
Vowel-harmony	स्वरानुरूपता, स्वर-संगति
Vowel-part	स्वरभक्ति
Vowel-position	अक्षरावस्थिति, स्वरावस्थिति
Vowel-triangle	स्वर-त्रिकोण
Vowel-variation	स्वर-परिवर्तन; स्वर-भेद
Vulgar Latin	प्राकृत लैटिन
Weak	निर्बल
Whispered	जपित, उपांशु ध्वनि
Wind-pipe	श्वास-प्रणाली, श्वास-मार्ग
Wish	इच्छा
With breath as their outer effort	श्वासानुप्रदान
With external flexion	बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान
With Vibration	घोष
Without Vibration	अघोष
Zero grade	शून्य श्रेणी

परिशिष्ट—६

सहायक ग्रंथों की नामावली

Aitareya Brāhmaṇa.
American Journal of Philology.
Armfield, G. N.—General Phonetics.
Bailey, G.—Punjabi Phonetic Reader.
Beames—Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages of India I.
Belvelkar, S. K.—Systems of Grammar.
Bhandarkar, R.G.,—Wilson Philological Lectures.
Bhattoji Dikshita—सिद्धान्तकौमुदी
Bloomfield —Language (revised edition, 1934)
Bopp, Franz—Comparative Grammar of Sanskrit, Greek etc.
,, —Systems of the conjugation in Sanskrit etc.
Bradke, Von—Weber methode ergebnisse derareshem.
Breal—Essai de Semantique.
Brugmann, K—A Comparative Grammar of the Indo-Germanic Languages (1888).
Elements of the Comparative Grammar of the Germanic Languages.
Caldwell—Comparative Grammar of the Dravidian Languages.
Chakravarti, P. C.—Linguistic speculations of Indian Grammarians.
—Philosophy of Grammar.
Chanda —प्राकृतलक्षण
Chatterji, S. K.—Origin and development of the Bengali Language. (1926).

—A Bengali Phonetic Reader.
—बँगला भाषातत्त्वेर भूमिका (Cal. Uni.)
—Linguistic Notes (in the Reports of the Sixth All-India Oriental Conference, 1930)

Croce, B.—Æsthetics.

Delbrück—Comparative Syntax.

Dhirendra Verma—हिंदी भाषा का इतिहास

Divatia, N.B.—Gujrati Language and Literature.

Dumville, B.—Science of speech.

Dunichand—पंजाबी भाषा-विज्ञान

Edmonds, J. M.—Comparative Philology.
—Introduction to Comparative Philology

Encyclopedia Britanica.

Gardiner, A. H.—Speech and Language.

Giles—A short manual of comparative philology.

Gray, L. H.—Indo-Iranian Phonology.

Grierson, G.A.—Modern Indo-Aryan Vernaculars. (I. A. 1931)
—On Phonology of the modern Indo-Aryan Vernaculars (Z.D. M.G. 1895-96)
—Linguistic Survey of India.

Bulletin of the School of Oriental Studies, London Vol. I, Part III, 1920.

Guleri, Chandradhar—पुरानी हिंदी (N. P. Pattrika Vol. II)

Gune P. D.—Introduction to Bhavisayatta kaha.

Guru Prasad—संध्यक्षरों का अपूर्ण उच्चारण (N. P. Pattrika Vol. XIII)

Jackson, A—Avesta Grammar.

Jagdish—शब्दशक्तिप्रकाशिका

Jayachand Vidyalankar—भारतभूमि और उसके निवासी

Jehangirdar, R. V.—Comparative Philology of Indo-Aryan languages.

Jesperson—Essentials of Grammar.
—Language, Its Nature, Development and origin (1923)
Jones, D.—English Pronouncing Dictionary.
—Pronunciation of English.
—Pronunciation of Russian.
—Phonetic Readers.
—Out-lines of Eng. Phonetics.
Kamta Prasad Gura—हिंदी-व्याकरण
Kachchayan—पालीव्याकरण
Keshava Prasad Misra—उच्चारण (N. P. Pattrika Vol. X)
Kondadeva—वैयाकरणभूषण
L. Saroop—Introduction to Nirukta.
Macdonell, A. A.—Vedic Grammar.
Mammat—काव्यप्रकाश
Mangaldeva Shastri—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान
—Rik Prātiśakhya (Indian Press)
Maxmuller, F.—Science of Language
—Lectures on the science of language.
Molesworth—Marathi English Dictionary.
Moulton, J. H.—Science of Language.
Pott—Etymological Investigations.
Padma Narayan Acharya,—वैदिक स्वर का एक परिचय (N. P. Pattrika Vol. XIV)
Patanjali—महाभाष्य
Panini—अष्टाध्यायी
Paul, H.—Principles of the History of Language. (as adapted by Strong 1888)
Qadri—Hindustani Phonetics.
Ray, B. K.—Old English Morphology (Dacca University Bulletin 16 1931).

Sanyal, Nalini Mohan—भाषा-विज्ञान
Schleicher—Compendium of the Comparative Grammar of Indo-Germanic languages.

Schmidt, P. W.—Die Glieerung der Australischen sprachen.

Siddheshwar Verma—Nasalization in Hindi Literary works.
—Critical studies in the phonetic observations of Ancient Indian Grammarians.

Sonnenchein—Greek Grammar.
Sandys—History of Classical Scholarship.
Spencer—Kanarese Grammar.
Strong, Longman, and Wheeler—Introduction to the Study of the History of Language, 1891.

Sweet—New English Grammar.
—History of Language (Dent's Primer).

Syamsundar Das—हिंदी भाषा और साहित्य
Taitariya Upanishada.
Taraporewala, I. J. S.—Elements of the Science of Language.
—A Sanskrit Version of Yasna IX

Tucker, F. G.—Introduction to Natural History of Language.

Turner—The Indo-Germanic accent in Marathi (J.R. A.P. 1916)

Turner (R. L.)—Gujarati Phonology J. R. A. S., 1921.

Uhlenbeck—Manual of Sanskrit Phonetics.
Vararuchi—प्राकृतप्रकाश
Vendreys—Language (Eng. Translation).

Vidhushekhar Shastri—संस्कृत का वैज्ञानिक अनुशीलन (Dvivedi Abhinandan Grantha N. P. Sabha.)
Vishwanath—साहित्य-दर्पण
Vishwa Bandhu—Introduction to Atharva Prātiśakhya.
Ward—Phonetics of English.
Werner, A.—The language families of Africa.
Whitney, W. D.—Life and growth of languages
—Atharva Prātiśakhya.
Woolner, A.—Introduction to Prakrit. (Punjab University)

अनुक्रमणिका

श